M.COM-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संगठन एवं प्रबन्ध

M.COM- 01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संगठन एवं प्रबन्ध

(ORGANISATION AND MANAGEMENT)

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच

कुलपति

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक / सदस्य

संयोजक

डॉ. एम. एल. जैन 'मणि'

(पूर्व उपप्राचार्य, विश्वविद्यालय वाणिज्य महाविद्यालय, जयपुर)

परामर्शदाता - वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

- **प्रो. (डॉ.) गिरधर सोरल**
  लेखा एवं सांख्यिकी विभाग
  एम. एल. सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर
- **प्रो. (डॉ.) एन. डी. माथुर**
  ई.ए.एफ.एम. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो. (डॉ.) गोविन्द पारीक**
  उप प्राचार्य, वाणिज्य महाविद्यालय
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो. (डॉ.) पी. के. शर्मा**
  प्रोफेसर, प्रबन्ध अध्ययन विभाग
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- **डॉ. राजेश कोठारी**
  निदेशक, पोद्यार इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **डॉ. आर. एस. अग्रवाल**
  वरिष्ठ व्याख्याता, ए.बी.एस.टी.
  राजकीय एस.डी. कॉलेज, ब्यावर

संपादन एवं पाठ-लेखन

संपादक

प्रो. (डॉ.) नवीन माथुर

प्रशासनिक सचिव, कुलपति

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पाठ लेखक

- **साक्षी अरोड़ा** (इकाई संख्या 1,2,3,4)
  व्याख्याता,
  एस.एस.जैन सुबोध पी.जी. महाविद्यालय
  जयपुर
- **डॉ. अनुकृति शर्मा** (इकाई संख्या 5,6,7,8,9)
  सहायक आचार्य, बिस एण्ड ब्राइट
  तकनीकी शिक्षा महाविद्यालय
  जयपुर
- **डॉ. कपिल देव** (इकाई संख्या 10,11,12,13)
  विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर व्यावसायिक प्रशासन विभाग,
  राजकीय जानकी बजाज कन्या महाविद्यालय
  कोटा
- **डॉ. राजेश व्यास** (इकाई संख्या 14)
  विजिटिंग प्रोफेसर एवं सूचना जनसम्पर्क अधिकारी,
  राजस्थान सरकार, जयपुर
- **डॉ. ज्योति गुप्ता** (इकाई संख्या 15,19)
  व्याख्याता,
  वैदिक कन्या महाविद्यालय
  राजापार्क, जयपुर
- **डॉ. भवानी शंकर शर्मा** (इकाई संख्या 16,17)
  सहायक आचार्य, व्यावसायिक प्रशासन,
  विश्वविद्यालय वाणिज्य महाविद्यालय
  जयपुर
- **प्रो. (डॉ.) राजीव जैन** (इकाई संख्या 18,20)
  निदेशक, प्रबन्ध अध्ययन संकाय
  ज.ना. विद्यापीठ विश्वविद्यालय
  उदयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. (डॉ.) एम. के. घड़ोलिया
निदेशक
संकाय विभाग

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी
पाठ्य सामाग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - जुलाई 2010 ISBN - 13/978-81-8496-018-1

सर्वाधिकार सुरक्षित : इस सामग्री के किसी भी अंश को वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

संगठन एवं प्रबन्ध
(ORGANISATION AND MANAGEMENT)

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	संगठन का परिचय	7–17
इकाई - 2	संगठन की विचारधारा	18–34
इकाई - 3	संगठन संरचना	35–49
इकाई - 4	संगठन के प्रकार एवं औपचारिक व अनौपचारिक संगठन	50–73
इकाई - 5	संगठनात्मक व्यवहार	74–90
इकाई - 6	व्यक्तिगत व्यवहार और सीखना	91–107
इकाई - 7	अवबोध	108–120
इकाई - 8	मनोवृत्ति	121–129
इकाई - 9	व्यक्तिगत	130–142
इकाई - 10	प्रबन्धन प्रणालियाँ एवं प्रक्रिया	143–158
इकाई - 11	निर्णयन	159–185
इकाई - 12	नियोजन	186–207
इकाई - 13	उदेश्यानुसार प्रबन्धन	208–223
इकाई - 14	सम्प्रेषण प्रक्रिया	224–240
इकाई - 15	संघर्ष का प्रबन्ध	241–255
इकाई - 16	नेतृत्व	256–268
इकाई - 17	अभिप्रेरणा	269–280
इकाई - 18	संस्कृति व प्रबन्ध	281–290
इकाई - 19	संगठनात्मक परिवर्तन / परिवर्तन-प्रबन्ध	291–309
इकाई - 20	संगठन विकास	310–323

इकाई-1: संगठन का परिचय (Introduction of Organization)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 इतिहास एवं विकास
1.3 अर्थ एवं परिभाषा
1.4 महत्व
1.5 संगठन के उद्देश्य
1.6 क्षेत्र एवं प्रकृति
1.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध
1.8 सिद्धान्त
1.9 कार्य
1.10 सारांश
1.11 प्रश्न
1.12 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य :

इस इकाई को अध्ययन करने के बाद आप :

– संगठन के इतिहास एवं विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
– संगठन का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।
– संगठन के महत्व, क्षेत्र एवं प्रकृति को समझ सकेंगे।
– संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों एवं कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना :

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यशील होते हैं तो संगठन की आवश्यकता पड़ती है। उद्देश्य के अल्पकालीन होने से संगठन की आवश्यकता में कमी नहीं आती। यदि कुछ व्यक्तियों को मिलकर भारी वजन उठाना हो तो इस क्षणिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन की आवश्यकता होती है। किसी भी व्यावसायिक उपक्रम के लिए व्यवसाय प्रारंभ करने के पूर्व से उसको संचालित करने के लिए संगठन का निर्माण कर लिया जाना चाहिए। बगैर संगठन के किसी भी उद्देश्य की प्रभावपूर्ण ढंग से पूर्ति संभव नहीं है। एक अच्छा संगठन किसी निष्क्रिय उपक्रम को भी जीवन प्रदान कर सकता है। एक कमजोर संगठन अच्छे उत्पाद को मिट्टी में मिला सकता है जबकि एक अच्छा संगठन जिसके पास कमजोर उत्पाद है, अपने से अच्छे उत्पाद को बाजार से निकाल सकता है। संगठन सम्पूर्ण प्रबन्ध के संचालन का केन्द्र है जिसके द्वारा मानवीय प्रयासों को समन्वित करके उन्हें

सहक्रियाशील बनाया जाता है। संगठन कार्यों, साधनों व सम्बन्धों की एक औपचारिक अवस्था है जिसके माध्यम से प्रबन्ध अपना कार्य सम्पन्न करता है। यह प्रबन्ध का तंत्र एवं शरीर रचना है। संगठित प्रयासों के द्वारा ही उपक्रम की योजनाओं एवं आवश्यकताओं को साकार किया जा सकता है। एक सुदृढ़ संगठन व्यवसाय की प्रत्येक समस्या का उत्तर है।

1.2 इतिहास एवं विकास :

व्यवसाय में संगठन के महत्व को एण्ड्यू कानिगो के 1901 में अपनी विशाल सम्पत्ति को बेचते समय कहे गये कथन से यह स्पष्ट होता है कि 'हमारी समस्त मुद्रा, महान् कार्य, खाने तथा कोयले की भट्टियाँ यदि सब कुछ ले जाओ, किन्तु हमारा संगठन हमारे पास छोड़ दो। कुछ ही वर्षों में ही हम स्वयं को पुन: स्थापित कर लेंगे। एक व्यवसायिक उपक्रम को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुशल संगठन का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि संगठन व्यक्तियों के कार्य स्थल पर आपसी सम्बन्धों, भूमिकाओं व पद स्थितियों का ढांचा है, जिसके अन्तर्गत सभी व्यक्ति एक एकीकृत इकाई के रूप में संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करते हैं।

1.3 अर्थ एवं परिभाषा :

मनुष्य के लक्ष्यों की प्राप्ति का आधार संगठन ही है। संगठन कार्यो, साधनों एवं संबंधों की एक औपचारिक अवस्था है जिसके द्वारा प्रबन्ध अपना कार्य सम्पन्न करता है। जब दो या अधिक व्यक्ति मिलकर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यशील हो तो उन्हें संगठन की आवश्यकता होती है। उद्देश्य चाहे अल्पकालीन हो या दीर्घकालीन, संगठन की आवश्यकता में कमी नहीं आती। संगठन के विभिन्न स्तरों पर नियुक्त अधिकारियों के मध्य सह-सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है। एक व्यावसायिक उपक्रम को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुशल संगठन का निर्माण करना चाहिए क्योंकि एक कमजोर संगठन अच्छे उत्पाद को मिट्टी में मिला सकता है।

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं तो उनके बीच स्थापित संबंधों एवं अन्तक्रियाओं की संरचना को 'संगठन' कहते 'हैं।

परिभाषाएँ -

“संगठन मूलत: व्यक्तियों का एक समूह है जो एक नेता के निर्देशन में सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं।” -- आर.सी. डेविस

“एक निश्चित व्यक्तियों के समूह द्वारा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जाने वाले कार्यो को ही संगठन कहते हैं।”-- मेकफारलैण्ड

“संगठन सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया एक समुदाय है।”-- प्ले तथा रैले

“संगठन आपसी संबंधों का ऐसा ढांचा है जिसके द्वारा उपक्रम को एक सूत्र में बांधा जाता है तथा वह ढांचा है जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत प्रयासों का समन्वय किया जाता है।”

-- कूण्टज तथा ओडोनेल

"संगठन मानवीय एवं भौतिक साधनों तथा कार्य के बीच संबंधों का केन्द्र है जो एक तंत्र के अर्न्तजाल या ढांचे के रूप में बनाया जाता है।" -- हॉज तथा जानसन

"किसी कार्य को करने के लिए कौन-कौन सी क्रियाएँ की जायें का निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियों के बीच वितरित करने की व्यवस्था करना ही संगठन कहलाता है।"

-- उर्विक

"संगठन एक कार्य-विधि है जिसके द्वारा आवश्यक विभागों में व्यक्तियों या समूह द्वारा किये जाने वाले कार्य को इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि उनके प्रयत्नों को श्रृंखलाबद्ध करके कुशल, व्यवस्थित, सकारात्मक एवं समन्वित बनाया जा सके।"-- ओलिवर शेल्डन

"संगठन वह प्रबन्ध प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विभागों तथा कर्मचारियों के बीच श्रम-विभाजन किया जाता है, उसके पश्चात् इन इकाईयों एवं कार्यो को एक एकीकृत तंत्र के निर्माण के लिए सम्बन्द्ध किया जाता है।"-- ग्लूक

"किसी सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण संयोजन ही संगठन कहलाता है।"-- प्रो. हैने

"संगठन से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा संस्था के नियत लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नियुक्त व्यक्तियों में कार्य का आवंटन किया जाता है।" --सी.एच. नॉर्थकाट

"संगठन प्रबन्ध की वह संरचना है जो अधिक कुशलतापूर्वक कार्य निष्पादन हेतु कुल उत्तरदायित्व को उचित भागों में विभक्त करता है।"-- ब्रेच

"संगठन में सभी सहभागियों का समस्त व्यवहार सम्मिलित होता है।" -- क्रिस आर्गीरिस

"'संगठन अंशत: संरचनात्मक संबंधों का प्रश्न है तथा अंशत: मानवीय संबंधों का मामला है।"

-- निऑल एवं ब्रान्टॅन

"'किसी उपक्रम की क्रियाओं को परिभाषित एवं समूहीकरण करने तथा उनके मध्य अधिकार संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया संगठन है।" -- थियो हैमन

"संगठन वस्तुत: विभिन्न क्रियाओं तथा घटकों के बीच का सम्बन्ध है।"

-- विलियम आर. स्प्रीगल

1.4 महत्व :

"संगठन प्रबन्ध अध्ययन का एक उत्तेजक एवं चुनौतीपूर्ण क्षेत्र है।" व्यवसाय में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का आधार सुदृढ़ संगठन एवं समन्वय व्यवस्था ही है। आज मनुष्य की सभी क्रियाएँ संगठन के अन्दर ही होती है। संगठन के बिना मानव जीवन की कोई भी क्रिया व्यवस्थित रूप से नहीं चल सकती है। "हम संगठन में ही जन्म लेते हैं, शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा हममें से अधिकांश लोग संगठन में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। संगठन के बिना प्रबन्ध वैसे ही प्रभावहीन है जैसे बिना आत्मा के शरीर।"

"संगठन इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्यक्ति अपना अत्यधिक समय उनमें व्यतीत करते हैं। मानव शक्ति अर्थात् वयस्क जनसंख्या अपने जीवन का एक-तिहाई समय संगठनों में व्यतीत करती है।"

'**United States Steel Corporation**' को बेचते समय उद्योगपति एण्ड्रयू कार्निगी ने कहा था कि हमारे पास जो कुछ भी है उसको ले जाओ लेकिन हमारे संगठन को हमारे पास रहने दो क्योंकि इस संगठन से मैं अपने आपको कुछ ही वर्षों में स्थापित कर लूंगा।

(1) **समन्वय में सुविधा -** कृत्यों तथा विभागों का समाकलन करते समय समन्वय का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रबन्ध का यह मुख्य कार्य है कि वह कर्मचारी के अलग-अलग कार्यों, प्रयासों, हितों व दृष्टिकोण में एक उचित समन्वय स्थापित करे। संगठन का निर्माण करते समय उपक्रम की क्रियाओं का वर्गीकरण एवं -समूहीकरण किया जाता है। उपक्रम के सभी विभाग सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप समन्वय का कार्य सुविधाजनक हो जाता है।

(2) **अधिकार प्रत्यायोजन में सुविधा -** एक अच्छे संगठन में प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्यक्षेत्र, उद्देश्यों एवं अधिकारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह अपने अधीनस्थों को आवश्यक कार्य एवं अधिकार सौंप सकता है। कुशल संगठन अधिकारों के प्रत्यायोजन को सुगम बनाता है। एक कुशल संगठन में एक अधिकारी को यह ज्ञात होता है कि उनके अधीनस्थ कौन-कौन व्यक्ति हैं और किसे क्या-क्या कार्य करना है। सुदृढ़ संगठन यथार्थ एवं प्रभावपूर्ण प्रत्यायोजन को सुविधाजनक बनाता है।

(3) **भ्रष्टाचार की समाप्ति -** संगठन के विभिन्न स्तरों पर निरन्तर नियंत्रण का कार्य किया जाता है। अच्छा संगठन अपने कर्मचारियों में वैयक्तिक गुणों. परिश्रम, दायित्व, भावना आदि को प्रोत्साहित करके भ्रष्टाचार एवं निष्क्रियता को समाप्त करता है।

(4) **संचार में सुविधा -** संगठन के द्वारा संस्था में अधिकारी, अधीनस्थ संबंध स्थापित हो जाते हैं एवं औपचारिक संचार के मार्गों का निर्धारण हो जाता है। जिसके कारण ऊपर से नीचे की ओर आदेशों के प्रवाह में और नीचे से ऊपर की और ' के विचारों, सुझावों एवं समस्याओं के प्रवाह में सुविधा होती है।

(5) **अच्छे मानवीय संबंधों को बढ़ावा -** प्रभावी संगठन संरचना कार्मिकों में समूह भावना का विकास करती है, एक साथ मिलकर कार्य करने की प्रेरणा देती है तथा मानव के साथ मानवता का व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती है। अधिकार-दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या, कुशल संचार, प्रत्यायोजन, रूचि के अनुसार कार्य-वितरण, आदेश-निर्देशों की एकता आदि घटकों से श्रेष्ठ मानवीय संबंधों का विकास होता है।

(6) **मनोबल का विकास -** स्वस्थ संगठन में कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि होती है। कर्मचारियों को उनकी योग्यता के अनुरूप ही कार्य दिया जाता है जिससे कर्मचारियों को अपने दायित्वों एवं अधिकारों का स्पष्ट ज्ञान होता है। अत: कर्मचारियों को अच्छा कार्य करने पर प्रशंसा एवं खराब कार्य पर चेतावनी मिलती है जिससे कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि होती है।

(7) **विशिष्टीकरण को बढ़ावा -** संगठन संरचना का निर्माण श्रम विभाजन के आधार पर किया जाता है। संगठन संरचना का मुख्य आधार श्रम विभाजन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष कार्य ही करता है। विशिष्टीकरण से कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ती है तथा अधिक उत्पादन का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की कुशलता बढ़ती है।

कुशलता बढ़ने से उत्पादन अधिक होता है तथा प्रति इकाई लागत घटती है जिससे लोगों को कम आय में अधिक वस्तुएँ प्राप्त होती है एवं जीवन स्तर में वृद्धि होती है।

(8) **उपक्रम के कार्यो को व्यवस्थित करना -** संगठन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निश्चित कार्य, निश्चित स्थान तथा निश्चित साधनों की व्यवस्था करता है, जिससे उपक्रम के कार्य व्यवस्थित रूप से चलते रहते हैं। संगठन व्यवस्था को जन्म देता है। संगठन का अभाव ही अव्यवस्था को जन्म देता है।

(9) **विकास को बढ़ावा -** संगठन विकास का मूल मंत्र है। उपक्रम का विकास संगठन की कुशलता पर निर्भर करता है। बड़े-बड़े उपक्रमों के विकास का इतिहास अच्छे एवं कुशल संगठन की ही कहानी है। कोई भी उपक्रम संगठन के अभाव में विकास की आशा नहीं कर सकता है।

(10) **रचनात्मक विचारधारा को प्रोत्साहन -** संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारी रचनात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। कर्मचारियों की इच्छा के अनुरूप कार्य मिलने पर वे उसे सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं जिससे कर्मचारियों को संतोष प्राप्त होता है। अत: उनकी सोचने समझने की शक्ति बढ़ती है फलस्वरूप रचनात्मक विचारों को प्रोत्साहन मिलता है।

(11) **व्यवस्था का निर्माण -** एक संस्था में छोटी सी गलती समस्त पूंजी विनियोजन को व्यर्थ बना सकती है। अत: संगठन के द्वारा ही मतभेदों एवं अनियमितताओं को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है।

(12) **प्रबन्धकीय कार्य क्षमता में वृद्धि -** कर्मचारियों में मधुर संबंध स्थापित करना, कार्य की आवश्यकता के अनुरूप कर्मचारियों की भर्ती, कार्यों का वैज्ञानिक आधार पर बंटवारा आदि के द्वारा प्रबन्धकीय कार्य-क्षमता में वृद्धि की जा सकती है।

(13) **साधनों का अनुकूलतम उपयोग -** कर्मचारियों की इच्छा के अनुरूप कार्य मिलने पर उसे वे भली-भांति सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं तथा उचित समन्वय के द्वारा कार्यो के दोहराव व अपव्यय को समाप्त किया जा सकता है जिसके कारण साधनों का अनुकूलतम उपयोग होता है।

(14) **व्यक्तिगत योग्यताओं के मापन का आधार -** जब कर्मचारियों को कार्यभार सौंप दिया जाता है तो कर्मचारियों को अपने दायित्व का बोध हो जाता है अत: यह आसानी से पता किया जा सकता है कि कर्मचारी ने सौंपे गये कार्य को किस सीमा तक पूरा किया है जिसके फलस्वरूप कर्मचारी की व्यक्तिगत योग्यता एवं क्षमता का सही मापन हो जाता है।

(15) **सामूहिक प्रयासों की प्रभावशीलता -** संगठित प्रयासों के माध्यम से ही उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। इसके माध्यम से ही व्यक्तिगत प्रयासों का एकीकरण किया जाता है।

(16) **नियंत्रण में सुविधा -** कार्यों, अधिकारों एवं दायित्वों के निश्चित होने के कारण संगठन के विभिन्न स्तरों पर अनावश्यक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है तथा उच्च प्रबन्धकों को केवल महत्त्वपूर्ण नियंत्रण केन्द्रों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

(17) **मानवीय प्रयासों का समुचित उपयोग -** विशिष्टीकरण के माध्यम से जब कार्मिकों को अपनी योग्यता, अनुभव एवं रुचि के अनुसार कार्य मिल जाता है तो वे सौंपे गये कृत्य का अपनी योग्यता, कुशलता एवं अनुभव का पूरा उपयोग करके ठीक ढंग से निष्पादन करते हैं। इस

प्रकार सुदृढ़ संगठन से "सही व्यक्ति को सही कार्य" प्रदान करने से उनके प्रयास का समुचित उपयोग सम्भव होता है और समय, श्रम एवं धन का दुरुपयोग नहीं होता।

(18) **तकनीकी सुधारों का समुचित उपयोग -** इस वैज्ञानिक युग में शोध एवं अनुसंधानों के कारण औद्योगिक जगत में आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों, सुधारों एवं विकसित नवीन तकनीकों की प्रयुक्ति न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए आवश्यक हो जाती है। प्रभावी संगठन द्वारा ही इन नवीन सुधारों का लाभ उठाया जा सकता है।

1.5 संगठन के उद्देश्य :

संगठन प्रणाली विभिन्न संघटकों से निर्मित होता है। इसकी संरचना में विभिन्न निवेशों का योगदान होता है, जिन्हें संगठन के उद्देश्य कहा जाता है।

(1) **श्रम विभाजन -** व्यक्तियों एवं विभागों के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं का उचित निर्धारण, स्पष्टीकरण एवं पृथक्करण किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् कार्यों का वितरण व्यक्ति की रूचि एवं योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिए। इससे कार्य निष्पादन में दोहराव समाप्त होता है तथा प्रयास प्रभावपूर्ण बन जाते हैं।

(2) **मानव समूह -** मानव समूह संगठन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। क्रियाओं के समूहीकरण व सत्ता के वितरण में व्यक्तियों की सीमाओं व क्षमताओं का पूर्ण विचार किया जाना चाहिए।

(3) **भौतिक साधन -** संगठन एक सीमा तक भौतिक संसाधनों - पूँजी, मशीनें, यंत्र, सामग्री, भूमि आदि का संकलन एवं संयोजन भी है। व्यक्तियों को उनके कार्य निष्पादन में सहायता पहुँचाते हैं।

(4) **वातावरण -** नियोजन की भाँति प्रत्येक संगठन संरचना का एक आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं नैतिक वातावरण होता है जो कार्य निष्पादन में सहायक होता है।

(5) **अधिकार सत्ता -** अधिकार सत्ता अन्य व्यक्तियों को निर्देश देने व उनका पालन करवाने हेतु बाध्य करवाने की शक्ति होती है। कर्मचारियों को प्राप्त होने वाली सत्ता संगठन में उनकी स्थिति, वैधानिक नियमों, अनुभव, ज्ञान एवं प्रथाओं पर निर्भर करती है।

(6) **संचार व्यवस्था -** संगठन संचार व्यवस्था को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने का कार्य करता है क्योंकि यह संगठन में रक्त प्रवाह के समान है जो इसके समस्त अंगों को गति प्रदान करता है।

(7) **संबंधों का ढांचा -** कार्य के वितरण से कर्मचारियों के मध्य विभिन्न भूमिकाओं व स्थितियों का निर्माण होता है जो उन्हें परस्पर सम्बन्धित करती है। संगठन कार्य सम्बन्धों का जाल एवं ढांचा है।

1.6 क्षेत्र एवं प्रकृति :

(1) यह एक गतिशील क्रियात्मक प्रक्रिया है।

(2) यह सहकारी प्रयासों की एक व्यवस्था है।

(3) यह परस्परवादी चलों का समूह है।

(4) यह प्रबन्ध का कार्य, साधन एवं शरीर रचना है।

(5) इसमें सदस्यों के अधिकारों व कार्य क्षेत्र की सीमा स्पष्ट होती है।

(6) संगठन यांत्रिक नहीं है, न ही एक संकलन है। यह एक मानवीय एवं जैविक व्यवस्था भी है।

(7) संगठन व्यक्तियों का समूह है।

(8) इसमें सदस्यों के कार्यकारी सम्बन्ध निश्चित होते हैं।

(9) यह एक प्रबन्धकीय क्रिया है जो चक्रीय है, न कि एक दैनिक घटित होने वाली क्रिया।

(10) यह समूह एक कार्यकारी नेतृत्व के अन्तर्गत कार्य करता है।

(11) आधुनिक संगठन सामाजिक सम्बन्धों की प्रणाली है।

(12) इसमें सदस्यों की पद-स्थितियाँ, भूमिकाएँ एवं औपचारिक सत्ता भी निश्चित होती है।

1.7 अन्य विषयों के संबंध में (संगठन की प्रक्रिया) :

किसी भी उपक्रम के संगठन का निर्माण करने के लिए जो आवश्यक कदम उठाये जाते हैं, वे निम्न प्रकार से हैं -

(1) **उद्देश्यों का निर्धारण करना -** संगठन प्रक्रिया का प्रथम कदम संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण करना है। संस्था के उद्देश्यों के निर्धारण के अभाव में संगठन का कोई महत्व नहीं रहता। वास्तव में संगठन का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं होता, यह तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है।

(2) **कार्यो को परिभाषित करना -** कार्यों को परिभाषित करते समय संस्था द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्यों को परिभाषित किया जाता है। कार्यों को परिभाषित करते समय संस्था के उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। प्रत्येक कार्य को उपकार्यों में विभाजित किया जाता है जिससे कि उन्हें कर्मचारियों में बाँटा जा सके और उनका दायित्व निर्धारित किया जा सके।

(3) **कर्मचारियों के मध्य कार्य का विभाजन -** क्रियाओं को श्रेणीबद्ध करने के उपरान्त अगला कदम है, कार्यों का कर्मचारियों के मध्य विभाजन करना। कार्य विभाजन में कर्मचारियों की रूचि, शारीरिक क्षमता, शैक्षणिक योग्यता, कार्य अनुभव आदि को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

(4) **समन्वय -** संगठन संरचना की अन्तिम प्रक्रिया है। विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करना, जिससे कि उपक्रम के समस्त विभाग एकजुट होकर संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील हो सकें। विभिन्न विभागों के बीच सम्बन्धों को परिभाषित करना ही संगठन प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी होती है।

(5) **क्रियाओं को श्रेणीबद्ध करना -** समान प्रकृति अथवा सम्बन्धित क्रियाओं को श्रेणीबद्ध किया जाता है। क्रियाओं के श्रेणीबद्ध करने से विभागों तथा उपविभागों का निर्माण होता है।

(6) व्युत्पन्न उद्देश्यों, नीतियों तथा योजनाओं का निर्माण

(7) क्रियाओं का उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक साधनों की दृष्टि से श्रेणीबद्ध करना जिससे कि साधनों, का अधिकतम उपयोग हो सके।

(8) क्रियाओं की विभिन्न श्रेणियों का परस्पर गठबन्धन। इस प्रकार का गठबन्धन क्षितिजीत तथा ऊर्ध्वधिर हो सकता है।

(9) **अधिकारों का प्रत्यायोजन -** कर्मचारियों के मध्य कार्य वितरण द्वारा उन्हें कार्य सम्पादन व उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता है। उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए उत्तरदायित्व के अनुरूप अधिकार भी कर्मचारियों को सौंपे जाने चाहिए।

1.8 सिद्धान्त :

संगठन के सिद्धान्त निम्न हैं :

(1) **उद्देश्य का सिद्धान्त -** उद्देश्य के बिना संगठन का निर्माण नहीं किया जा सकता है, अत: संगठन के प्रत्येक भाग का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। संगठन में कार्यरत सभी व्यक्तियों को संगठन के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए। उद्देश्य निश्चित न होने पर मानव एवं मानव सामग्री का कुशल एवं प्रभावी उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(2) **समन्वय का सिद्धान्त -** समन्वय संगठन के समस्त सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करता है। संगठन का उद्देश्य ही उपक्रम के विभिन्न विभागों पर किये जाने वाले कार्य में समन्वय स्थापित करता है।

(3) **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त -** व्यक्ति की इच्छा एवं कार्य क्षमता के अनुसार ही कार्य सौंपा जाना चाहिए जिसको करने में वह सक्षम है। तो वह उस कार्य में दक्षता प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त के पालन से विभागों एवं कर्मचारियों की कार्य क्षमता में भी वृद्धि होती है।

(4) **अधिकार का सिद्धान्त -** सर्वोच्च सत्ता से अधिकारों के हस्तान्तरण के लिए पद श्रेणी क्रम का निश्चित निर्धारण होना चाहिए। प्रत्येक कार्य के संबंध में अधिकारों का उचित निर्धारण किया जाना चाहिए।

(5) **उत्तरदायित्व का सिद्धान्त -** अधिकार एवं दायित्व साथ-साथ होने चाहिए। अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा किये गये कार्यों के लिए उच्च अधिकारियों का पूर्ण दायित्व होता है।

(6) **व्याख्या का सिद्धान्त -** प्रत्येक संगठन में हर एक की स्थिति लिखित में स्पष्टत: निर्धारित की जानी चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी के कर्तव्य, दायित्व, अधिकार व संबंधों की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए।

(7) **आदेश की एकता का सिद्धान्त -** संगठन में कार्यरत व्यक्ति एक समय में एक ही अधिकारी की सेवा कर सकता है अत: एक समय में एक ही अधिकारी से आदेश प्राप्त कर सकता है। एक से अधिक अधिकारियों से आदेश प्राप्त होने पर उसकी कार्य रूचि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

(8) **अनुरूपता का सिद्धान्त -** यदि व्यक्ति के दायित्व अधिकारों की तुलना में अधिक है तो वह उन्हें पूरा नहीं कर सकता है तथा व्यक्ति के अधिकार दायित्वों की तुलना में अधिक है तो वह उनका दुरूपयोग करने की कोशिश करेगा। अत: दोनों ही स्थितियाँ संगठन के लिए अच्छी नहीं है।

(9) **नियंत्रण के विस्तार का क्षेत्र -** नियंत्रण के क्षेत्र से आशय एक अधिकारी द्वारा विभिन्न अधीनस्थों की क्रियाओं पर नियंत्रण बनाये रखने से है। कोई भी अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से पांच या छः कर्मचारियों की क्रियाओं पर नियंत्रण कर सकता है।

(10) **संतुलन का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त संगठन की विभिन्न इकाईयों, नियंत्रण के विस्तार एवं आदेशों की श्रृंखला, रेखा व कर्मचारी प्रारूप आदि में उचित संतुलन बनाये रखने पर बल देता है।

(11) **निरन्तरता का सिद्धान्त -** संगठन संरचना में पर्याप्त लोच होनी चाहिए जिससे कि संगठन संरचना में आवश्यकता पड़ने पर इसका पुनर्गठन किया जा सके। संगठन एक प्रक्रिया है जो कि निरन्तर चलती रहती है। इसलिए संगठन आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।

(12) **अधिकार प्रत्यायोजन का सिद्धान्त -** अधिकारों का प्रत्यायोजन संगठन के निम्न स्तर तक किया जाना चाहिए। यदि उस स्तर पर कार्य करने वाला व्यक्ति निर्णय के परिणामों से प्रभावित होता है। उच्च प्रबन्धकों को महत्वपूर्ण निर्णय लेने एवं भारी नियोजन के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

(13) **सरलता का सिद्धान्त -** संगठन संरचना सरल से सरल होनी चाहिए जिससे सेवारत सभी व्यक्ति आसानी से समझ सकें तथा निष्पादन में अधिक लागत न आये व कठिनाइयों को कम किया जा सके।

(14) **लोचशीलता का सिद्धान्त -** संगठन के लोचशील होने से, बिना भारी फेरबदल के ही संस्था में नवीन तकनीकों को लागू करके कार्य कुशलता में वृद्धि की जा सकती है। अतः संगठन संरचना लोचशील होनी चाहिए। यदि संगठन संरचना में भावी आवश्यकताओं के अनुसार समायोजन की व्यवस्था नहीं होगी तो संगठन अप्रभावशील हो जायेगा।

(15) **न्यूनतम सत्ता स्तरों का सिद्धान्त -** ठोस एवं शीघ्र निर्णयन के लिए संगठन संरचना में सत्ता स्तरों को न्यूनतम किया जाना चाहिए। सत्ता स्तरों की निर्देश श्रृंखला लम्बी हो जाती है तो निम्न स्तर पर कार्यरत व्यक्ति की निर्देश प्राप्त होने में विलम्ब होने के साथ-साथ संदेशों की शुद्धता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(16) **अनुरूपता का सिद्धान्त -** समान कार्य करने वाले कर्मचारियों के अधिकारों एवं दायित्वों में भी एकरूपता होनी चाहिए जिसके कारण अधिकारों के टकराव समाप्त हो जायेंगे तथा निष्पादन में कुशलता आ जायेगी।

(17) **पदाधिकारियों से सम्पर्क का सिद्धान्त -** एक उपक्रम में संगठन के विभिन्न स्तरों पर प्रबन्धकों में ऊपर से नीचे की ओर वरिष्ठता तथा अधीनता के क्रम में परस्पर सम्पर्क होना चाहिए।

(18) **निश्चितता का सिद्धान्त -** संगठन के इस सिद्धान्त के अनुसार संस्था में कार्यरत व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया न्यूनतम प्रयासों द्वारा अधिकतम कार्यकुशलता से निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान प्रदान करने वाली होनी चाहिए।

1.9 कार्य :

(1) **समन्वय -** आदर्श संगठन विभिन्न विभागों, कर्मचारियों एवं अधिकारियों की क्रियाओं में प्रभावशाली समन्वय बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। संस्था के उद्देश्यों की

प्राप्ति के लिए एक समूह के प्रयासों की क्रमबद्ध व्याख्या करने, कार्यो में एकरूपता लाने के लिए समन्वय आवश्यक है।

(2) **सरलता -** संगठन संरचना इतनी सरल बनानी जानी चाहिए जिससे कि उसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा आसानी से समझा जा सके। जटिल संरचना संगठन में दबाव उत्पन्न करती है एवं कर्मचारियों को लक्ष्य से विचलित करती है।

(3) **स्पष्टता -** यह संगठन में कार्यरत सभी कर्मचारियों एवं अधिकारियों की स्थिति स्पष्ट करता है अर्थात् उसे अपने कार्यों, अधिकारों, दायित्वों व संबंधों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए जिसके कारण मतभेद, शिथिलता आदि दोष दूर हो जाते है।

(4) **स्थायित्व -** एक आदर्श संगठन वह माना जाता है जो दीर्घकाल तक फर्म के उद्देश्यों को प्राप्त करने की क्षमता रखता है। साथ ही जिसमें विभिन्न उपद्रवों व परिवर्तित दशाओं के साथ समायोजित होने की क्षमता होती है।

(5) **उद्देश्यों के प्रति सजगता -** संगठन का उपक्रम के उद्देश्यों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तथा इनकी प्राप्ति के लिए उसे प्रयत्नशील होना चाहिए। साथ ही संगठन के उद्देश्यों की व्याख्या भी की जानी चाहिए।

(6) **संतुलन -** एक अच्छे संगठन द्वारा प्रत्येक इकाई साधन एवं लक्ष्य सन्तुलित किये जा सकते हैं। इसे 'संगठनात्मक साम्य कहते है।

(7) **प्रयासों की मितव्ययिता -** एक संगठन ढांचे को वे समस्याएँ ही अच्छा बनाती है जो यह उत्पन्न नहीं करता है। एक अच्छे संगठन में प्रबन्धकों का समय एवं प्रयत्न आन्तरिक संघर्षो एवं मतभेदों में व्यय उत्पन्न नहीं होते हैं।

(8) **प्रभावी निर्णयन -** एक सुदृढ़ संगठन में सहभागिता के आधार पर सही समस्याओं पर निर्णय लिये जाते हैं तथा निर्णयन की प्रक्रिया कार्यवाही प्रधान होती है।

(9) **कार्यान्वयन में सुविधा -** एक अच्छा संगठन कार्य निष्पादन में सहायक होता है। सर्वोत्तम संगठन वह है जो सामान्य व्यक्तियों को असामान्य कार्य करने में सहायता करता है।

1.10 सारांश :

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि संगठन एक प्रक्रिया है जिसमें निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपक्रम की क्रियाओं का निर्धारण एवं वर्गीकरणका किया जाता है तथा उन क्रियाओं को करने का दायित्व विभिन्न प्रबन्धकों को सौंपा जाता है तथा प्रबन्धकों को अपने अधीन क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों पर नियंत्रण करने का अधिकार होता है। उपक्रम की सभी क्रियाओं तथा व्यक्तियों के मध्य प्रभावपूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

1.11 प्रश्न :

(1) संगठन की परिभाषा दीजिये तथा संगठन के महत्त्व बताइये।

(2) संगठन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

(3) संगठन का अर्थ समझाते हुए संगठन के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

(4) संगठन का अर्थ समझाते हुए इसके प्रकारों का वर्णन कीजिए।

(5) टिप्पणी कीजिए -

(i) रेखा तथा विशेषज्ञ संगठन

(ii) क्रियात्मक संगठन

1.12 उपयोगी पुस्तकें :

1. डॉ. एम.डी. अग्रवाल (प्रबन्ध शास्त्र)
2. डॉ. आर.एल. नौलखा (प्रबन्ध)

इकाई-2: संगठन की विचारधारा (Theories of Organization)

इकाई की रूपरेखा :

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 इतिहास एवं विकास

2.3 अर्थ एवं परिभाषा

2.4 क्षेत्र एवं प्रकृति

2.5 विचारधाराओं के प्रकार

2.6 अन्तर

2.7 सारांश

2.8 प्रश्न

2.9 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य :

इस इकाई को अध्ययन करने के बाद आप :

– संगठन की विचारधारा के इतिहास एवं विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
– संगठन की विचारधारा का अर्थ एवं परिभाषा समझ सकेंगे।
– संगठन की आधुनिक एवं परम्परावादी विचारधारा के अन्तर को जान सकेंगे।
– संगठन की विचारधारा के क्षेत्र एवं प्रकृति का वर्णन कर सकेंगे।
– संगठन की विचारधारा के विभिन्न प्रकार एवं इसका अन्य विषयों से सम्बन्ध को जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अनादिकाल से ही मानव संगठनों का निर्माण करता रहा है। किन्तु संगठनों के निर्माण का ढंग, उनका विकास क्रम, उनके सिद्धान्त, संगठनों में होने वाले परिवर्तन, संगठन व्यवहार आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न संगठन की विचारधारा से जुड़े हुए हैं। प्रबन्धक संगठन में ऐसे सिद्धान्तों को लागू करते हैं जिससे कर्मचारियों को अधिक सन्तुष्टि प्रदान की जा सके तथा संगठन के संचालन को प्रभावी बनाया जा सके। प्रबन्धक संगठनों का सृजन करते हैं, संगठनों में कार्य करते हैं, संगठनों को दिशा देते हैं तथा समय की आवश्यकता के अनुरूप उनमें परिवर्तन भी करते हैं। प्रबन्धक का उद्देश्य संगठन की कार्य-प्रणाली को प्रभावी बना कर संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। संगठन की विचारधारा का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। प्रबन्ध ज्ञान की वृद्धि तथा समाज में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप संगठन की विचारधाराओं का विकास क्रम आगे बढ़ता रहा है। नयी-नयी समस्याओं के हल खोजे जाते हैं। जाँच पड़ताल,

अवलोकन एवं शोध के सिद्धान्तों में सुधार किये जाते हैं। इस प्रकार विचारधाराओं में निरन्तर परिवर्तन एवं संशोधन होते रहते हैं।

2.2 इतिहास एवं विकास :

संगठन का अस्तित्व मानव समाज में अनादिकाल से रहा है। लेकिन इस विषय में कि संगठनों का निर्माण किस प्रकार से होता है, उनके विकास का क्रम क्या है, उनमें परिवर्तन किस प्रकार आता है तथा संगठन के सदस्य किस प्रकार आचरण करते हैं। उनका व्यवहार किन-किन बातों से प्रभावित होता है आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषय एवं प्रश्न हैं जिन पर सिद्धान्तों का ध्यान गत 40-50 वर्षों में ही आकृष्ट हो पाया है। संगठन की विचारधारा का प्रयोजन इस प्रकार के प्रश्नों का तर्कसंगत एवं मान्य उत्तर खोजना होता है। प्रबन्धक इस प्रकार की कार्य दशाओं का निर्माण तथा उन पर नियंत्रण रखना चाहेगा जिससे उद्देश्यों की अधिकाधिक प्राप्ति हो सके तथा संगठन के प्रत्येक स्तर पर एवं प्रत्येक विभाग में कार्यरत कार्मिक संगठन की गतिविधियों में हिस्सा ले सके। उसे यह जानना भी आवश्यक होता है कि विभिन्न परिवर्ती घटक, उसकी प्रभावशीलता को किस प्रकार प्रभावित करेंगे जैसे उदाहरण के लिए संगठन के परिमाण में वृद्धि होती है तो वह संगठन को प्रभावशीलता को किस प्रकार प्रभावित करती है। उसे महत्त्वपूर्ण परिवर्ती घटकों को पहिचानने की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से प्रबन्धकों को संगठन की विचारधाराओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

2.3 अर्थ एवं परिभाषा :

संगठन की विचारधारा का क्रमिक विकास होता है। विचारधारा का आरम्भ विभिन्न घटकों के मध्य आकस्मिक सम्बन्धों तथा उनके मध्य कारण एवं प्रभाव के स्पष्टीकरण से होता है। आरम्भ में यह स्पष्टीकरण, पूर्वानुमान अथवा भविष्य कथन के रूप में होता है। अनुभव एवं परीक्षण के द्वारा उक्त प्रकार के स्पष्टीकरणों का विवेचन किया जाता है, तर्कसंगतता देखी जाती है तथा सत्यता जाँची जाती है। जैसे-जैसे ज्ञान के भण्डार में अभिवृद्धि होती है तथा सामाजिक परिवर्तनों को महसूस किया जाता है, वैसे-वैसे संगठन की विचारधाराओं का विकास क्रम आगे बढ़ता जाता है। जाँच-पड़ताल एवं शोध के इस क्रम में विचारधाराओं में निरन्तर परिवर्तन एवं संशोधन होता रहता है। उदाहरण के लिए परम्परावादी विचारधाराएँ, विशिष्टीकरण तथा अधिकारों के प्रत्यायोजन जैसे आधार-स्तम्भों पर टिकी हुई थीं। तत्पश्चात् संचार व्यवस्था के महत्व को पहचाना गया, जबकि आधुनिक विचारधारा पद्धति प्रणाली पर आधारित है।

"संगठन विचारधारा से आशय अन्र्तसबंधित निष्कर्षों, परिभाषाओं एवं सिद्धान्तों के एक समूह से है जो किसी लक्ष्य निर्देशित एवं प्रतिरूप क्रिया के अन्तर्गत अर्न्तव्यवहार कर रहे व्यक्तियों, समूहों तथा उप-समूहों के व्यवहार का एक व्यवस्थित दर्शन प्रस्तुत करता है।"

-- हेनरी एल. तोसी

"संगठन विचारधारा, संगठनों की विचारधारा, कार्यप्रणाली एवं निष्पादन तथा उनमें कार्यशील समूहों एवं व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन है।"

2.4 क्षेत्र एवं प्रकृति :

आज मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में संगठन का अधिक योगदान होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों पर ध्यान देना आवश्यक है -

(1) **उपक्रम के कार्यो का व्यवस्थित होना -** आज के बड़े औद्योगिक निगमों के युग में जहाँ हजारों लोग एक साथ कार्य करते हैं, वहाँ उपक्रमों के कार्यों में संगठन के बगैर व्यवस्था नहीं हो सकती है। संगठन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निश्चित कार्य, निश्चित स्थान तथा निश्चित साधनों की व्यवस्था करता है, जिससे उपक्रम के कार्य व्यवस्थित रूप से चलते रहते है।

(2) **उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं में सामंजस्य एवं संतुलन -** संगठन का निर्माण करने से पूर्व संगठन के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। समस्त क्रियाओं को परिभाषित करके उनका वर्गीकरण एवं श्रेणियन किया जाता है। इससे संगठन की विभिन्न क्रियाओं में संतुलन स्थापित किया जाता है तथा सभी क्रियाओं को उपयुक्त महत्व दिया जाता है। संगठन के निर्माण के बिना कार्य प्रारम्भ करने पर कुछ क्रियाओं को भूलने तथा कुछ को अनावश्यक रूप से अधिक महत्व प्रदान करने की संभावना बनी रहती है।

(3) **समन्वय में सुविधा -** संगठन का निर्माण करते समय उपक्रम की क्रियाओं का वर्गीकरण एवं समूहीकरण किया जाता है। वर्गीकरण क्रियाओं के समूहीकरण से जिन विभागों का निर्माण होता है उनके मध्य पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना की जाती है।

(4) **मनोबल का विकास -** कुशल संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को इसकी जानकारी होती है कि उसके क्या दायित्व है? तथा उन दायित्वों को पूरा करने के लिए उसे क्या अधिकार प्राप्त है? दायित्वों एवं अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या के कारण कर्मचारी को संगठन में अपने अस्तित्व का बोध होता है तथा वह सदैव उच्च कुशलता के लिए प्रयत्नशील रहता है।

(5) **भ्रष्टाचार पर रोक -** कुशल संगठन में सभी कर्मचारियों के अधिकारों एवं दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या होती है। संगठन के विभिन्न स्तरों पर निरन्तर नियंत्रण कार्य किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार कार्य एवं पुरस्कार दिया जाता है। कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा रहता है। ऐसी स्थिति में कर्मचारी अपना कार्य ईमानदारी तथा निष्ठा के साथ करते रहते हैं, जिससे भ्रष्टाचार पर रोक लगी रहती है।

उपरोक्त सभी तथ्यों से संगठन के क्षेत्र एवं प्रकृति का पता चलता है। संगठन ही वह तंत्र है जो उपक्रम के सभी कर्मचारियों को निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रदान करता है। संगठन ही वह माध्यम है जिसके द्वारा संस्था के कर्मचारी निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

2.5 विचारधाराओं के प्रकार

संगठन की विचारधारा का विकास पिछले सात-आठ दशकों में ही हुआ है। प्रबन्धकीय ज्ञान के विकास के साथ-साथ इन विचारधाराओं की संरचना, प्रक्रिया, मूल्यों व सिद्धान्तों में भी बदलाव आये हैं किसी भी विचारधारा के उद्गम, विकास तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उस विचारधारा के प्रवर्तक एवं अनुयायी विचारकों के दृष्टिकोण का विशेष महत्व रहा है। प्रत्येक विचारधारा व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं व भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर आधारित रही है। किन्तु वे सभी संगठनों की कार्यप्रणाली को प्रभावी बनाने पर जोर देती है। संगठनों

की प्रकृति, सामाजिक मूल्यों व बदलते हुए वातावरण के आधार पर इन्हें प्रमुख रूप से निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

(1) परम्परावादी विचारधारा

(2) नवीन परम्परावादी विचारधारा

(3) आधुनिक विचारधारा

(4) अन्य विचारधारायें

(1) **संगठन की परम्परावादी विचारधारा -** इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक मैक्स **वेबर एवं हेनरी फेयोल** माने जाते है। परम्परागत विचारधारा संगठन को किसी उपक्रम के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति का एक साधन मानती है। यह विचारधारा संगठन को कार्य निर्धारण, साधनों के एकत्रीकरण तथा अधिकारों व दायित्वों के विभाजन की एक 'प्रक्रिया तथा एक 'संयोजन जो संगठन प्रक्रिया का ही परिणाम होता है, के रूप में स्वीकार करती है। यह विचारधारा संगठन को एक 'औपचारिक व्यवस्था एक मशीन, एक उपकरण मानती है।

परम्परावादी विचारधारा के तत्व - संगठन की परम्परावादी विचारधारा औपचारिक संगठन की संरचना का अध्ययन करती है। इस विचारधारा के मुख्य तत्व निम्न हैं -

1. **श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण -** इसमें संगठन के समस्त कार्यो का विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के आधार पर विभाजन कर दिया जाता है। प्रत्येक कर्मचारी का कार्य एक विशिष्ट क्रिया होता है।
2. **औपचारिक संरचना -** संगठन में पदों, कार्यस्थितियों भूमिकाओं, प्रकार्यो कृत्यों आदि की एक प्रमापित संरचना होती है जिसमें उपक्रम के उद्देश्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके।
3. **उद्देश्य -** परम्परागत संगठन के उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाता है। प्रत्येक पद एवं कार्य के लक्ष्यों की भी व्याख्या की जाती है।
4. **सौपानिक व्यवस्था -** संगठन का ढाँचा, पदों, दायित्वों, अधिकारों के विभिन्न स्तरों में बँटा होता है। आदेश, सत्ता एवं उत्तरदायित्वों का प्रवाह ऊपर से नीचे तक रेखाबद्ध होता है।
5. **नियंत्रण का क्षेत्र -** इसके अनुसार प्रत्येक प्रबन्धक के नियंत्रण का एक निश्चित क्षेत्र होता है। यह संकल्पना बताती है कि एक प्रबन्धक कितने अधीनस्थों के कार्यो का प्रभावशाली ढंग से निरीक्षण कर सकता है।
6. **अन्य लक्षण -** ये निम्न हैं -

(1) यह कार्य निष्पादन हेतु व्यवस्था, अनुशासन, मौद्रिक प्रेरणा पर बल देती है।

(2) यह पंक्ति एवं कर्मचारी संगठन संरचना पर बल देती है।

(3) यह आवश्यकीय रूप से केन्द्रीयकरण पर जोर देती है।

(4) यह विचारधारा लेखांकन मॉडल पर निर्मित हुई है।

(5) इसकी संगठन संरचना में व्यक्ति की तुलना में कार्य पर अधिक बल दिया जाता है।

(6) यह विचारधारा कुछ निश्चित सिद्धान्तों का पालन करती है।

(7) इसके उपकरण, क्रियाएँ, साधन आदि प्रमापित होते हैं।

(8) यह प्रयासों के समन्वय पर आधारित है।

(9) यह मानवीय व्यवहार की विवेकशीलता में विश्वास करती है।

(10) यह सत्ता तथा दायित्वों के मध्य समानता पर जोर देती है।

(11) यह कर्मचारी के स्थायित्व, नियंत्रण 'तथा गलतियों की खोज एवं सुधार पर विशेष बल देती है।

संगठन की परम्परागत विचारधारा की तीन प्रमुख धाराएँ रही हैं - नौकरशाही, वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा प्रशासनिक प्रबन्ध।

परम्परावादी विचारधारा का मूल्यांकन - यह विचारधारा आधुनिक युग में भी अत्यन्त महत्व रखती है। बड़े-बड़े उपक्रमों की संगठन संरचना इसी विचारधारा के सिद्धान्तों पर आधारित है। इस विचारधारा के प्रमुख गुण निम्नांकित हैं -

1. यह कर्मचारियों को मौद्रिक लाभों के आधार पर उत्प्रेरित करती है।
2. यह संगठन में कर्मचारियों की भूमिकाओं, कार्यो, अधिकारों व दायित्वों के मध्य भ्रम एवं संघर्ष दूर करके इनको स्पष्ट रूप से परिभाषित करती है।
3. यह उत्पादन, प्रकार्य एवं कार्यकुशलता का महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करती है।
4. यह उत्पादकता बढ़ाने में सहायक होती है।
5. यह संगठन में निष्पक्षता, निश्चितता, विवेकशीलता, स्थायित्व, विशिष्टीकरण, पूर्वानुमान क्षमता प्रजातंत्र आदि को प्रोत्साहित करती है।
6. यह कार्य को तर्कसंगत ढंग से तथा नियमों के अनुसार करने पर बल देती है।
7. यह व्यवस्था एवं कार्यो पर नियंत्रण रखती है।

दोष व आलोचना - संगठन की परम्परावादी विचारधारा की कई प्रबन्ध विचारकों द्वारा आलोचना की गई है। यह आलोचना निम्न दोषों पर आधारित है -

1. इस विचारधारा को अपनाने वाले संगठनों में कार्यकुशलता की लागत बहु त ऊँची बैठती है।
2. इसमें प्रबन्धकों के व्यवहार का ढंग पूर्णत: अवैयक्तिक तानाशाह एवं साम्राज्यिक होता है। उनका व्यवहार यांत्रिक एवं रूखा होता है।
3. यह संगठन के भागों, अंगों तथा पृथक् क्रियाओं पर बल देती है तथा उनके अन्तर्सम्बन्ध को भुला देती है।
4. यह मानवीय पहलुओं की उपेक्षा करती है।
5. इस विचारधारा के कई सिद्धान्त दोषपूर्ण है। इसके सिद्धान्तों में सार्वभौमिकता का अभाव है तथा वे पर्याप्त शोध पर आधारित नहीं है। आदेशों की एकता, सौपानिक-कार्यात्मक प्रक्रिया का सिद्धान्त, पदानुक्रम सिद्धान्त आदि अव्यावहारिक सिद्ध हो रहे हैं।
6. यह बहु त ज्यादा विवरणात्मक, औपचारिक, यांत्रिक तथा सतही है।
7. यह बंद प्रणाली मान्यताओं पर आधारित है।

8. इसमें उच्च प्रबन्धक निम्न स्तरों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों का ध्यान नहीं रख पाते हैं।
9. यह भूमिकाओं, सत्ता, दायित्व व अन्य संरचना के संबंध में अति सरल दृष्टिकोण रखती है।
10. इसमें संगठनों की औपचारिक संरचना लोचहीन एवं कठोर होती है, जिससे नये परिवर्तनों के समायोजन में बाधा पड़ती है।
11. यह विचारधारा कर्मचारियों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करती है। उन्हें केवल मुद्रा से प्रेरित मानती है।
12. इस विचारधारा में समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान जैसे व्यवहारवादी विज्ञानों को कोई स्थान प्रदान नहीं किया गया है। इसका मनोवैज्ञानिक समर्थन शून्य है।
13. यह संगठन में नौकरशाही, असुरक्षाओं, रोगात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती है।
14. यह अन्र्तसंगठनात्मक संघर्ष जैसे महत्वपूर्ण विषयों की उपेक्षा करती है।
15. यह संगठन के बारे में जड़ दृष्टिकोण अपनाती है। अत: यह तेजी से बदलते हु ए वातावरण में व्यावहारिक सिद्ध होती है। यह बाह्‌य वातावरण की उपेक्षा करती है।
16. यह अनौपचारिक कार्य-समूहों की उपेक्षा करती है।

(2) **संगठन की नवीन परम्परावादी विचारधारा -** 1930 के लगभग प्रबन्ध जगत में मानवीय सम्बन्धों की विचारधारा का सूत्रपात हु आ। **इल्टन मेयो तथा उनके सहयोगियों** ने वैस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी के **हॉव्थार्न संयन्त्र** में किये गये परीक्षणों के निष्कर्ष प्रस्तुत किये। इन परीक्षणों के फलस्वरूप 'संगठन' सम्बन्धी ज्ञान में एक नई क्रान्ति उत्पन्न हु ई। कार्यकुशलता तथा उत्पादकता बढ़ाने के लिए अब तक परम्परावादी संगठन में भौतिक एवं यांत्रिक घटकों पर ध्यान दिया जा रहा था। किन्तु हॉव्थार्न प्रयोगों ने यह सिद्ध किया कि संगठन में मानवीय तत्व ही उत्पादकता वृद्धि का प्रमुख आधार होता है। कार्य-स्थल पर मानवीय सम्बन्धों पर ध्यान देकर उत्पादन में क्रान्ति लायी जा सकती है।

इस प्रकार संगठन में मानवीय तत्व, मानवीय सम्बन्धों तथा मानवीय व्यवहार के आविर्भाव के साथ ही संगठन की नवीन परम्परावादी विचारधारा का जन्म हुआ। यह विचारधारा संगठन के मानवीय पक्ष को उजागर करती है। यह विचारधारा संगठन में कर्मचारियों की सामाजिक व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की संतुष्टि पर बल देती है।

नवीन परम्परावादी विचारधारा की मान्यतायें - संगठन की नवीन परम्परावादी विचारधारा निम्नलिखित तत्त्वों पर आधारित है-

1. **परम्परावादी विचारधारा के आधार-स्तम्भों में सुधार -** नई विचारधारा ने परम्परावादी विचारधारा के कई सिद्धान्तों की कमियों को उजागर किया तथा उनमें सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। उदाहरण के लिए नवीन विचारकों ने विशिष्टीकरण के कारण संगठन में कर्मचारियों में उत्पन्न होने वाले पृथक्करण, एकांगी विकास तथा एकरसता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। सौपानिक सिद्धान्त, केन्द्रीयकरण, नियंत्रण के क्षेत्र के कारण मानवीय सम्बन्धों पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को स्पष्ट किया। नवीन विचारकों ने औपचारिक संगठन की लोचहीनता व यांत्रिकता के कारण उत्पन्न समस्याओं जैसे रेखा एवं विशेषज्ञ

कर्मचारियों के बीच अन्तर्द्वन्द्व, कार्मिकों का अपूर्ण विकास, समूह विचार, सृजनात्मकता का हनन, विकास आदि की ओर परम्परावादियों का ध्यान आकर्षित किया।

2. **अनौपचारिक संगठन -** परम्परावादियों का दृष्टिकोण औपचारिक संगठन तक ही सीमित था। नवीन परम्परावादियों ने स्पष्ट किया कि कार्य स्थितियों में अनौपचारिक समूहों का निर्माण एक स्वाभाविक बात है। अत: संगठन संरचना में इन अनौपचारिक समूहों की भूमिका को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। ये समूह संगठन पर सामाजिक नियंत्रण रखते हैं तथा संगठन की प्रभावशीलता को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। प्रबन्धक औपचारिक संगठन तथा अनौपचारिक समूहों के अन्तर्व्यवहार की उपेक्षा नहीं कर सकता है। नवीन परम्परावादी विचारधारा ने अनौपचारिक समूहों की क्रियाशीलता को स्वीकार कर संगठन विचारधारा को एक नया आयाम दिया है।
3. **सामाजिक मनुष्य की अवधारणा -** यह विचारधारा मानती है कि संगठन में कार्यरत कर्मचारी केवल आर्थिक मनुष्य ही नहीं, वरन् सामाजिक मनुष्य भी हैं। वे मुद्रा के अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्धों, सहयोग, सामाजिक, समूह सदस्यता आदि से भी उत्पेश्रित होते हैं।
4. **उत्पादकता एक सामाजिक घटना भी -** इस विचारधारा के अनुसार संगठन की उत्पादन क्षमता पर भौतिक वातावरण के साथ-साथ सामाजिक तत्त्वों, जैसे मनोबल, संतुष्टि आदि का भी गहन प्रभाव पड़ता है।
5. **अन्य तत्व एवं मान्यताएँ -**

(1) इस विचारधारा के अनुसार संगठन एक सामाजिक प्रणाली है, एक सामाजिक इकाई है।

(2) यह विचारधारा मानती है कि संगठन में व्यक्ति सहयोग, समूह प्रतिष्ठा से भी संचालित होते हैं।

(3) संगठन के प्रभावी संचालन के लिए तकनीकी कौशल ही नहीं, वरन् सामाजिक कौशल आवश्यक होता है।

(4) इसके अनुसार कार्य एवं सामूहिक क्रिया है।

(5) यह विचारधारा मानवोन्मुखी है, इसमें कार्य नहीं व्यक्ति ही संगठन के आधार है।

(6) यह संगठनात्मक उद्देश्यों तथा वैयक्तिक लक्ष्यों के एकीकरण पर बल देती है।

(7) यह मानती है कि व्यक्ति अन्तर्निर्भर है तथा उसके व्यवहार को सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आयामों से देखा जाना चाहिए।

(8) व्यक्ति विविध प्रकार से उत्प्रेरित होता है तथा वह अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए कार्य करता है।

(9) संगठन के प्रभावी संचालन के लिए द्विमार्गी संचार, दलीय भावना, सहभागिता आवश्यक होती है।

गुण -

(1) यह विचारधारा अधिक यथार्थवादी है।

(2) यह कार्य सन्तुष्टि, मनोबल एवं उत्पादकता में वृद्धि करती है।

(3) यह प्राथमिक कार्य समूहों, सामाजिक अन्र्तव्यवहारों को महत्व देकर व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित करती है।

(4) यह संगठन को व्यवहारवादी आयाम प्रदान करती है।

(5) यह अन्र्तविषयक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती है।

(6) यह लम्बवत् संगठन संरचना के स्थान पर समतल संगठन ढाँचे को स्थापित करती है।

(7) यह संगठन विचारधारा मेकग्रेगर की वाई मान्यताओं के अनुकूल है।

(8) सह संगठन संरचना में सत्ता के विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करती है।

(9) यह विचारधारा उदार पर्यवेक्षण, आत्म-विकास, भावनाओं के तर्क को बढ़ावा देती है।

दोष -

(1) यह विचारधारा अक्षमता, अल्पकालीन परिप्रेक्ष्य तथा मानवीय व्यवहार के विभिन्न पहलुओं में एकीकरण के अभाव जैसे दोषों से ग्रसित है।

(2) कुछ आलोचकों के अनुसार इस विचारधारा में मानवीय सम्बन्धों का उपयोग व्यक्तियों को कठपुतलियों की भाँति नचाने के लिए किया जाता है।

(3) कुछ विद्वानों के अनुसार इस विचारधारा की कई मान्यतायें वास्तविक नहीं है।

(4) नवीन परम्परावादी विचारकों द्वारा सुझाये गये संगठन के कई प्रारूप एवं संरचनायें भी समस्त दशाओं में लागू नहीं होते हैं। मानवीय संगठनों की भी कुछ सीमायें हैं।

(5) यह विचारधारा संगठन विचारधारा का एक एकीकृत दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करती है। वास्तव में, यह कोई नवीन विचारधारा नहीं है, वरन् परम्परावादी मॉडल में ही कुछ सुधार मात्र है। मूलतः यह संगठनात्मक सुधार से सम्बन्धित है, संगठनात्मक रूपान्तरण से नहीं।

(6) यह विचारधारा संगठन के उच्च स्तरों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(7) इसके निष्कर्ष जिन प्रयोगों पर आधारित है, उनमें पूर्णतः वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग नहीं हुआ है। यह कई घटकों पर विचार नहीं करती है।

(8) यह वातावरणीय एवं तकनीकी घटकों की उपेक्षा करती है।

(9) यह अभिप्रेरणा तथा समन्वय की समस्याओं को अति सुगम मान लेती है।

(10) यह सम्पूर्ण व्यक्ति की उपेक्षा करती है तथा इसमें व्यापक सामाजिक परिदृश्य का भी अभाव है।

(3) संगठन की आधुनिक विचारधारा - निरन्तर हो रहे आर्थिक, प्रौद्योगिकीय एवं सामाजिक परिवर्तनों तथा व्यवसाय में बढ़ रही संविलयन क्रियाओं के कारण आधुनिक संगठनों की संरचना भी तेजी से बदल रही है। प्रगति, जटिलता एवं परिवर्तन की नयी माँगों व समस्याओं का सामना करने के लिए नई संगठन विचारधाराएँ एवं संरचनाएँ प्रतिपादित की गई हैं। "संगठन संरचना किसी चार्ट पर बनाये गये खानों से कुछ अधिक है। यह अन्र्तक्रियाओ तथा समन्वय का प्रारूप

है जो प्रौद्योगिकी, प्रकार्यों तथा संगठन के मानवीय संघटकों को जोड़ता है ताकि संगठन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल हो सके।"

संगठन दो या दो से अधिक व्यक्तियों की सचेत रूप से समन्वित किर्याओं की एक प्रणाली के रूप में पहचाना जाता है। इस प्रकार संगठन में प्रणाली एवं व्यक्तियों पर बल देकर संगठन विचारधारा को एक नया आयाम प्रदान किया। संगठन चार्ट पर बने खाने नहीं, वरन् व्यक्ति संगठन का निर्माण करते है। 1960 से ही संगठन की आधुनिक विचारधारा का प्रारम्भ माना जाता है। आधुनिक विचारधारा निम्न चार दिशाओं में विकसित हुई है

(1) संगठन की व्यवहारवादी विचारधाराएँ,

(2) संगठन प्रणाली विचारधारा,

(3) संगठन की सूचना संसाधन विचारधारा तथा

(4) आकस्मिकता संगठन विचारधारा।

(4) **अन्य संगठन विचारधाराएँ -** मूल रूप से तो संगठन विचारधाराओं की तीन ही श्रेणियाँ हैं। किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण को ही अपनाते हुए कुछ विद्वानों ने संगठन की कुछ और विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। इनमें कुछ प्रमुख निम्नांकित हैं-

1. **निर्णयन विचारधारा -** इस विचारधारा का विकास हर्बर्ट साइमन ने किया है। संगठन से तात्पर्य 'व्यक्तियों के समूह में सम्प्रेषणों व अन्य सम्बन्धों की जटिल संरचना" से है। यह संरचना समूह के प्रत्येक सदस्य को सूचना, मान्यतायें, लक्ष्य व अभिवृत्तियाँ उपलब्ध कराती है जो उसके निर्णयों के लिए आवश्यक होती है।

   संगठन निर्णयन प्रक्रियाओं का एक जटिल जाल है। " संगठन व्यक्तियों के व्यवहार के द्वारा ही अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है। अत: निर्णय की समस्त प्रक्रियाओं का उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करना होता है। संगठन की संरचना निर्णयन कार्यों के वितरण एवं आवंटन में निहित होती है, जबकि संगठन का शरीर-क्रियाविज्ञान उन प्रक्रियाओं में निहित होता है जिनके द्वारा संगठन इसके सदस्यों के निर्णयों को प्रभावित करता है। इस प्रकार संगठन के अध्ययन का उपयुक्त ढंग निर्णयों की प्रक्रिया, प्रकृति एवं अधिकार सत्ता का विश्लेषण करना है। यह विचारधारा केवल निर्णय बिन्दुओं एवं संचार प्रक्रिया पर ही जोर देती है। यह संगठन के दर्शन पर प्रकाश न डालकर उसकी विधि पर प्रकाश डालती है।

2. **जैविक विचारधारा -** यह विचारधारा मानती है कि संगठन प्रणाली के शरीर की भाँति है। जिस प्रकार प्राणियों के जैविक अवयवों का विकास होता है, उनमें परिवर्तन होते हैं और उनका क्षय होता है, ठीक उसी प्रकार संगठन विकसित होते हैं, पनपते हैं, परिवर्तित होते हैं और समाप्त हो जाते हैं। संगठन के बढ़ते रहने के साथ-साथ भीतरी एवं बाहरी सम्बन्धों की एक निश्चित प्रणाली विकसित होती है।

3. **सुगठित-अनुकूली संगठन विचारधारा -** संगठन की 'सुगठित-अनुकूली विचारधारा' के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं -

(1) यह संगठन प्रारूप बदलते हुए वातावरण के साथ समायोजन एवं अनुकूलन करने में समर्थ है।

(2) यह संगठन संरचना तेजी से बदलती हुई है, अतः अस्थायी है।

(3) यह संरचना समस्याओं के समाधान के लिए संरचित की जाती है।

(4) समस्याओं के समाधान के लिए बाह्य विशेषज्ञों के दल होते हैं जो विविध पेशों से सम्बन्धित होते हैं।

(5) समूहों का संचालन सुगठित आधार पर होता है, यांत्रिक आधार पर नहीं। वहाँ पूर्व-नियोजित कार्य भूमिकायें नहीं होती हैं।

(6) संगठन अथवा कार्य दलों में नेतृत्व स्थायी नहीं होगा, वरन् उस अधिकारी के पास चला जायेगा जिसमें समस्याओं के समाधान की अधिक योग्यता होगी।

4. गलन प्रक्रिया विचारधारा - इस विचारधारा में बताया गया है कि परम्परागत संगठन में संगठन की आवश्यकताओं तथा परिपक्व कर्मचारी की आवश्यकताओं के मध्य एक असंगति बनी रहती है। परम्परागत संगठन विचारधारा में व्यवहारवादी संवेदनशीलता का अभाव बना रहता है।

विभिन्न सामाजिक - वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर संगठन का एक नया सैद्धान्तिक ढाँचा विकसित किया था जिसमें व्यक्तियों व संगठन के पृथक-पृथक लक्ष्यों को मान्यता प्रदान की जाती है। यह विचारधारा मानती है कि संगठन औपचारिक एवं अनौपचारिक व्यवहार से निर्मित एक खुली प्रणाली है। " इस विचारधारा के अनुसार संगठन में तीन प्रक्रियायें महत्वपूर्ण हैं-

(अ) समाजीकरण - इसमें वे क्रियायें सम्मिलित होती हैं जो संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होती है।

(ब) वैयक्तिकरण - इसमें वे क्रियायें आती हैं जो कर्मचारियों के वैयक्तिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होती हैं।

(स) संयोजन - यह वह प्रक्रिया है जिसमें उपयुक्त दोनों क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने के प्रयत्नस्वरूप संगठन का निर्माण होता है और संगठन कार्य करता है। यह विचारधारा व्यक्ति एवं संगठन दोनों के लक्ष्यों को समान रूप से महत्व देती है।

5. तुलनात्मक विचारधारा - यह विचारधारा विद्यमान संगठनों में पायी जाने वाली आधारभूत समानताओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के द्वारा कुछ निष्कर्षों पर पहुँच कर भविष्य में उसको समान संगठनों में लागू करने का प्रयास करती है। यह विचारधारा संगठन के प्रभावों, विकेन्द्रीकरण के प्रभावों, भारी प्रबन्ध विकास आदि के बारे में सामान्यीकरण प्रस्तुत करती है।

6. व्यवहारवादी संगठन- विचारधाराएँ - ये विचारधाराएँ संगठनात्मक व्यवहार से सम्बन्धित हैं तथा संगठन में व्यक्ति के व्यवहार को विश्लेषण की एक प्रमुख इकाई मानती हैं। इनमें तीन विचारधाराएँ प्रमुख हैं -

(1) संगठन की सन्तुलन विचारधारा - इसे संगठनात्मक साम्य की विचारधारा भी कहा जाता है। किसी संगठन में भागीदार बनने के मानवीय निर्णय के महत्व को इस विचारधारा में दर्शाया गया है। यह निर्णय निम्न दो क्षेत्रों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण होता है-

(अ) किसी संगठन में प्रवेश करने, उसमें बने रहने? अथवा उसे छोड़ देने सम्बन्धी सदस्यों का व्यवहार।

(ब) सदस्यों के लिए प्रलोभनों एवं योगदानों का संतुलन जिनका मापन उनकी वैयक्तिक उपयोगिताओं के संदर्भ में किया जाता है।

संरचना की दृष्टि से, साइमन ने संगठन की तीन परतें बतलायी हैं - (1) निम्नतम परत जहाँ कार्य की प्रक्रियाएँ चलती हैं, (2) मध्य परत जहाँ तैत्यक व कार्यक्रमिक निर्णय लिये जाते हैं, तथा (3) उच्च परत जहाँ नीतिगत तथा नियंत्रण सम्बन्धी अकार्यक्रमिक निर्णय लिये जाते हैं।

इस विचारधारा के प्रमुख आधार-तत्व निम्नलिखित हैं-

(1) प्रत्येक भागीदार संगठन में तब तक अपनी भागीदारी जारी रखेगा जब तक उसके द्वारा दिये जाने वाले योगदानों की तुलना में संगठन से प्राप्त प्रलोभनों की मात्रा अधिक रहती हो।

(2) संगठन व्यक्तियों के अर्न्तसम्बन्धित सामाजिक व्यवहारों की एक प्रणाली है। इन व्यक्तियों को संगठन के भागीदार के रूप में जाना जाता है।

(3) इस प्रकार संगठन भी तब तक स्वस्थ रहेगा तथा संगठनात्मक साम्य बना रहेगा जब तक कि भागीदारों के योगदान उन्हें प्रदान किये जाने वाले प्रलोभनों के लिए पर्याप्त हो।

(4) प्रत्येक भागीदार संगठन से अपने योगदानों के बदले कुछ प्रलोभन प्राप्त करता है।

(2) संगठन की भूमिका विचारधारा - इस विचारधारा के अनुसार संगठन को भूमिकाओं की एक प्रणाली माना जाता है। भूमिका से तात्पर्य किसी पद के कारण उत्पन्न प्रत्याशाओं से है। संगठन का प्रत्येक सदस्य जो किसी पद को धारण करता है, स्वयं से तथा दूसरों से कुछ प्रत्याशायें रखता है तथा इन विभिन्न भूमिकाओं के कारण सदस्य आपस में अर्न्तव्यवहार करते हैं। ये भूमिका समूह परम्परावादी संगठन की सीमाओं को पार कर जाते हैं। भूमिका-समूहों में संगठन के आन्तरिक कार्मिकों के अतिरिक्त संगठन से बाहर के व्यक्तियों को भी शामिल किया जाता है।

(3) संगठन की समूह विचारधारा - इसे सम्बद्धकारी पिन संरचना भी कहा जाता है। लिकर्ट का मत था कि संगठनों में परम्परावादी व्यक्ति से व्यक्ति सम्बन्धों की अपेक्षा समूह-से-समूह सम्बन्ध संगठन का अधिक वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। इन समूहों में प्रत्येक एक सम्बद्धकारी पिन का कार्य करता है। यह सम्बद्धकारी पिन का विचार ही संगठन संरचना की मुख्य बात है। यह विचार बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति जो सम्बद्धकारी पिन के रूप में कार्य करता है, वह दो समूहों - अपने से ऊपर तथा अपने से नीचे, का सदस्य होता है। वह अपने निचले समूह का नेता होता है तथा अपने से ऊपर वाले समूह का सदस्य होता है। इस प्रकार इस सम्बद्धकारी पिन संरचना में संगठन की समूह-से-समूह के रूप में परिकल्पना की गई है।

यह विचारधारा संगठन को एक ऊर्ध्वगामी दिशा प्रदान करती है। सम्प्रेषण, पर्यवेक्षण प्रभाव तथा लक्ष्य प्राप्ति के प्रयास आदि सभी की दिशा ऊपर की ओर हो जाती है जबकि परम्परागत पदानुक्रम संरचना में यह दिशा ऊपर से नीचे की ओर होती है।

लिकर्ट का मत था कि संगठन में पार्श्विक सम्प्रेषण, अर्न्तव्यवहार प्रभाव की भी आवश्यकता होती है, अत: ये पार्श्विक संयोजन पिनें जरूरी होती हैं।

किसी भी एक समूह के असफल हो जाने पर इसके दुष्परिणाम सम्पूर्ण संगठन पर पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, सम्बद्धकारी पिन जंजीर उतनी ही मजबूत होगी जितनी कि इसकी सबसे कमजोर कड़ी। इस जंजीर को टूटने से बचाने के लिए लिकर्ट ने अतिरिक्त विशेषज्ञ समूहों तथा अस्थायी समितियों की नियुक्ति की सलाह दी थी।

संगठन के इस परस्परव्यापी समूह प्रारूप के कुछ दोष भी हैं। इससे निर्णयन प्रक्रिया धीमी हो जाती है तथा समिति संगठन के सभी दोष इसमें आ जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर, समूहों से सहभागिता, खुले सम्प्रेषण, संयुक्त नियोजन, वचनबद्धता, बाध्यकारी निर्णय, दोनों समूहों के प्रति निष्ठा, सूचनाओं का स्वतंत्र विनिमय तथा दोनों समूहों में निर्णयों के प्रति स्वीकृति की संभावना बढ़ जाती है। इस संगठन संरचना में व्यक्ति ऊपर की ओर अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकते हैं। इससे न केवल उनके मनोबल एवं अभिप्रेरण पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, बल्कि उत्पादकता एवं निष्पादन में भी सुधार होता है।

7. **संगठन में प्रयुक्त प्रणाली विचारधारा -** प्रणाली विचारधारा आधुनिक संगठनात्मक आवश्यकताओं को स्वीकार करती है। यह विचारधारा संगठन की संकल्पनात्मक विश्लेषणात्मक आधार पर आश्रित है। इसकी प्रकृति समाकलनकारी है तथा यह अनुभाविक शोध पर आधारित है। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है:-

(i) संगठन में वे प्रमुख प्रक्रियायें क्या है जो विभिन्न भागों को संयुक्त करती हैं तथा एक दूसरे के प्रति समायोजन को सुविधाजनक बनाती है।

(ii) विभिन्न कार्मिकों की भूमिकायें एवं पद-स्थिति क्या है?

(iii) संगठन के सामरिक महत्व के कौन-कौन से भाग हैं?

(iv) संगठन तथा उसके भागों के उद्देश्य क्या हैं?

(v) उनकी पारस्परिक अन्तर्निभरता की प्रकृति क्या है?

संगठन अर्न्तसम्बन्धित तथा अन्तर्निभर उपभागों से मिलकर बनी एक इकाई है। संगठन के इन भागों में संरचना, प्रबन्ध प्रक्रियायें प्रौद्योगिकी आदि को शामिल किया जाता है। प्रत्येक मुख्य भाग को कुछ अन्तर्निर्भर तथा अर्न्तसम्बन्धित उपभागों में बाँटा जा सकता है।

आधुनिक संगठन प्रणाली विचारधारा के तत्त्वों में एकरूपता नहीं है। प्रत्येक विचारक ने संगठन के भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर जोर दिया है। संगठन के निम्नलिखित प्रमुख भाग बतलाये हैं:- (1) संरचना (2) नियोजन, मापन एवं मूल्यांकन योजनायें, (3) पुरस्कार, (4) चयन मापदण्ड एवं (5) प्रशिक्षण।

उल्लेखनीय है कि आधुनिक संगठन एक खुली प्रणाली है। ये बाह्य वातावरण से जुड़े हुए हैं। खुली प्रणाली के रूप में संगठन वातावरण के साथ निरन्तर अन्तर्व्यवहार करके एक स्थिर अवस्था अथवा गतिशील साम्य प्राप्त कर लेता है। खुली प्रणाली के रूप मे संगठन के तीन तत्व हैं, जो निम्न प्रकार कार्य करते हैं:-

निवेश ⟶ रूपान्तरण प्रक्रियायें ⟶ परिणाम

संगठन प्रणाली के निवेश में संसाधनों, सूचनाओं, संरचनाओं, कौशल, तकनीकों आदि को शामिल किया जाता है। इन निवेशों को विभिन्न प्रक्रियाओं, प्रचलनों, क्रियाओं, आन्तरिक संगठनात्मक डिजाइन के द्वारा परिणामों में रुपान्तरित किया जाता है। सम्पूर्ण संगठन जाल की उप-प्रणालियाँ ही रूपान्तरण प्रक्रियायें कहलाती हैं। परिणामों में उत्पाद, उपलब्धि लक्ष्य-प्राप्ति, सेवाओं आदि को शामिल किया जाता है।

8. संगठन की सूचना प्राविधिक विचारधारा - इस विचारधारा के अनुसार आधुनिक संगठन आन्तरिक एवं बाह्य अनिश्चितता का सामना करते हैं तथा वे सूचना प्राविधिक प्रणालियाँ हैं। यह विचारधारा संगठन के बारे में निम्न तीन मान्यतायें रखती है:

(1) संगठन खुली प्रणालियाँ हैं जो बाह्य वातावरणीय अनिश्चितता (प्रौद्योगिकी, सामाजिक परिवर्तन आदि) का तथा आन्तरिक क्रिया-सम्बन्धी प्रकार्य अनिश्चितता का सामना करते हैं। प्रकार्य अनिश्चितता से तात्पर्य किसी कार्य को करने के लिए चाही गई सूचनाओं तथा संगठन के पास उपलब्ध सूचनाओं के अन्तर से है। संगठन को ऐसीं प्रणालियों तथा ऐसी संरचना को अपनाना चाहिए जिससे वातावरणीय एवं प्रकार्य अनिश्चितता का निदान एवं सामना किया जा सके। इस अनिश्चितता को कम करने के लिए संगठन में उपयुक्त सूचनाओं को एकत्र करने, विवेचन करने तथा उसको उपयोग में लाने की क्षमता होनी चाहिए।

(2) दूसरी मान्यता यह है कि संगठन सूचनाओं के प्रभावी एकत्रीकरण, प्रविधियन तथा वितरण के लिए उपयुक्त कार्य-इकाइयों का निर्माण करता है तथा इनमें आपस में सम्बद्धता बनाता है।

(3) तीसरी मान्यता यह है कि संगठन में इसकी उप-इकाइयों अथवा विभिन्न विभागों को अत्यन्त महत्व प्रदान किया जाता है। क्योंकि इन उप-इकाइयों के लक्ष्यों, समय, परिप्रेक्ष्य, प्रौद्योगिकी आदि में बहुत अन्तर होता है। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं होता है कि सम्पूर्ण संगठन की अभिरचना क्या हो, वरन् यह होता है कि अ) संगठन में विभिन्न इकाइयों के लिए अनुकूलतम संरचनायें क्या हैं, (ब) भिन्न किन्तु अन्तर्निर्भर उप-इकाइयों में प्रभावी समन्वय करने के लिए क्या संरचनात्मक यांत्रिकी है?

तुशमैन एवं नेडलर ने सूचना प्राविधिक संगठन विचारधारा के निम्न लक्षण / तत्व बताये हैं:

1. जब संगठन की सूचना प्रविधियन आवश्यकताओं तथा संगठन संरचनाओं की सूचना प्रविधियन क्षमता में उचित मेल होता है तो संगठन अधिक प्रभावी होते हैं।
2. अनिश्चितता की मात्रा के अनुसार संगठन उप-इकाइयों के कार्य बदलते रहते हैं।

3. जब संगठन अथवा उप-इकाइयों द्वारा समय बदलने के साथ विभिन्न दशाओं का सामना किया जाता है तो अधिक प्रभावशील इकाइयाँ परिवर्तित सूचना प्रविधियन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नयी संरचनायें बना लेती हैं।
4. सूचनाओं के प्रभावी प्रविधियन के लिए विभिन्न संगठनात्मक संरचनाएँ विभिन्न क्षमतायें रखती हैं।
5. कार्य-सम्बन्धी अनिश्चितता के बढ़ने पर अधिक सूचनाओं की आवश्यकता होती है तथा सूचना प्रविधियन के लिए अधिक कौशल की जरूरत होती है।

9. आकस्मिकता संगठन विचारधारा - आकस्मिकता दृष्टिकोण संगठन की नवीनतम विचारधारा है। यद्यपि खुली प्रणाली विचारधारा तथा सूचना प्रविधियन में भी वातावरणीय निवेश को स्वीकार किया गया है, किन्तु संगठन का आकस्मिकता दृष्टिकोण एक कदम और आगे है। यह वातावरण को विशिष्ट संगठन संरचनाओं से जोड़ता है। आकस्मिकता संगठन विचारधारा का मुख्य सार यही है कि प्रभावी संगठन के लिए संगठन अभिकल्पनाओं को परिस्थितिगत ढंग से वातावरण के साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है। संगठन संरचना में विभेदीकरण तथा एकीकरण में सन्तुलन बनाये रखने पर जोर दिया था जिससे प्रबन्धक वातावरणीय मांगों के ठीक अनुरूप एक उपयुक्त संगठन संरचना का चयन कर सकता है।

संगठन की आधुनिक विचारधारा के लक्षण - अभी हम संगठन की आधुनिक विचारधारा के अंतर्गत सम्मिलित विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोण का अध्ययन कर रहे थे। इनके आधार पर आधुनिक विचारधारा के निम्नलिखित प्रमुख आधार तत्व है -

1. संगठन की प्रभावशीलता प्रबन्धक के सम्भाव्यतावादी बहु-विषयक तथा अनुकूली दृष्टिकोण पर निर्भर करती है।
2. यह विचारधारा मानती है कि संगठन एक खुली प्रणाली भी है जिसके फलस्वरूप संगठन एवं वातावरण में एक सतत् अन्तर्क्रिया चलती रहती है।
3. संगठन संरचना सदैव वातावरणीय अनिश्चितता पर निर्भर करती है।
4. आधुनिक विचारधारा संगठन को लक्ष्य-केन्द्रित मानती है।
5. इस विचारधारा के अनुसार संगठन एक जैविक संस्थान तथा अन्तर्व्यवहारों की एक पद्धति है। यह विचारधारा संगठन में पार्श्विक सम्बन्धों पर भी विचार करने पर बल देती है।
6. इसके अनुसार संगठन सामाजिक तकनीकी प्रणाली है।
7. व्यवहार, भूमिका, समूह, संगठन के विश्लेषण की प्रमुख इकाइयाँ हैं।
8. संगठन एक प्रणाली है। इसमें व्यक्ति एवं उसके व्यवहार को विशेष महत्व दिया जाता है।
9. इसके अनुसार संगठन अन्तर्सम्बन्धित तथा अन्तर्निर्भर उप-इकाइयों की एक एकीकृत इकाई भी है। इसकी प्रकृति सम्पूर्ण अथवा समग्र की होती है।
10. यह सहकारी प्रयासों की पद्धति है। इसमें सामूहिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। यह विचारधारा संगठन में साहचर्य प्रभाव के विचार को दर्शाती है।

11. यह विचारधारा संगठन को ऊर्ध्वगामी अभिमुखता प्रदान करती है। फलस्वरूप परम्परावादी संगठन के विपरीत इसमें सत्ता नीचे से ऊपर की ओर चलती है।
12. इस विचारधारा के अनुसार संगठन में मानवीय निर्णयों का अत्यन्त महत्व होता है।
13. आधुनिक विचारधारा के अनुसार संगठन गतिशील, बहु-स्तरीय, बहुआयामीय बहु-अभिप्रेरित तथा बहुघटकीय होता है।
14. संगठन सूचनाओं का एकत्रीकरण, प्रविधियन तथा प्रयोग करके बाह्य अनिश्चितता तथा कार्य सम्बन्धी अनिश्चितता को कम कर सकता है। सूचनायें, तथ्य संगठन का महत्त्वपूर्ण संसाधन है।

संगठन की आधुनिक विचारधारा का महत्व निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है-

1. यह विचारधारा संगठनों को जड़, यांत्रिक, भौतिक रूप में नहीं, वरन् सामाजिक संस्थानों के रूप में देखती है। यह मनुष्य तथा उसके व्यवहार को महत्व प्रदान करती है।
2. यह विचारधारा संगठन संरचना में परम्परागत रेखीय आकस्मिक सम्बन्ध दृष्टिकोण को अस्वीकार करके एक समग्र दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देतीं है।
3. यह विचारधारा संगठन संरचना को वातावरण से जोड़ कर अनिश्चितता तथा बाह्य प्रभावों को समाप्त कर देती है।
4. यह बताती है कि जटिल संगठनात्मक समस्याओं को हल करने के सभी लघु मार्ग व्यर्थ सिद्ध होते हैं।
5. यह संगठन संरचना के निर्माण में विभिन्न उप-प्रणालियों के मध्य सम्बन्ध प्रारूपों, समाकृतियो पर विचार करने तथा सम्भाव्यता दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देती है।
6. यह विचारधारा प्रबन्धकों को सुझाव देती है कि कोई भी एक संगठनात्मक संरचना सभी दशाओं के लिए उपर्युक्त नहीं होती है।

यद्यपि पिछली दो विचारधाराओं की तुलना में संगठन की आधुनिक विचारधारा का सैद्धान्तिक मॉडल तो अत्यन्त श्रेष्ठ है, किन्तु अभी इसकी एक एकीकृत विचारधारा विकसित नहीं हुई है। इस विचारधारा के प्रत्येक विद्वान एवं अनुसंधानकर्ता ने अपना दृष्टिकोण अपनाते हुए अलग-अलग घटकों पर बल दिया है। सामान्य एवं एकीकृत विचारधारा को सभी प्रकार के संगठनों में लागू किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक विचारधारा इस अपेक्षा को पूरा नहीं करती है। यह विचारधारा बहुत अधिक निरपेक्ष भी है। यह संगठन के विभिन्न भागों में एक निश्चित सम्बन्ध की व्याख्या नहीं करती है। इस विचारधारा में सार्वभौमिक उपयोगिता का भी अभाव है। यह सभी संगठनों में लागू किया जा सकने वाला कार्यकारी ढाँचा प्रस्तुत नहीं करती है।

2.6 अन्तर :

संगठन की आधुनिक एवं परम्परावादी विचारधाराओं का सविस्तार वर्णन करने के पश्चात् अब हम इन दोनों विचारधाराओं के मध्य अन्तर को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

क्र. सं.	**अंतर का आधार**	**आधुनिक विचारधारा**	**परम्परावादी विचारधारा**

.1	आधार	आधुनिक विचारधारा का आधार वैज्ञानिक प्रयोग, अनुसंधान एवं आँकड़े हैं।	परंपरावादी विचारधाराओं का आधार सामान्य सूझ बुझ रही है।
.2	दृष्टिकोण	इन विचारधाराओं का समष्टि दृष्टिकोण होता है।	इन विचारधाराओं का व्यष्टि दृष्टिकोण है।
.3	क्षेत्र	आधुनिक विचारधाराए न केवल संगठन की आन्तरिक समस्याओं पर ही ध्यान देती है अपितु संगठन से बाहर की समस्याओ का भी समाधान प्रस्तुत करती है, अतः इसका क्षेत्र विस्तृत है।	परंपरावादी विचारधाराए केवल संगठन की आंतरिक समस्याओं के समाधान पर ही ध्यान देती है, अत: इसका क्षेत्र सीमित है।
.4	मूल्य	यह विचारधारा तार्किक एवं उपलब्ध केन्द्रित है।	यह तार्किक तथा व्यवहार एवं मानवीय मूल्य केन्द्रित है।
.5	संरचना	इसमें कठोर भूमिका विवरणों पर बल दिया जाता है।	इसमें भूमिकाएँ लोचपूर्ण एवं अपरिभाषित भी होती है।
.6	पर्याप्तध्यान	यह विचारधारा अर्न्तव्यवहार, अनौपचारिक समूह, मानवीय मूल्यों आदि की अपेक्षा करती है।	यह व्यक्ति के अंतरव्यवहारों, अनौपचारिक संबंधो आदि की ओर पर्याप्त ध्यान देती है।
.7	व्यवहार विज्ञान	यह व्यवहारवादी विज्ञानों जैसे- समाजशास्त्र, मनोविज्ञान के योगदान को भुला देती है।	यह विचारधारा इन विज्ञानों के सिद्धान्तों व विचारधाराओं को विधिवत स्थान प्रदान करती है।
.8	संगठन की प्रकृति	संगठन की यांत्रिक, औपचारिक, कठोर एवं एक बन्द प्रणाली जैसी होती है।	यह संगठन को अनुकूली, लोचपूर्ण, सामाजिक इकाई, जैविक पद्धति एवं एक खुली प्रणाली के रूप में स्वीकार करती है।

2.7 सारांश :

प्रबन्धक संगठनों का सृजन करते हैं, संगठनों में कार्य करते हैं, संगठनों को दिशा देते हैं तथा समय की आवश्यकता के अनुरूप उनमें परिवर्तन भी करते हैं। संगठन की विचारधारा का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। प्रबन्ध ज्ञान की वृद्धि तथा समाज में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप संगठन की विचारधाराओं का विकास क्रम आगे बढ़ रहा है। नयी-नयी समस्याओं का हल खोजे जाते हैं। जांच-पड़ताल, अवलोकन एवं शोध के सिद्धान्तों में सुधार किये जाते है। इस प्रकार विचारधाराओं में निरन्तर परिवर्तन एवं संशोधन होते रहते हैं। प्रबन्ध संगठन में ऐसे सिद्धान्तों को लागू करते हैं जिससे कर्मचारियों को अधिक संतुष्टि प्रदान की जा सके तथा संगठन के संचालन को प्रभावी बनाया जा सके। इन सभी दृष्टियों से प्रबन्धक को संगठन में एक उपयुक्त विचारधारा का विकास करना चाहिए।

2.8 प्रश्न :

1. संगठन की आधुनिक विचारधारा से आप क्या समझते हैं? यह परम्परावादी विचारधारा से किस प्रकार भिन्न है? बताइये।
2. संगठन की विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन कीजिए।
3. संगठन की नवीन परम्परावादी विचारधारा के प्रमुख लक्षण बताइये। इसका मूल्यांकन भी कीजिए।
4. संगठन की आधुनिक विचारधारा के प्रमुख दृष्टिकोणों को समझाइये।

2.9 उपयोगी पुस्तकें :

1. डॉ. एम.डी. अग्रवाल (प्रबन्धशास्त्र)
2. डॉ. आर.एल. नौलखा (प्रबन्धशास्त्र)

इकाई-3: संगठन संरचना (Organization Structure)

इकाई की रूपरेखा :

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 इतिहास एवं विकास

3.3 अर्थ एवं परिभाषा

3.4 आवश्यकता

3.5 कार्य प्रणाली

3.6 प्रकार

3.7 अन्य विषयों से संबंध

3.8 सिद्धान्त

3.9 आधार

3.10 उदाहरण

3.11 सारांश

3.12 प्रश्न

3.13 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य :

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप - '

- संगठन संरचना के इतिहास एवं विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- संगठन संरचना का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।
- संगठन संरचना की आवश्यकता एवं कार्य प्रणाली का वर्णन कर सकेंगे।
- संगठन संरचना के विभिन्न प्रकार एवं अन्य विषयों से सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे।
- संगठन संरचना के विभिन्न सिद्धान्तों एवं आधारों को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना :

संगठन संरचना किसी भी संस्था की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। इसके द्‌वारा संगठन की क्रियाओं, अधिकारों एवं दायित्वों के केन्द्रों एवं प्रवाह तथा कर्मचारियों के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्रबन्ध की सफलता का केन्द्रीय आधार है। **ब्रेच** लिखते हैं "संगठन संरचना प्रबन्ध की कार्यकुशलता का महत्त्वपूर्ण तत्व है. अत: उस पर विवेकपूर्ण ढंग से विचार करने की आवश्यकता होती है।"

संगठन के माध्यम से उपक्रम में कार्यरत व्यक्तियों के कार्यो एवं उनके सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है। संगठन का कलेवर कार्यो का वितरण, अधिकार का हस्तान्तरण एवं दायित्वों के विभाजन से सम्बन्धित होता है। अधिकार-हस्तान्तरण तथा दायित्व विभाजन की विभिन्न विधियाँ होती हैं। अत: संगठन की संरचना भी अनेक प्रकार से की जा सकती है। इसके साथ

ही साथ प्रत्येक संगठन की समस्याएँ तथा जटिलताएँ अलग-अलग होती हैं. अत: उनके अनुरूप ही संगठन के ढाँचे को एक विशेष रूप प्रदान किया जाता है। किसी भी उपक्रम को संगठन के रूप विशेष का चुनाव करते समय उपक्रम की प्रकृति, आकार, क्षेत्र, उत्पाद की किस्म, वितरण व्यवस्था तथा कार्य-प्रणाली को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

1. यह संगठन के सम्बद्धकारी सम्बन्धों का मानचित्र है।
2. इसका निर्धारण प्रबन्धकीय निर्णयों के द्वारा होता है।
3. यह कार्य भूमिकाओं, अधिकारों, दायित्वों एवं पारस्परिक एवं औपचारिक सम्बन्धों का निर्धारण है।
4. यह कार्य विभाजन, विशिष्टीकरण से भी सम्बन्धित है।
5. यह संगठनात्मक व्यवहारों का एक औपचारिक ढाँचा है।
6. यह व्यावसायिक क्रियाओं के निष्पादन तथा परिणामों की प्राप्ति का एक साधन है।
7. यह प्रशासनिक व्यवस्था में लम्बवत्, समतल एवं पार्श्विक कार्यकारी सम्बन्धों, कार्य प्रवाह एवं सहायक अंगों को दर्शाती है।
8. यह संगठनात्मक समाकृति, सरूप एवं अभिकल्प है।
9. मिन्ट्जबर्ग के अनुसार इसके पाँच भाग हैं- सामरिक शीर्ष, संचालकीय केन्द्र, मध्य पंक्ति, तकनीकी ढाँचा, एवं सहायक कर्मचारी।
10. इसे 'प्रबन्धकीय सत्ता के सम्बन्ध भी कहा जाता है।

3.2 इतिहास एवं विकास :

साधारणतः: संगठन संरचना से आशय एक संस्था के प्रबन्धकीय एवं कार्यात्मक कार्यो का निष्पादन किये जाने से है। **ए.डब्ल्यू विक्सबर्ग** के अनुसार, 'संरचना व्यक्तियों तथा समूहों के मध्य विद्यमान सम्बन्धों का एक समुच्चय है। संगठन संरचना के माध्यम से उपक्रम में कार्यरत व्यक्तियों के कार्यो एवं उनके सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है। संगठन का कलेवर कार्यों का वितरण, अधिकारों के हस्तान्तरण एवं दायित्वों के विभाजन से सम्बन्धित होता है। अधिकार-हस्तान्तरण तथा दायित्व विभाजन की विभिन्न विधियाँ होती हैं। अत: संगठन की संरचना भी अनेक प्रकार से की जा सकती है। इसके साथ ही साथ प्रत्येक संगठन की समस्याएँ तथा जटिलताएँ अलग-अलग होती हैं। अत: उनके अनुरूप ही संगठन के ढाँचे को एक विशेष रूप प्रदान किया जाता है। किसी भी उपक्रम को संगठन के रूप विशेष का चुनाव करते समय उपक्रम की प्रकृति, आकार, क्षेत्र, उत्पादन की किस्म, वितरण व्यवस्था तथा कार्य प्रणाली को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

3.3 अर्थ एवं परिभाषा :

संगठन संरचना से आशय किसी संस्था में काम करने वाले व्यक्तियों के बीच कार्यकारी सम्बन्धों की व्यवस्था से है। यह उपक्रम के लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए संगठनात्मक कलेवर के रूप का निर्धारण है। दूसरे शब्दों में, यह संगठन के विभिन्न स्तरों पर कार्यों, अधिकारों, दायित्वों व सम्बन्धों का निर्धारण है।

संगठन संरचना कर्मचारियों के मध्य औपचारिक सम्बन्धों की एक प्रणाली है जो उनकी स्थितियों, भूमिकाओं दायित्वों एवं अधिकारों को परिभाषित करती है तथा जिसके आधार पर प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन किया जाता है। इसे संगठन चार्ट्स एवं मेनुअल्स द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

3.4 आवश्यकता :

पीटर ड्रकर के अनुसार संगठन की संरचना करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है-

1. **व्यावसायिक निष्पादन की प्राप्ति का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रबन्धकों को अपना कार्य व्यावसायिक व्यक्तियों की भाँति पूरा करना चाहिए न कि सरकारी पदाधिकारियों अथवा नौकरशाहों की भाँति पूरा करना चाहिए।

2. **प्रबन्ध के स्तरों का न्यूनतम होने का सिद्धान्त -** यदि प्रबन्ध के स्तर कम होते हैं तो आदेश की रेखा भी छोटी बनी रहती है और इस प्रकार शीर्ष-अधिकारी एवं निम्नतम कर्मचारी में अधिक अन्तर नहीं हो पाता।

3. **प्रबन्धकों एवं भावी व्यवस्थापकों के प्रशिक्षण में सहायक होने का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन संरचना ऐसी हो जो प्रबन्धकों एवं भावी व्यवस्थापकों के प्रशिक्षण में सहायक हो।

ड्रकर के अनुसार संगठन संरचना में उक्त आवश्यकताओं (सिद्धान्तो) की पूर्ति के लिए विकेन्द्रीयकरण आवश्यक होता है। विकेन्द्रीयकरण, संघीय विकेन्द्रीयकरण अथवा क्रियाशील विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों पर आधारित हो सकता है। संघीय विकेन्द्रीयकरण से हमारा प्रयोजन संगठन संरचना के ऐसे स्वरूप से होता है जिसके अन्तर्गत व्यवसाय की क्रियाओं को उत्पाद के आधार पर स्वायतशासी व्यवसाय के रूप में गठित किया जाता है। यदि गठन संघीय विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के आधार पर करना संभव न हो सके तो क्रियाशील विकेन्द्रीयकरण का सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार एकीकृत इकाइयाँ व्यवसाय की प्रमुख प्रक्रियाओं के आधार पर गठित की जाती है।

एम.के. रुस्तमजी एवं एस.ए. सप्रे ने अपनी पुस्तक "Art of Management" में सुदृढ़ संगठन संरचना के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक बतलाया है-

1. स्पष्टता
2. मितव्ययिता
3. निष्पादन प्रधानता
4. ग्राहक प्रधानता
5. व्यक्तिगत एवं समूह कार्य भावना
6. विकेन्द्रीयकरण एवं प्रत्यायोजन
7. स्थायित्वता एवं अनुकूलता
8. स्व-नियमन एवं स्व-नियंत्रण

3.5 कार्य प्रणाली :

1. **संस्था के विकास की गति -** संगठन संरचना के निर्माण में संस्था की वर्तमान आवश्यकताओं के साथ-साथ उसकी भावी विकास की संभावनाओं पर भी विचार किया जाता है ताकि संगठन में पर्याप्त लोच बनी रहे। संस्था के विस्तार एवं विविधीकरण की नीति का संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

2. **पद समता -** संस्था के एक ही अधिकारी के नियंत्रण में समान पदों पर कार्य करने वाले सहायकों के अधिकारों में समानता रखनी आवश्यक होती है। किन्तु पद समता का यह घटक संगठन संरचना को विस्तृत बनाता है।

3. **विभागीयकरण -** संस्था का विभिन्न आधारों, जैसे-वस्तु उपभोक्ता, क्षेत्र, प्रक्रिया आदि पर विभागीयकरण किया जा सकता है। यह प्रत्येक आधार एक सीमा तक संगठन संरचना को प्रभावित करता है।

4. **प्रथाएँ एवं परम्पराएँ -** प्रत्येक संस्था की व्यवसाय के सम्बन्ध में अपनी कुछ परम्परायें होती हैं, जैसे- विशेषज्ञों को रखना, इंजीनियरिंग व मरम्मत सेवाओं को क्रय करना, बाजार अनुसंधानकर्ताओं को नियुक्त करना, अन्य संस्थाओं की भाँति किसी विशिष्ट संरचना का प्रयोग करना आदि। ये परम्परायें संगठन संरचना को प्रभावित करती है।

5. **नियंत्रण का विस्तार -** प्रत्येक प्रबन्धक की निरीक्षण एवं निर्देशन की योग्यता सीमित होती है। वह एक सीमित संख्या में ही व्यक्तियों का नियंत्रण कर सकता है। अत: इस सीमा को ध्यान में रखते हुए ही संगठन संरचना का निर्माण किया जा सकता है।

3.6 प्रकार :

कैट्ज तथा कैन ने अपनी पुस्तक "Industrial Psychology" में निम्न चार प्रकार के संगठनों का उल्लेख किया है-

1. उत्पादन अथवा आर्थिक संगठन
2. संधारण संगठन
3. अनुकूलित संगठन तथा
4. प्रबन्धकीय अथवा राजनैतिक संगठन

संगठन का कई आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है। संगठन का कुछ प्रमुख आधारों के अनुसार वर्गीकरण निम्न प्रकार है-

(A) **उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण -** उद्देश्य के आधार पर संगठन का अग्र प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है-

1. व्यावसायिक संगठन (जैसे फर्म, कम्पनी आदि)
2. धार्मिक संगठन (जैसे मन्दिर, चर्च आदि)
3. सैनिक संगठन (जैसे सेना, पुलिस आदि)
4. साहचर्यात्मक संगठन (जैसे क्लब्स, सहकारी सोसायटी आदि)
5. सुरक्षात्मक संगठन (जैसे अग्निशमन सेवाएं), तथा

6. शैक्षणिक संगठन (जैसे स्कूल, कॉलेज आदि)

(B) **लाभभागी आधार पर वर्गीकरण -** वर्गीकरण का एक अन्य वैकल्पिक आधार और भी हो सकता है और वह है लाभभागी आधार। लाभभागी आधार पर संगठनों का निम्नांकित चार प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है:

1. **परस्पर लाभकारी संगठन -** इस प्रकार के संगठनों का लाभ संगठनों के सदस्यों को ही प्राप्त होता है। इन संगठनों में मजदूर संगठन, व्यावसायिक संगठन आदि सम्मिलित किये जा सकते।
2. **आर्थिक संगठन -** इस प्रकार के संगठनों का लाभ इन संगठनों के स्वामियों को प्राप्त होता है।
3. **सेवा संगठन -** इस प्रकार के संगठनों में अस्पताल, स्कूल तथा धार्मिक संस्थाओं के संगठनों को सम्मिलित किया जाता है। इन संगठनों का लाभ समाज अथवा उसके एक वर्ग को प्राप्त होता है।
4. **सामान्य जनसेवा संगठन -** इस प्रकार के संगठनों में सामान्यत: सरकार द्वारा जनसेवा / रक्षा के लिए बनाये गये संगठन सम्मिलित किये जाते हैं। उदाहरण के लिए पुलिस, सशस्त्र सेनायें आदि।

(C) **अधिकारों के आधार पर वर्गीकरण -** अधिकारों के आधार पर संगठन को निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. औपचारिक संगठन तथा
2. अनौपचारिक संगठन

3.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध :

संगठन संरचना का निर्धारण या निर्माण - संगठन संरचना का निर्धारण या निर्माण करने के लिए प्रबन्धकों को कई कार्य करने होते हैं। पीटर ड्रकर ने संगठन संरचना के निर्धारण के लिए निम्नलिखित तीन कार्य करने का सुझाव दिया है-

1. क्रिया विश्लेषण
2. निर्णय विश्लेषण. तथा
3. सम्बन्ध विश्लेषण।

1. **क्रिया विश्लेषण -** संगठन संरचना के लिए सर्वप्रथम एक संस्था को अपने द्वारा की जाने वाली सामान्य एवं विशेष क्रियाओं का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। प्रत्येक संस्था की कुछ सामान्य क्रियायें होती है, जैसे- उत्पादन, विपणन, इंजीनियरिंग, सेविवर्गीय लेखाकर्म, शोध आदि। किन्तु संस्था की विशेष प्रकृति एवं व्यवसाय के अनुरूप संस्था को कुछ विशेष क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए एक इलैक्ट्रॉनिक उपकरण (जैसे टीवी, रिकार्डर, वी.सी.आर. आदि) बनाने वाली कम्पनी को अपनी सामान्य क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ विशेष कार्य भी करने होते हैं, जैसे ग्राहकों को प्रशिक्षित करना, उनके गृह-उपकरणो की स्थापना करना, समय-समय पर वस्तु के निष्पादन को देखना तथा गारन्टी के अन्तर्गत विक्रयोपरान्त सेवायें

प्रदान करना। अत: एक संस्था को अपनी प्रत्येक क्रिया की जानकारी कर लेनी चाहिए। संक्षेप में, क्रिया विश्लेषण के लिए निम्न कार्य किये जाने चाहिए-

1. संस्था की सम्पूर्ण क्रियाओं की सूची तैयार करना।
2. उद्देश्यों की प्राप्ति एवं महत्व के अनुरूप सभी क्रियाओं को क्रमबद्ध करना।
3. सभी क्रियाओं का समूहीकरण करना ताकि उन्हें विभिन्न समूहों या विभागों को सौंपा जा सके।
4. सभी क्रियाओं को विशिष्टीकरण के आधार पर दक्ष व्यक्तियों को सौंपना। क्रियाओं का विशिष्टीकरण संस्था के कार्यो की प्रकृति, वस्तुओं भौगोलिक क्षेत्र अथवा अन्य किसी आधार पर किया जा सकता है।

इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों को कार्य सौंपने तथा संरचना में विभागीयकरण करने के लिए क्रिया विश्लेषण आवश्यक होता है। **पीटर ड्रकर** का मत है कि क्रिया विश्लेषण केवल नयी संस्थाओं के लिए ही नहीं, वरन् विद्यमान संस्थाओं के लिए भी जरूरी होता है। इससे अनावश्यक क्रियाओं को हटा कर अपव्यय रोका जा सकता है।

2. **निर्णय विश्लेषण -** संगठन संरचना के लिए दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है- निर्णय विश्लेषण। निर्णय विश्लेषण के द्वारा संस्था के सम्बन्ध में निम्न प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं-

1. संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में कौन से निर्णय सहायक होंगे?
2. उन निर्णयों की प्रकृति कैसी होगी - नीतिगत अथवा नैत्यक?
3. ये निर्णय संस्था के किस स्तर पर लिये जाने चाहिए?
4. ये निर्णय किन क्रियाओं को प्रभावित करेंगे?
5. इन निर्णयों में कौन प्रबन्धक भागीदार होंगे?
6. किन प्रबन्धकों को इन निर्णयों की सूचना दी जायेगी?

इन प्रश्नों के उत्तर ज्ञात करके यह निर्धारित किया जा सकता है कि किस प्रकार के निर्णय लेनें का अधिकार किस व्यक्ति को प्रत्यायोजित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, अधिकारों के केन्द्रीयकरण, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन एवं उत्तरदायित्वों के निर्धारण का प्रश्न भी निर्णयों की प्रकृति एवं आवश्यकता के आधार पर हल किया जा सकता है।

3. **सम्बन्ध विश्लेषण -** सम्बन्ध विश्लेषण संगठन संरचना के निर्माण का अन्तिम कार्य है। इसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है की -

1. किसी क्रिया के प्रभारी प्रबन्धक को किस की अधीनस्थता में कार्य करना होगा?
2. उस प्रबन्धक को अन्य क्रियाओं के प्रभारी प्रबन्धकों से किस प्रकार सहयोग करना पड़ेगा?
3. अन्य क्रियाओं के प्रभारी प्रबन्धक उसे किस प्रकार अपना सहयोग प्रदान करेंगे?
4. मुख्य क्रियाओं तथा सहायक क्रियाओं के प्रभारी प्रबन्धकों की स्थिति क्या होगी?
5. पार्श्विक सम्बन्धों का प्रारूप क्या होगा?

पीटर ड्रकर का मत है कि एक कर्मचारी को अपने विभागीय दायित्वों को पूरा करने के साथ-साथ सम्पूर्ण संस्था के संदर्भ में भी अनेक कार्य करने पड़ते हैं। एक प्रबन्धक को अपने से नीचे

वाले व्यक्तियों व विभागों तथा समतल स्तर के सहयोगी विभागों के सम्बन्धों एवं संदर्भों में भी कार्य करना होता है।

इस प्रकार संगठन संरचना के निर्माण के लिए किसी भी क्रिया, विभाग या प्रबन्धक के ऊर्ध्वगामी, अधोगामी तथा समतल या पार्श्व सम्बन्धों का भी निर्धारण किया जाता है। इन्हीं आपसी औपचारिक सम्बन्धों के आधार पर आदेश की श्रृंखला तथा पदानुक्रम का निर्माण किया जाता है। इन्हीं के आधार पर सूचनाओं व निर्देशों का विनिमय होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार के विश्लेषणों के आधार पर संगठन संरचना का निर्माण किया जाता है।

संगठन संरचना को प्रभावित करने वाले तत्व - किसी उपक्रम का संगठन-संरचना का निर्माण अनेक तत्वों से प्रभावित होता है। यहाँ कुछ प्रमुख तत्वों का वर्णन किया जा रहा है-

1. **उत्पादक तकनीक -** निर्माणकारी उपक्रमों में संगठन-संरचना उत्पादन तकनीक के अनुसार विविध प्रकार की हो सकती है। अत: संगठन संरचना में उत्पादन तकनीक को ध्यान में रखा जाना चाहिए। जोन वूड वार्ड के अनुसार, जैसे-जैसे तकनीकी जटिलता बढ़ती है वैसे-वैसे एक संगठन में स्तर बढ़ते हैं। इसी प्रकार तकनीकी जटिलता बढ़ने पर कुल कर्मचारियों में प्रबन्धकों तथा पर्यवेक्षकों का अनुपात बढ़ता है। इसलिए संगठन-संरचना प्रभावित होती है।
2. **उपक्रम के उद्देश्य -** संगठन अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं होता है बल्कि यह उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन होता है। अत: संगठन-संरचना का निर्माण करते समय उपक्रम के उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। ऐसी संगठन-संरचना की जानी चाहिए जिससे उपक्रम अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सके।
3. **उच्च प्रबन्धकीय दृष्टिकोण -** उपक्रम की स्थापना, उद्देश्य एवं नीति निर्धारण, उपक्रम के लिए साधन जुटाने आदि में उच्च प्रबन्धकों का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। अत: उच्च प्रबन्धकीय दृष्टिकोण एवं योग्यता संगठन-संरचना के निर्धारण को प्रभावित करती है। सामान्यतया संगठन-संरचना उच्च प्रबन्ध द्वारा ही अपने दृष्टिकोण के अनुकूल निर्मित की जाती है।
4. **संगठन में विभागीयकरण -** संगठन में प्राय: कार्यानुसार, भौगोलिक क्षेत्रानुसार, उत्पादन-अनुसार ग्राहकानुसार अथवा अन्य किसी आधारानुसार विभागीयकरण किया जाता है। यह विभागीयकरण संगठन-संरचना को प्रभावित करता है।
5. **उपक्रम के कार्यो की प्रकृति -** उपक्रम किस प्रकार का व्यवसाय अथवा कार्य करता है उसकी प्रकृति संगठन-संरचना को प्रभावित करती है क्योंकि संगठन-संरचना उपक्रम के कार्यों के निष्पादन के लिए ही निर्मित की जाती है।
6. **संगठन का आधार -** संगठन की संरचना इसके आकार पर भी निर्भर करती है। बड़े आकार के संगठन में विशिष्टीकरण तथा विकेन्द्रीयकरण पर अधिक ध्यान दिया जाता है जबकि छोटे संगठन में अधिकारों के केन्द्रीयकरण एवं आदेश की एकता का ध्यान रखा जाता है।
7. **वातावरण -** प्रत्येक संगठन को किसी वातावरण के अन्तर्गत कार्य करना होता है। अत: संगठन संरचना वातावरण से प्रभावित होती है। लारेन्स तथा लोर्श्च के अनुसार गतिशील वातावरण में कार्य करने वाली फर्मों का संगठन लोचशील होना चाहिए जबकि स्थिर वातावरण में कार्य करने वाली फर्मों का संगठन-ढाँचा अधिक कठोर होना चाहिए।

8. **कर्मचारियों की योग्यता -** संगठन-संरचना संगठन में काम करने वाले व्यक्तियों की योग्यता पर निर्भर करती है। संगठन-संरचना का निर्माण इस प्रकार से किया जाना चाहिए जिससे उपक्रम को उपलब्ध कर्मचारियों की योग्यता का सर्वोत्तम उपयोग हो सके तथा उन्हें अभिप्रेरित किया जा सके। एक संस्था को उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपने व्यवसाय की स्थिति के अनुरूप उपयुक्त संगठन-संरचना का निर्माण करना चाहिए। एक उपक्रम के लिए उपयुक्त संगठन-संरचना वह होती है जो उसके उद्देश्यों को सफलतापूर्वक कम से कम लागत एवं समय अवधि में प्राप्त करने में सहायक होती है।

संगठन के निर्माण के लिए आवश्यक कदम - किसी भी उपक्रम के संगठन के निर्माण के लिए अनेक आवश्यक कदम उठाने होते हैं। संगठन के निर्माण के लिए आवश्यक कदम निम्न होते हैं:-

1. **अधिकारों को सौंपना -** व्यक्तियों को जब निश्चित कार्य अथवा दायित्व सौंप दिये जाते हैं तब उन कार्यों को सुचारू रूप से पूरा करने के लिए आवश्यक अधिकार भी देना आवश्यक होता है। दायित्वों के अनुरूप अधिकारों का सौंपना आवश्यक है। निगम प्रबन्ध के संदर्भ में एक प्रबन्ध संचालक विभिन्न विभागीय प्रबन्धकों को अधिकार सौंपता है। एक विभागीय प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को अधिकार सौंपता है।

2. **कार्यो अथवा दायित्वों का आवंटन -** क्रियाओं का समूहीकरण करने के पश्चात् विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार कार्य करने के लिए आवंटित किये जाते हैं। जिस व्यक्ति को जो कार्य सौंपा जाता है उसको पूरा करने के लिए वह व्यक्ति उत्तरदायी होता है।

3. **उद्देश्यों का निर्धारण -** संगठन की रचना निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है, अत: उपक्रम के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम उपक्रम के प्रयोजन का निर्धारण किया जाना चाहिए तथा इस प्रयोजन के सहायक के रूप में संगठन के विभिन्न क्षेत्रों के उद्देश्य निर्धारित किये जाने चाहिए।

4. **समन्वय -** संगठन के निर्माण की अन्तिम क्रिया है विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करना। समन्वय की आवश्यकता इसीलिए होती है कि उपक्रम के सभी विभाग मिलकर उपक्रम के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य कर सकें। इसके लिए संगठन के सभी विभागों में सम्पर्क एवं सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए।

5. **क्रियाओं का वर्गीकरण एवं समूहीकरण करना -** उपक्रम में अनेक तरह की क्रियाएँ की जाती हैं। इन विभिन्न क्रियाओं में सामन्जस्य बैठाने तथा नियंत्रण करने के लिए इन क्रियाओं को विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है तथा एक ही तरह की क्रियाएँ एक ही वर्ग में रखी जाती हैं। इसके बाद इन क्रियाओं का समूहीकरण अथवा श्रेणीयन किया जाता है। समान व एक-दूसरे से सम्बन्धित क्रियाओं को एक समूह अथवा श्रेणी में रखा जाता है। क्रियाओं के समूहीकरण से विभागों का निर्माण होता है। ये विभाग भौगोलिक क्षेत्र, उत्पादन विधि, उत्पादन के प्रकार, ग्राहकों की प्रकृति आदि के आधार पर बनाये जा सकते है।

6. **क्रियाओं को परिभाषित करना -** उपक्रम द्वारा की जाने वाली सभी क्रियाओं को परिभाषित किया जाना चाहिए। संस्था के प्रत्येक कार्य को उपकार्यों तथा क्रियाओं में बांटा जाना चाहिए जिससे उन्हें व्यक्तियों में बांटना सरल हो सके।

एक बार संगठन संरचना का निर्माण करने के बाद पर्यावरण के परिवर्तन तथा उपक्रम की आवश्यकताओं के अनुसार निरन्तर पुन: संगठन का कार्य करते रहना चाहिए।

संगठन का वर्गीकरण - संगठनों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है-

1. **उद्देश्यानुसार वर्गीकरण -** उद्देश्य के आधार पर संगठन निम्न प्रकार के हो सकते हैं-
   1. व्यावसायिक संगठन
   2. धार्मिक संगठन
   3. सैनिक संगठन
   4. मेलजोल या सामाजिक संगठन
   5. सुरक्षात्मक संगठन
   6. शैक्षणिक संगठन
2. **अधिकारों के आधार पर वर्गीकरण -**
   1. औपचारिक संगठन, तथा
   2. अनौपचारिक संगठन
3. **लाभभोगी आधार पर वर्गीकरण -** इस आधार पर निम्न प्रकार के संगठन होते हैं-
   1. परस्पर लाभकारी संगठन
   2. आर्थिक संगठन
   3. सेवा संगठन
   4. सामान्य जन सेवा संगठन

संगठन संरचना में सन्तुलित किये जाने वाले घटक - संगठन संरचना की प्रकृति को प्रभावित करने वाले निम्नांकित आन्तरिक घटकों का उल्लेख किया है-

1. संगठन के उद्देश्यों की प्रकृति
2. उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली परिवर्तनशील क्रियाएँ
3. तकनीकी आवश्यकताओं तथा उत्पाद अथवा सेवाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप की जाने वाली क्रियाओं के सम्पादन में उठाये जाने वाले कदमों का अनुक्रम
4. सम्पादित की जाने वाली प्रबन्ध क्रियाएँ- इन क्रियाओं में लक्ष्य निर्धारण, समस्या-निवारण, संवहन, नियंत्रण, उत्प्रेरण तथा नेतृत्व आदि क्रियाएँ सम्मिलित हैं
5. उपक्रम में कार्यरत व्यक्तियों की कौशल सम्बन्धी सीमाएँ तथा तकनीकी सुविधाओं का अभाव
6. उन सभी व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकतायें जो सामूहिक रूप से मिलकर संगठन का निर्माण करते हैं, तथा
7. उपक्रम का आधार।

अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि जो बातें या घटक संगठन संरचना को प्रभावित करते हैं, उनमें से प्रमुख निम्न हैं :-

1. **संगठन के उद्देश्य -** संगठन स्वयं अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। यह तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है। अत: किसी उपक्रम की संगठन संरचना का निर्माण करते समय उस उपक्रम

के उद्देश्यों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। आर.सी. डेविस के अनुसार, संगठन संरचना का प्रमुख निर्धारक तत्व (घटक) संस्था के उद्देश्य है।

2. **संगठन का आकार -** संगठन का आकार भी किसी उपक्रम की संगठन संरचना के निर्माण का अन्य प्रमुख घटक है। यदि संगठन छोटा है तो केन्द्रीय संगठन अपनाया जा सकता है, लेकिन यदि संगठन बहु त बड़ा है तो संगठन संरचना का निर्माण करते समय विकेन्द्रीयकरण पर अधिक ध्यान दिया जा सकता है।

3. **विकास की गति -** सामान्यत: किसी उपक्रम की संगठन संरचना का निर्माण वर्तमान आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं किया जा सकता है, भावी आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इस प्रकार उपक्रम के विकास की गति को ध्यान में रखते हु ए संगठन का निर्माण किया जाना चाहिए।

4. **व्यापारिक क्षेत्र -** किसी उपक्रम की संगठन संरचना पर उस संस्था के व्यापारिक क्षेत्र का भी काफी प्रभाव पड़ता है। संस्था का व्यापारिक क्षेत्र स्थानीय, राज्यीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। संस्था का व्यापारिक क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होगा उतनी ही विस्तृत संगठन संरचना का निर्माण करना होगा।

5. **प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति -** संस्था की व्यावसायिक क्षेत्र में या तो एकाधिकारी स्थिति हो सकती है अथवा प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति। सामान्यत: वर्तमान में प्रत्येक व्यावसायिक संस्था को प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में ही कार्य करना होता है। अत: इस तथ्य को ध्यान में रखते हु ए ही संगठन संरचना का निर्माण करना चाहिए।

6. **प्रबन्धकों की नीतियाँ -** प्रबन्धकों की नीतियों का भी किसी उपक्रम की संगठन संरचना पर प्रभाव पड़ता है। संस्था के प्रबन्धक समस्त अधिकारों को अपने हाथों में ही केन्द्रित रखना चाहते हैं अथवा संबन्धित अधिकारियों को प्रत्यायोजन करना चाहते हैं। अत: प्रबन्धकों की नीतियों के अनुरूप ही संगठन संरचना का निर्माण किया जाना चाहिए।

7. **प्रबन्धकों की योग्यताएँ -** उच्च प्रबन्धकों की योग्यताएँ भी एक उपक्रम की संगठन की संरचना को प्रभावित करती है। यदि उच्च प्रबन्धक बहु त अधिक योग्य है तो वे रेखीय संगठन को अपनाकर भी एक विस्तृत आकार वाली संस्था का संचालन कर सकते हैं। लेकिन यदि उच्च प्रबन्धक अधिक योग्य नहीं है तो उन्हें रेखा एवं कर्मचारी संगठन अथवा क्रियात्मक संगठन अपनाना होगा ताकि उन्हें अपनी नीतियों एवं कार्यों के निष्पादन में विशेषज्ञों एवं सहायकों की सहायता मिल सके।

8. **पद समता -** संगठन-संरचना का यह घटक भी सर्वाधिक रूप से प्रभावित करता है। संगठन के सभी अधिकारियों एवं अधीनस्थों में मधुर सम्बन्धों की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि एक ही अधिकारी के दो समान पद वाले अधीनस्थों (सहायकों) के अधिकारों में भिन्नता नहीं होनी चाहिए। अन्य शब्दों में समान कार्य करने वाले दो व्यक्तियों के पद एवं अधिकारों में समता बनाये रखना चाहिए।

9. **नियंत्रण का विस्तार -** किसी उपक्रम में कोई प्रबन्धक कितना ही योग्य क्यों न हो उसकी अपने सहायकों की क्रियाओं का पर्यवेक्षण करने की क्षमता सीमित ही होती है। अत: संगठन संरचना के निर्माण में नियंत्रण का विस्तार तत्व (घटक) एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

10. **सामाजिक एवं मानवीय आवश्यकताएँ -** किसी उपक्रम में कार्यरत व्यक्तियों की अनेक सामाजिक एवं मानवीय आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति में उनमें आदर, मान्यता एवं अपनत्व की भावना जाग्रत होती है। अत: संगठन संरचना इस प्रकार की हो कि कार्यरत व्यक्तियों के साथ अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना हो जाए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक उपक्रम के संगठन की संरचना का प्रभाव यह होना चाहिए कि वह-

1. संगठन के सदस्यों की समस्या-समाधान-योग्यता में वृद्धि करें।
2. संगठन में अभिप्रेरण के तत्वों को बल प्रदान करें।
3. संगठन में कार्यरत प्रत्येक नेता के विशिष्ट गुणों का लाभ उठाया जा सके, तथा
4. इस प्रकार का नेतृत्व प्रदान कर सके जिससे कि समन्वय तथा नियंत्रण के प्रबन्ध कार्यों का प्रभावशाली ढंग से सम्पादन किया जा सके।

बुरे संगठन के दोष - "कमजोर संगठन संरचना के अन्तर्गत उत्तम निष्पादन की आशा रखना व्यर्थ है चाहे प्रबन्धक व्यक्तिगत रूप से कितने ही उत्तम क्यों न हो।"

एक कमजोर संगठन में निम्न दोष पाये जाते हैं-

1. समन्वय का अभाव
2. औपचारिकता की भरमार तथा लालफीताशाही का बोलबाला।
3. उपक्रम के विभिन्न विभागों में असन्तुलन।
4. केन्द्रीयकरण की प्रवृति को बढ़ावा।
5. अधिकारों के भरार्पण का अभाव।
6. अधिकार तथा उत्तरदायित्व में साम्य का अभाव।
7. उपक्रम में अव्यवस्था का पाया जाना।
8. प्रतिभा के विकास में बाधा।
9. उच्च प्रबन्धकों का नैत्यिक कार्यों में फँसे रहना।
10. निर्णय लेने में अधिक समय लगना तथा निर्णयों के स्तर में गिरावट।
11. मनोबल का निम्नस्तर।
12. सरल संगठन तालिका के स्थान पर जटिल संगठन तालिका का निर्माण करना।
13. कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का अपरिभाषित रह जाना।
14. अनेको क्रियाओं की पुनरावृति तथा एक ही क्रिया के सम्पादन में अनेक कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों का प्रयत्नशील रहना।
15. उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति में असमर्थता का अनुभव करना।

कुसंगठन के लक्षण - कुसंगठन की पहचान निम्न लक्षणों से की जा सकती है-

1. **प्रबन्ध के स्तरों में वृद्धि -** एक कुसंगठन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है प्रबन्ध के स्तरों में वृद्धि। प्रबन्ध के स्तरों में वृद्धि के फलस्वरूप उद्देश्यों में संभ्रान्ति का उत्पन्न होना तथा उनकी अस्पष्टता, कमजोर निष्पादकों को न हटाया जाना तथा अति केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का बढ़ना। इस प्रकार संगठनों में समन्वयकों, सहायकों तथा त्वरित रूप से कार्य निपटाने के लिए

विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। इन अधिकारियों का स्वयं का कार्य-क्षेत्र अस्पष्ट होता है तथा इनसे यह आशा की जाती है कि ये अधिकारी अपने उच्चाधिकारियों के काम को निपटाने में सहायता करेंगे तथा नैतिक क्रियाओं से छुटकारा दिलाकर उच्च प्रबन्धकीय कार्यों के लिए अधिक समय निकाल पाने में सहायक होंगे।

2. **औपचारिकताओं में वृद्धि -** कुसंगठन का दूसरा लक्षण है औपचारिकता में बढ़ोतरी तथा संगठन तालिका में दिखाई गई वाहिकाओं के माध्यम से ही कार्य सम्पादन करने की प्रवृत्ति का पाया जाना। परिणामस्वरूप कार्य में अनावश्यक विलम्ब होता है और कार्य निष्पादन का उचित स्तर नहीं बनाये रखा जा सकता है।

3. **प्रबन्धकों की आयु संरचना का लून-पार्श्व होना -** इस प्रकार के संगठन में किसी भी समय संवैधानिक आपत्ति उत्पन्न हो सकती है। किसी भी संगठन के लिए आयु संरचना का लून-पार्श्व होना घातक है, चाहे यह प्रवृति अधिक आयु की ओर हो अथवा कम आयु की ओर। संगठन में प्रबन्धकों की आयु सन्तुलनता पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। संगठन में युवा तथा वृद्ध सभी आयु के व्यक्तियों का होना आवश्यक है। वृद्ध प्रबन्धक जहाँ एक ओर अनुभव प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर युवा प्रबन्धकों के पदोन्नति के मार्ग को भी प्रशस्त करते हैं। युवा प्रबन्धकों के माध्यम से संगठन में 'नये रक्त का संचार होता है तथा उपक्रम में निरन्तरता बनी रहती है।

संगठन के लिए आवश्यक कदम - किसी भी उपक्रम के संगठन का निर्माण करने के लिए जो आवश्यक कदम उठाये जाते हैं, वे निम्न प्रकार से हैं-

1. **उद्देश्यों का निर्धारण करना -** संगठन-प्रक्रिया का प्रथम कदम संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण करना है। संस्था के उद्देश्यों के निर्धारण के अभाव में संगठन का कोई महत्व नहीं रहता। वास्तव में संगठन का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं होता, यह (संगठन) तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है। टेरी का मानना है कि 'संगठन कोई रामबाण औषधि नहीं है जिसको सभी उपक्रमों में एक निश्चित मात्रा में प्रयोग किया जा सके। ' संगठन का प्रयोग तो संस्था के उद्देश्यों के अनुरूप किया जाता है, अतएव संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण परमावश्यक है।

2. **कार्यो को परिभाषित करना -** सर्वप्रथम संस्था द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्यों को परिभाषित किया जाता है। कार्यों को परिभाषित करते समय संस्था के उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। प्रत्येक कार्य को उपकार्यो में विभाजित किया जाता है जिससे कि उसे कर्मचारियों में बाँटा जा सके और उनका दायित्व निर्धारित किया जा सके।

3. **क्रियाओं को श्रेणीबद्ध करना -** समान प्रकृति अथवा सम्बन्धित क्रियाओं को श्रेणीबद्ध किया जाता है। क्रियाओं के श्रेणीबद्ध करने से विभागों तथा उपविभागों का निर्माण होता है। श्रेणीबद्ध करने के लिए संस्था के उद्देश्यों, ग्राहकों की प्रकृति, भौगोलिक क्षेत्र, उत्पादन विधि, कच्चे माल के साधन तथा उपलब्धि आदि को आधार बनाया जाता है।

4. **कर्मचारियों के मध्य कार्य का विभाजन -** क्रियाओं को श्रेणीबद्ध करने के उपरान्त अगला कदम है, कार्यों का कर्मचारियों के मध्य विभाजन करना। कार्य विभाजन में कर्मचारियों की रुचि, शारीरिक क्षमता, शैक्षणिक योग्यता, कार्य-अनुभव आदि को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

5. **अधिकारों का प्रत्यायोजन -** कर्मचारियों के मध्य कार्य वितरण द्वारा उन्हें कार्य सम्पादन व उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता है। उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए उत्तरदायित्व के अनुरूप अधिकार भी कर्मचारियों को सौंपे जाने चाहिए।

6. **समन्वय -** संगठन संरचना की अन्तिम प्रक्रिया है विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करना, जिससे कि उपक्रम के समस्त विभाग एकजुट होकर संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील हो सके। विभिन्न विभागों के बीच सम्बन्धों को परिभाषित करना ही संगठन प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी होती है।

3.8 सिद्धान्त :

विक्सबर्ग ने संगठन संरचना के लिए 'एकरूपता' के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

एकरूपता का सिद्धान्त-

(1) उत्पादन अथवा सेवाओं,

(2) निष्पादन की जाने वाली क्रियाओं,

(3) भौगोलिक सहवर्तिता,

(4) प्रयोग में ली जाने वाली तकनीक अथवा प्रक्रियाओं, अथवा

(5) ग्राहकों के लक्षणों पर आधारित हो सकता है।

'एकरूपता' के सिद्धान्त के पश्चात् संगठन संरचना करते समय 'संतुलन' के सिद्धान्त को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत

(1) तकनीकी प्रक्रियाओं की आवश्यकता,

(2) व्यक्तियों तथा समूहों के बीच अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों, तथा

(3) निष्पादन की जाने वाली प्रबन्धकीय क्रियाओं (तीनो) के मध्य सन्तुलन रखना आवश्यक होता है।

इस सिद्धान्त को अग्र चित्र द्वारा सुगमता से समझाया जा सकता है -

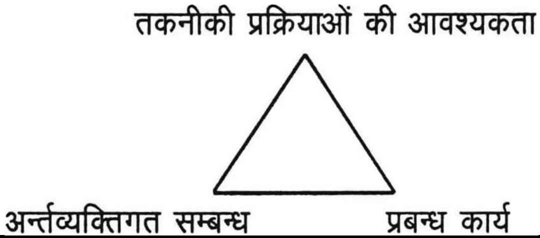

3.9 आधार :

संगठन संरचना का कोई एक स्वरूप सभी संस्थाओं के लिए निर्धारित नहीं है। मैक्फारलैंड लिखते हैं कि संगठन संरचनाओं में स्थिरता की धारणा वास्तव में भ्रामक है। संगठन संरचना कई घटकों पर विचार करके निर्धारित की जानी चाहिए।

"गलत संगठन संरचना व्यवसाय की कार्यक्षमता को भयंकर रूप से प्रभावित कर देती है और यहाँ तक कि गलत संरचना व्यवसाय का विनाश भी कर सकती है।" अत: संगठन संरचना

का निर्माण करते समय विभिन्न बातों पर विचार करना चाहिए। संगठन संरचना को निम्नलिखित बातें प्रभावित कर सकती हैं-

1. **संस्था के उद्देश्य** - **आर.सी. डेविस** ने भी लिखा है कि संस्था के उद्देश्य संगठन संरचना के प्रमुख निर्धारक तत्व हैं। उद्देश्यों से कर्मचारियों की क्रियाओं का निर्धारण होता है, जिनके निष्पादन हेतु संगठन संरचना तैयार की जाती है।
2. **संस्था का आकार -** संस्था का आकार भी संरचना को प्रभावित करने वाला प्रमुख घटक है। बड़े उपक्रम में विशिष्टीकरण व विकेन्द्रीकरण पर बल दिया जाता है जबकि छोटी संस्था में केन्द्रीय संगठन संरचना अपनाई जाती है।
3. व्यवसाय की प्रकृति - संस्था के व्यवसाय अथवा कार्य की प्रकृति भी संगठन संरचना को प्रभावित करती है। उद्योगों की प्रकृति व्यावसायिक, निर्माणी अथवा सज्जीकरण की हो सकती है। प्राय: औद्योगिक क्रियाओं में संलग्न उपक्रमों की संगठन संरचना कार्यो के आधार पर निर्मित होती है।
4. **तकनीक -** जैसे-जैसे तकनीकी जटिलता बढ़ती है, वैसे-वैसे संगठन में स्तर बढ़ते हैं, इससे न केवल प्रबन्धकों व पर्यवेक्षकों की संख्या बढ़ती है, वरन् कर्मचारियों की पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ जाती है। फलस्वरूप, संगठन संरचना प्रभावित होती है।
5. **व्यूहरचना -** प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में साधनों, लक्ष्यों, यंत्रों, प्रविधियों व अभिन्यास के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली व्यूहरचना भी एक उपक्रम के संगठन ढाँचे को प्रभावित करती है। अल्फ्रेड डी. चांडलर ने लिखा है कि संगठन संरचना व्यूहरचना का अनुगमन करती है।'
6. **कर्मचारियों की योग्यता -** यदि संस्था के कर्मचारी अत्यन्त योग्य एवं निपुण हैं तो व्यवसाय के संचालन में विशेषज्ञों की सेवाओं को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होगी तथा संगठन में रेखा प्रारूप को अपनाया जा सकता है। किन्तु इसके विपरीत विशेषज्ञ कर्मचारियों की नियुक्ति के अनुरूप किसी उपयुक्त संरचना का निर्माण करना पड़ेगा।
7. **प्रबन्धकीय दृष्टिकोण -** जहाँ प्रबन्धकों का दृष्टिकोण एकाकी नियंत्रण व निर्देशन का होता है वहाँ संगठन का ढाँचा सरल होगा। किन्तु स्वायत्त इकाइयों व विकेन्द्रीकरण को महत्व देने वाले प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को अधिकाधिक सत्ता सौंपना चाहते हैं, अत: उनकी संगठन रचना जटिल व विस्तृत होगी।
8. **वातावरण -** संगठन संरचना फर्म के बाहय वातावरण से प्रभावित होती है। 'गतिशील वातावरण में कार्य करने वाली फर्मों का संगठन लोचशील होना चाहिए जबकि स्थिर वातावरण में कार्य करने वाली फर्मों की संगठन संरचना कठोर होनी चाहिए।'
9. **बाजार की स्थिति -** संगठन संरचना पर बाजार के प्रकार एवं स्थिति का भी बहु त प्रभाव पड़ता है। बाजारों का आकार सीमित होने पर संगठन संरचना को छोटा रखना होगा। किन्तु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों की दशा में संगठन का ढाँचा विस्तृत एवं व्यापक होगा।
10. **विक्रय नीतियाँ -** विक्रय के क्षेत्र में जो संस्थायें रक्षात्मक विक्रय नीति के आधार पर कार्य करती है उनकी संगठन संरचना अपेक्षाकृत छोटी व सरल होती है। लेकिन कुछ फर्में आक्रामक

विक्रय नीति को अपनाती हैं, अत: बाजार पर नियंत्रण करने की दृष्टि से उन्हें संगठन संरचना को विस्तृत बनाना होता है।

3.10 उदाहरण

एक उपक्रम के लिए संगठन संरचना का वही महत्त्व होता है जो महत्त्व मानव शरीर में हड्डियों का होता है। जिस तरह किसी व्यक्ति की हड्डियाँ कमजोर होने पर वह व्यक्ति शक्तिशाली नहीं हो सकता उसी प्रकार संगठन संरचना दुर्बल होने पर उपक्रम भी दुर्बल होता है। किसी उपक्रम की संगठन संरचना की तुलना किसी भवन के नक्शे से की जा सकती है। भवन जितना बड़ा तथा जितना अधिक सुविधाओं वाला बनाना होता है उसी के अनुसार उसका नक्शा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है तथा शिल्पकार को नक्शे को बनाने में अनेक बातों पर ध्यान देना होता है जैसे भवन निर्माण विधियों की प्रकृति, विशिष्ट सुविधाओं का आयोजन, वैकल्पिक भवन निर्माण विधियों की प्रकृति, भवन निर्माण की लागत आदि।

3.11 सारांश :

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि एक उपक्रम की संगठन संरचना का निर्माण बहुत अधिक सोच-समझकर किया जाना चाहिए। संगठन संरचना संगठन में कार्य करने वाले व्यक्तियों तथा उनके कार्यो को प्रभावित करती है तथा व्यक्तियों से स्वयं भी प्रभावित होती है। संगठन संरचना उस प्रारूप का कार्य करती है जिनके अनुसार संस्था के प्रशासनिक सम्बन्ध स्थापित एवं निश्चित किये जाते हैं।

3.12 प्रश्न :

1. संगठन संरचना के इतिहास की व्याख्या करते हुए उसके उद्देश्यों व अर्थ को समझाइये।
2. संगठन संरचना की परिभाषा देते हुए कार्य प्रणाली को समझाइये।
3. संगठन संरचना के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. संगठन संरचना का अर्थ समझाते हुए संगठन संरचना को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
5. संगठन संरचना में सन्तुलित किये जाने वाले घटकों को समझाइये।
6. संगठन के लिए आवश्यक कदम को समझाते हुए, संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों के बारे में बताइये।

3.13 उपयोगी पुस्तकें :

1. डॉ. एम.डी. अग्रवाल (प्रबन्धशास्त्र)
2. डॉ. आर.एल. नौलखा (प्रबन्ध)

इकाई-4: संगठन प्रकार एवं औपचारिक व अनौपचारिक संगठन (Types of Organization and Formal and Informal Organization)

इकाई की रूपरेखा :

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 इतिहास एवं विकास
4.3 अर्थ एवं परिभाषा
4.4 आवश्यकता
4.5 गुण एवं दोष
4.6 प्रकार
4.7 अन्य विषयों से संबंध
4.8 सिद्धान्त
4.9 कार्य
4.10 सारांश
4.11 अभ्यास
4.12 उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- औपचारिक और अनौपचारिक संगठन के इतिहास एवं विकास को समझ सकेंगे।
- औपचारिक और अनौपचारिक संगठन का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।
- औपचारिक और अनौपचारिक संगठन की आवश्यकता तथा गुण एवं दोष का वर्णन कर सकेंगे।
- औपचारिक और अनौपचारिक संगठन के विभिन्न प्रकार और अन्य विषयों से सम्बन्ध को समझ पाएंगे
- संगठन संरचना के विभिन्न सिद्धान्तों एवं आधारों को समझ सकेंगे।
- औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन के सिद्धान्तों एवं विभिन्न कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना :

संगठन का ढांचा औपचारिक तथा अनौपचारिक हो सकता है। औपचारिक संगठन की दशा में संस्था के कर्मचारियों के कार्य-क्षेत्र एवं स्तर को निश्चित करके उनके कार्यो, अधिकारों, दायित्वों एवं आपसी संबंधों की सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता है। इसके विपरीत अनौपचारिक संगठन की दशा में कर्तव्यों, अधिकारों, दायित्वों एवं आपसी सम्बन्धों की रचना सोच-समझकर या जान बूझकर नहीं की जाती। ऐसा संगठन व्यक्तियों के आपसी मेल-जोल

एवं पारस्परिक सम्बन्धों के कारण अपने आप ही बन जाता है। इस प्रकार औपचारिक संगठन में लोगों के अधिकार, कर्तव्य एवं दायित्व निश्चित होते हैं जिनकी सीमाओं के बाहर वे नहीं जा सकते। किन्तु अनौपचारिक संगठन में कर्तव्यबद्धता नहीं होती है। फिर जहाँ औपचारिक संगठन में नियमों नीतियों तथा कार्य-विधियों का कठोरता से पालन किया जाता है, वहाँ दूसरी ओर अनौपचारिक संगठन में कार्य करने के कोई नियम नहीं होते।

4.2 इतिहास एवं विकास :

अधिकांश व्यावसायिक उपक्रमों में औपचारिक संगठन ही दिखायी देता है। औपचारिक संगठन वह संगठन होता है जिससे संगठन के प्रत्येक स्तर पर अवस्थिति अधिकार एवं उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या अथवा परिभाषा कर दी जाती है। औपचारिक संगठन में अधिकार उच्च स्तर से नीचे के स्तरों की ओर भारार्पण किये जाते है। अधिकांश व्यावसायिक उपक्रमों में औपचारिक संगठन हमें दिखायी देते हैं पर औपचारिक संगठन में अनेक अनौपचारिक संगठन भी कार्यशील होते हैं जो प्राय: हर व्यक्ति को नहीं दिखाई देते। इस प्रकार के अनौपचारिक संगठन व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा औपचारिक संगठन संरचना में विभिन्न स्तर के कर्मचारियों के मध्य की दूरी पाटने के लिए स्थापित होते हैं।

4.3 अर्थ एवं परिभाषा :

औपचारिक संगठन में प्रत्येक स्तर पर अवस्थिति, दायित्व, सत्ता तथा उत्तरदेयता को स्पष्टतया परिभाषित किया जाता है। इस प्रकार के संगठन में सत्ता का भारार्पण ऊपर से नीचे की ओर किया जाता है। इस प्रकार की संगठन रचना अवस्थितियों के आधार बिन्दु मानकर की जाती है। अनौपचारिक संगठन से आशय एक ऐसे संगठन से है जिसकी संरचना व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर होती है। अनौपचारिक संगठनों में व्यक्ति स्वतंत्र होता है और अपनी इच्छा एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर संगठन की संरचना करता है।

"किसी संगठन को उस स्थिति में औपचारिक माना जायेगा जबकि दो या दो से अधिक व्यक्तियों से क्रियाओं को चेतनापूर्वक निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु समन्वित किया जाए।"

-- चेस्टर आई. बरनार्ड

"पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु शासकीय अनुमति द्वारा बनाया गया संगठन ही औपचारिक संगठन है।" -- टेरी

"बिना चेतनापूर्वक संयुक्त उद्देश्य निर्धारित किये हुए यदि कोई भी संयुक्त वैयक्तिक कार्य किया जाये तो उसे अनौपचारिक संगठन माना जायेगा। यह संभव है कि इस प्रकार के संगठन द्वारा संयुक्त परिणामों की प्राप्ति में योगदान प्राप्त हो जाए।" -- बरनार्ड

"प्रत्येक संस्था में औपचारिक सम्बन्धों के आचरण के नीचे एक जटिल सामाजिक सम्बन्धों का जाल बिछा रहता है। इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों को अनौपचारिक संगठन के नाम से जाना जाता है।" -- कीथ डेविस

4.4 आवश्यकता :

औपचारिक संगठन की निम्न आवश्यकताएँ हैं:-

1. यह पूर्णत: अव्यक्तिगत होता है।
2. यह अधिकारों के प्रत्यायोजन के आधार पर बनाया जाता है।
3. इसमें प्रत्येक स्तर के अधिकारियों के अधिकारों, कर्तव्यों एवं अवस्थितियों को स्पष्टतया परिभाषित किया जाता है।
4. इसमें अधिकारों का प्रत्यायोजन ऊपर से नीचे की ओर होता है।
5. इसमें संगठन चार्टों का प्रयोग किया जाता है।
6. इसमें श्रम विभाजन संभव होता है।

अनौपचारिक संगठन की आवश्यकता :-

1. ये संगठन औपचारिक संगठन के पूरक होते हैं।
2. ये संगठन स्वत: बनते हैं।
3. प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर इस प्रकार के संगठन पाये जाते हैं।
4. ऐसे संगठन सामाजिक संगठन होते हैं जो व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति में मदद करते हैं।
5. ऐसे संगठनों का निर्माण सामाजिक समूहों के आपसी सम्बन्धों. रीति-रिवाजों आदि के द्वारा होता है।
6. ऐसे संगठनों के लिए यद्यपि नियम लिखित में नहीं होते हैं फिर भी इनकी अपनी परम्परायें एवं नियम होते हैं जिनका सामान्यत: पालन किया जाता है।
7. ऐसे संगठनों का संगठन चार्ट में कोई स्थान नहीं होता है।

4.5 गुण-दोष :

औपचारिक संगठन के प्रमुख गुण निम्न हैं -

1. सत्ता, अधिकारों, अवस्थितियों, दायित्वों एवं उत्तरदेयता के स्पष्ट रूप से परिभाषित होने से कार्य निष्पादन कुशलता से होता है।
2. इसमें किसी कार्य के छूट जाने अथवा अतिछादन की स्थिति उत्पन्न नहीं होती।
3. इसमें अन्तर्व्यक्तिगत टकराहट न्यूनतम रह जाती है।
4. इसमें कोई भी व्यक्ति अपनी असफलता का दोषारोपण किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं कर सकता।
5. इसमें विभिन्न व्यक्तियों एवं अवस्थितियों के मध्य सम्बन्धों को संगठनात्मक चार्ट के माध्यम से सुगमता से दर्शाया जा सकता है।
6. इस प्रकार के संगठन से संगठनों के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता मिलती है।
7. इसमें प्रबन्ध के विभिन्न सिद्धान्तों को अपनाने के फलस्वरूप संगठनात्मक कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

अनौपचारिक संगठन के गुण:-

1. अनौपचारिक संगठन, औपचारिक संगठनों के पूरक होते हैं। अन्य शब्दों में वे औपचारिक संगठन की कमियों अथवा दोषों को दूर करते हैं।
2. ये कर्मचारियों को सन्तुष्टि प्रदान करते हैं।
3. ये संगठन कर्मचारियों को कार्य के प्रति प्रेरणा प्रदान करते हैं।

4. ऐसे संगठनों में सहयोग की भावना अधिक होती है।

5. ये संगठन निर्बाध सन्देशवाहन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

6. इस प्रकार के संगठनों में कर्मचारियों में आपसी सम्बन्ध मधुर होते हैं।

7. इस प्रकार के संगठनों में कर्मचारी अपनी अधिकतम कार्य-क्षमता का उपयोग करते हैं।

औपचारिक संगठन के दोष :-

1. इसमें यांत्रिक रूप से कार्य किया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि संगठन में कार्य करने वाले व्यक्तियों की पहलशक्ति क्षीण हो जाती है।

2. व्यक्तियों एवं संगठन के उद्देश्यों में सर्वांगसमता का सामान्यतया अभाव पाया जाता है, फलस्वरूप संगठन के हितों की अनदेखी की जाती है।

3. औपचारिक संगठन के कारण अनौपचारिक सम्बन्धों के विकास एवं संवहन में बाधा उत्पन्न होती है।

4. यह संगठन समन्वय एवं नियंत्रण की समस्या को जन्म देता है।

5. यह संगठन कार्यरत व्यक्तियों में कुण्ठा एवं नैराश्य-भावना जाग्रत करता है।

अनौपचारिक संगठन के दोष :-

1. अनौपचारिक समूह एवं संगठन के उद्देश्यों में सर्वांगसमता के अभाव में आपसी संघर्ष बढ़ जाता है।

2. ये संगठन परिवर्तन का विरोध करते हैं।

3. ये संगठन अफवाहों को फैलाने में सहायता प्रदान करते हैं।

4. ये संगठन कर्मचारियों को अनौपचारिक समूह के द्वारा स्थापित प्रतिमानों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करते हैं।

5. ऐसे संगठन उत्पादकता में वृद्धि की योजनाओं को निष्क्रिय बना देते हैं।

4.6 प्रकार :

सामान्यत: संगठन संरचना के निम्नलिखित प्रमुख प्रारूप हैं -

1. अधिकार सम्बन्धों के आधार पर -

   (1) रेखा संगठन

   (2) रेखा एवं कर्मचारी संगठन

2. विभागों के संगठन के आधार पर -

   (3) क्रियात्मक संगठन

   (4) सम्भागीय संगठन

   (5) समिति संगठन

3. अनुकूली संगठन संरचनायें -

   (6) परियोजना संगठन

   (7) आव्यूह संगठन

   (8) कार्य बल एवं दल

(9) प्रणाली परिकल्पना

(10) प्रारूप-मुक्त संगठन

(11) उच्च-स्तरीय बहु-नेतृत्व

(12) सम्बद्धकारी पिन संरचना

4. अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के आधार पर -

(13) औपचारिक संगठन

(14) अनौपचारिक संगठन

1. रेखा संगठन - रेखा संगठन फर्म के विभिन्न स्तरों के मध्य प्रत्यक्ष एवं शीर्ष सम्बन्धों को दर्शाता है। इसमें अधिकार-सत्ता का प्रवाह सीधा उच्च स्तर से निम्न स्तरों की ओर तथा दायित्वों का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर रहता है। अर्थात् अधिकारों का हस्तान्तरण महा-प्रबन्धक द्वारा विभिन्न अधिकारियों के माध्यम से निम्न पदों तक किया जाता है। कार्य के निष्पादन एवं परिणामों के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने से ऊपर वाले व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी रहता है।

रेखा संगठन संगठन संरचना का सबसे पुराना एवं सरल प्रारूप है। इसे सैनिक संगठन, लम्बवत संगठन अथवा विभागीय संगठन आदि कई नामों से भी जाना जाता है।

"रेखा संगठन का आशय उन प्रत्यक्ष लम्बवत् सम्बन्धों से है जो प्रत्येक स्तर के पदों एवं कार्यो को उनके ऊपर और नीचे के पदों एवं कार्यो से जोड़ते हैं।" -- मैकफारलैंड

"रेखा संगठन वह आदेश श्रृंखला है जो संचालक मण्डल से अधिकारों एवं दायित्वों के कई भारार्पण तथा पुनर्भारार्पण के माध्यम से उस बिन्दु तक पहुँचती है जहाँ कम्पनी की मुख्य क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं।" -- ऐलन

एक व्यक्ति अपने ही स्तर के व्यक्तियों को न आदेश देता है और न उससे आदेश प्राप्त ही करता है, जैसे दो समान पद वाले अधीक्षक एक-दूसरे को आदेश नहीं देते हैं।

लक्षण - रेखा संगठन के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित -

1. इस प्रकार के संगठन में विशिष्टीकरण संभव नहीं होता है।
2. एक अधिकारी के अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या प्राय: सीमित होती है।
3. अधिकार-सत्ता एक सीधी रेखा के रूप में प्रवाहित होती है।
4. इसमें नियोजन व क्रियान्वयन के कार्य पृथक-पृथक नहीं होते हैं।
5. यह एक जंजीर के रूप में होता है।
6. इस संगठन में आदेश रेखाबद्ध रूप से ऊपर से नीचे की ओर चलते हैं।
7. प्रत्येक कर्मचारी या अधीनस्थ अपने निकटतम अधिकारी से आदेश प्राप्त करता है।
8. इसमें अधिकारियों एवं अधीनस्थों के बीच लम्बवत् सम्बन्ध होते हैं।
9. सभी आदेश केवल एक ही व्यक्ति के द्वारा जारी किये जाते हैं।

प्रकार - रेखा संगठन दो प्रकार का होता है-

(i) शुद्ध रेखा संगठन, तथा

(ii) विभागीय रेखा संगठन।

(i) **शुद्ध रेखा संगठन -** रेखा संगठन के प्रारूप में एक ही स्तर पर कार्य करने वाले सभी कर्मचारियों की क्रियायें लगभग समान प्रकार की ही होती हैं तथा इन क्रियाओं को प्राय: नियंत्रण की सुविधा की दृष्टि से ही वर्गीकृत किया जाता है। शुद्ध रेखा संगठन का प्रारूप आजकल बहुत ही कम उपयोग में आता है।

(ii) **विभागीय रेखा संगठन -** विभागीय रेखा संगठन के अन्तर्गत एक संस्था की विभिन्न क्रियाओं को विभिन्न विभागों के रूप में वर्गीकृत कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, संस्था की क्रियाओं को उत्पादन, वित्त, विक्रय, कार्यालय, सेविवर्गीय आदि भागों में विभक्त किया जा सकता है। यह प्रत्येक विभाग एक अलग प्रकृति का कार्य करता है जिसके लिए आदेश एवं निर्देश सर्वोच्च अधिकारियों से प्राप्त होते हैं। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष या मुखिया होता है जो अपने विभाग के कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है। वर्तमान में शुद्ध रेखा संगठन की तुलना में यह प्रारूप ही प्रचलन में है।

रेखा संगठन के लाभ -

1. इसमें दायित्व से बचना संभव नहीं है।
2. प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।
3. शीघ्र संदेशवाहन संभव होता है।
4. कार्यो में समन्वय करना सुगम होता है।
5. लालफीताशाही नहीं पायी जाती है।
6. कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क करना सुगम होता है।
7. यह संगठन को स्थायित्व प्रदान करता है।
8. एकात्म नियंत्रण बना रहता है।
9. प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है।
10. यह संगठन संरचना का सरल प्रारूप है।
11. इस संगठन में पूर्णत: मितव्ययिता बनी रहती है।
12. इसमें लोच रहती है जिससे आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना सरल होता है।

रेखा संगठन के दोष :- संगठन की यह संरचना सर्वथा दोषमुक्त नहीं है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं:-

1. एकाकी तथा शीघ्रता में लिये गये निर्णय कभी-कभी हानिप्रद सिद्ध होते हैं।
2. यह संरचना एकतंत्रीय प्रणाली पर आधारित होती है अत: शीर्ष प्रबन्धक की अनुपस्थिति में संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है।
3. ऐसे संगठनों में विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ नहीं उठाया जा सकता है।
4. नियोजन, अनुसंधान तथा विकास जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का अभाव होता है।
5. पर्याप्त विशिष्टीकरण का अभाव रहता है।
6. बड़े व्यवसायों के लिए यह संरचना अनुपयुक्त होती है।
7. प्रबन्धक पर दायित्वों का अधिक भार रहता है।
8. सामान्यत: ऐसे संगठन अपरिवर्तनीय होते हैं।

9. अधीनस्थों में बहुत अधिक प्रबन्धकीय गुणों का विकास नहीं हो पाता है।
10. व्यक्तियों में कई प्रबन्धकीय गुणों की आवश्यकता होती है। ऐसे योग्य व्यक्तियों का मिलना कठिन होता है।
11. अधीनस्थों की कार्य स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

2. **रेखा एवं कर्मचारी संगठन -** जब बढ़ती हुई व्यावसायिक जटिलताओं के परिणामस्वरूप रेखा संगठन अनुपयुक्त सिद्ध होने लगा तो रेखा तथा कर्मचारी संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। इस संगठन में रेखा अधिकारियों को परामर्श देने के लिए कुछ विशिष्ट कर्मचारी रखे जाते हैं। इस संगठन का विवेचन करने से पूर्व हम रेखा एवं कर्मचारी संबंधों की विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

कर्मचारी संकल्पना का विकास - जब रेखा अधिकारियों के पास कार्य का आधिक्य होने लगा तो उन्हें अपने कार्य में सेवा, परामर्श, अनुसंधान, चिन्तन, कार्य, निष्पादन आदि के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियों की आवश्यकता हुई। संगठन में कर्मचारी की संकल्पना अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि प्रारम्भ में सैनिक एवं राजनैतिक संगठनों में ही विशेषज्ञ कर्मचारियों को रखा जाता था। बाद में व्यावसायिक जटिलताओं एवं वृहत् संगठनों के विकास के कारण व्यावसायिक संस्थानों में भी विशिष्ट कर्मचारियों की नियुक्ति प्रारंभ हुई।

"कर्मचारी अधिशासी वह व्यक्ति है जो रेखा संचालकीय प्रबन्धकों तथा उनकी इकाइयों को संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देने के लिए परामर्श, सलाह एवं विशिष्ट ज्ञान उपलब्ध कराने की भूमिका निभाता है।" --विलियम ग्लूक

कर्मचारी के विशिष्ट स्वरूप - विशिष्ट कर्मचारियों को निम्न तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-

1. वैयक्तिक कर्मचारी,
2. विशिष्ट कर्मचारी तथा
3. सामान्य कर्मचारी।

(1) वैयक्तिक कर्मचारी :- वैयक्तिक कर्मचारी प्राय: उच्चस्तरीय प्रबन्धक के साथ सम्बद्ध होते हैं तथा इन्हें विभिन्न नामों से जैसे- निजी सहायक, विशेष सहायक, निजी सचिव. अधिशासी सहायक, प्रशासनिक सहायक आदि नामों से पुकारा जाता है। ये कर्मचारी अपने प्रधान की उसके कार्यो के निष्पादन में सहायता करते हैं। ये कर्मचारी अपने अधिशासी प्रबन्धक द्वारा प्रत्यायोजित कार्यो का निष्पादन करते हैं अथवा अपने अधिकारी को सामान्य प्रकार की सेवायें अथवा सहायता प्रदान करते हैं। इससे अधिकारी दैनिक प्रकृति के कार्यों में व्यस्त न होकर प्रबन्धकीय कार्य पर अधिक ध्यान दे सकता है। व्यक्तिगत कर्मचारी प्राय: ऐसे कार्यो को करते हैं, जैसे अपने मालिक के लिए भेंट तय करना, दैनिक पत्र-व्यवहार करना, सभाओं के लिए आवश्यक प्रपत्र तैयार करना व कार्यवाहियाँ करना, भाषण तैयार करना, वर्तमान घटनाओं के बारे में उसे तथ्य बतलाना, सूचनाएँ एकत्रित करना तथा अन्य गैर-पर्यवेक्षकीय कार्य करना। ये कार्य संगठन एवं समय के अनुसार बदलते रहते हैं।

व्यक्तिगत कर्मचारी अपने अधिकारी के केवल व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। इनके अधिकार पद के साथ जुड़े हुए नहीं होते वरन् अधिकारी द्वारा सौंपे जाते हैं। व्यक्तिगत कर्मचारियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(A) रेखा सहायक, तथा

(B) कर्मचारी सहायक

(A) रेखा सहायक - ये कर्मचारी अपने अधिकारी की अनुपस्थिति में अधिकारी के स्थान पर कार्य करते हैं और अपने अधिकारी को सभी प्रबन्धकीय कार्यों जैसे नियोजन, संगठन, समन्वय, उत्प्रेरण, नियंत्रण आदि में सहायता करते हैं।

(B) कर्मचारी सहायक - ये अपने अधिकारी को सहायता, सेवा अथवा परामर्श प्रदान करते हैं, जैसे टेलीफोन संभालना, पत्र टंकित करना, अधिकारी से मिलने के इच्छुक व्यक्तियों का समय निर्धारित करना आदि। यह उल्लेखनीय है कि ये सहायक अपने अधिकारी के अधीनस्थों के कार्यों का पर्यवेक्षण करने का अधिकार नहीं रखते हैं।

(2) विशिष्ट कर्मचारी - विशिष्ट कर्मचारी विशिष्ट क्षेत्रों जैसे लेखांकन, सेविवर्गीय क्रय आदि का विशेष ज्ञान, कौशल एवं अनुभव रखते हैं। ये अपने-अपने क्षेत्र के दक्ष विशेषज्ञ होते हैं। यह स्वरूप कर्मचारी अधिकार सम्बन्धों का प्रतिविधिक है। विशिष्ट कर्मचारियों के निम्न लक्षण होते है:

1. इनकी सेवायें अथवा परामर्श कार्य एक-एक विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं।
2. इनकी सेवायें उपक्रम के सभी विभागों को उपलब्ध होती है।
3. इनकी सत्ता के तीन प्रकार होते हैं - (अ) सेवा सत्ता- विशिष्ट सेवा प्रदान करने की शक्ति होना (ब) परामर्श सत्ता- विशिष्ट समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करने की सत्ता होना, तथा (स) क्रियात्मक सत्ता-किसी क्रियात्मक क्षेत्र में निर्णय लेने का अधिकार एवं सत्ता होना।
4. ये अपने स्वयं के विभाग को छोड़कर अन्य किसी को भी आदेश प्रदान करने का अधिकार नहीं रखते हैं।

उल्लेखनीय है कि जब विशिष्ट सेवायें किसी एक व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहती हैं तो इन्हें व्यक्तिगत कर्मचारी सेवाएँ माना जायेगा। किन्तु यदि इन सेवाओं का लाभ सम्पूर्ण उपक्रम उठाता है तो इन्हें विशिष्ट कर्मचारी सेवाओं के अन्तर्गत शामिल किया जायेगा।

(3) सामान्य अथवा समन्वयकारी कर्मचारी - ये कर्मचारी विशेषज्ञों का एक समूह है जो संगठन के केन्द्रीय कार्यालय के साथ सम्बद्ध होता है। ये उच्च प्रबन्धकों को विशिष्ट क्षेत्रों में परामर्श एवं सहायता उपलब्ध कराते हैं। इस प्रकार के कर्मचारियों का प्रयोग प्राय: सेना में किया जाता है। इनका कार्य मुख्यालय तथा संभागों की क्रियाओं के मध्य समन्वय उत्पन्न करना होता है। ऊर्विक ने इन कर्मचारियों को निर्देशक तंत्र कहा है। व्यावसायिक संस्थाओं में ये कर्मचारी अपने मुख्य प्रबन्धक के व्यक्तित्व को उजागर करते हैं तथा उसके अधिकारों का अभिव्यक्तिकरण करते हैं। ये अपने प्रबन्धक के अधीनस्थों को आदेश प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

कर्मचारी कार्य- कर्मचारियों के विभिन्न स्वरूपों के अध्ययन के पश्चात् उनके प्रमुख कार्यों को जान लेना भी आवश्यक है। कर्मचारियों के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं :-

1. विशिष्ट क्षेत्रों में उपक्रम के भीतर तथा बाहर होने वाले विकास एवं घटनाओं के प्रति प्रबन्धकों को सूचित रखना।
2. विशिष्ट सहायता तथा सामान्य सेवाएँ प्रदान करना।
3. नीति एवं व्यवहार में लाये जाने वाले परिवर्तनों के संबंध में परामर्श देना तथा उनके क्रियान्वयन हेतु योजनाएँ बनाना।
4. हिसाब देयता बनाये रखना।
5. विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यों में पर्याप्त नियंत्रण एवं संतुलन बनाये रखना। संगठन में एक समतोलन बल की व्यवस्था करने में रेखा अधिकारियों की सहायता करना।
6. विशिष्ट क्षेत्र में नीतियों तथा व्यवहार का सतत् मूल्यांकन करना।
7. विशेष खोज एवं अनुसंधान के द्वारा नीतियों तथा व्यवहार में सुधार लाना।
8. अपनी योग्यताओं को विकसित करना एवं बनाए रखना।
9. रेखा प्रबन्धकों को विशिष्ट सेवाएँ एवं सलाह देना।

मूने ने कर्मचारियों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं को तीन भागों में बाँटा है-

(i) सूचनात्मक

(ii) परामर्शात्मक तथा

(iii) पर्यवेक्षकीय।

वस्तुतः कर्मचारियों के कार्य काफी विस्तृत हैं जिनके अन्तर्गत अनुसंधान, परामर्श, मार्गदर्शन, पूर्वानुमान, नियोजन, तथ्य संकलन, चिन्तन-मनन, नये विचारों का सृजन, प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण, समीक्षा, समन्वय, नियंत्रण आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

रेखा एवं कर्मचारी में टकराहट - संगठन की प्रगति रेखा एवं कर्मचारी दोनों वर्गों के समन्वित प्रयासों पर निर्भर करती है किन्तु प्रायः यह देखने में आता है कि रेखा एवं कर्मचारी वर्ग एक दूसरे को अपना विरोधी मानकर संगठन की असफलता के लिए एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हैं। दोनों के बीच यह टकराहट की स्थिति बन जाने के कारण क्या है, इस सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोण अग्र प्रकार है:-

रेखा दृष्टिकोण - कर्मचारी संगठन के संबंध में रेखा अधिकारी प्रायः निम्न प्रकार की शिकायतें करते है -

1. कर्मचारी संगठन में रेखा अधिकारों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।
2. कर्मचारी तर्कसंगत एवं उपयुक्त सलाह नहीं देते हैं।
3. सफलताओं का श्रेय कर्मचारी स्वयं लेना चाहते हैं।
4. वे रेखा अधिकारियों को पर्याप्त जानकारी प्रदान नहीं करते हैं।
5. कर्मचारी विशेषज्ञों का ज्ञान अव्यावहारिक, मात्र शैक्षणिक तथा अत्यधिक सैद्धान्तिक एवं अवास्तविक होता है।

6. कर्मचारी समस्या को समग्र ढंग से नहीं देख पाते हैं। वे अपने विशिष्ट ज्ञान के सीमित दायरे में ही उस पर विचार करते हैं तथा सम्पूर्ण उपक्रम के हितों को ध्यान में नहीं रखते।
7. कर्मचारी विशेषज्ञ अपने को श्रेष्ठ मानते हुए रेखा अधिकारियों पर अपनी श्रेष्ठता थोपने का प्रयास करते हैं।
8. कर्मचारी परिणामों के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होते हैं, अत: वे समस्याओं पर गंभीरता से विचार नहीं करते हैं।'

कर्मचारी दृष्टिकोण - दूसरी ओर, कर्मचारी विशेषज्ञ भी रेखा अधिकारियों के विरुद्ध अपना असंतोष व्यक्त करते हैं। अपने रुष्ट होने के वे निम्न कारण प्रस्तुत करते हैं -

1. रेखा अधिकारी कर्मचारी परामर्श का उपयुक्त लाभ नहीं उठाते हैं तथा ईर्ष्यावश उनके सुझावों को रह कर देते हैं।
2. कई बार रेखा अधिकारी प्रशंसा-पत्र भेजकर कर्मचारी विशेषज्ञों के मूल्यवान सुझावों को फाइल में बंद कर देते हैं।
3. रेखा अधिकारी सुझावों व विचारों में अधिकाधिक त्रुटियाँ ढूंढकर कर्मचारी विशेषज्ञों की परियोजना को अपरिपक्व, असंतुलित एवं अविवेकपूर्ण सिद्ध करने का झूठा प्रयास करते हैं।
4. रेखा अधिकारी कर्मचारी संगठन द्वारा प्रस्तुत नये विचारों का प्रतिरोध करते हैं।
5. रेखा अधिकारी विशेषज्ञ कर्मचारियों की योजनाओं को धराशायी करने के लिए कई बार उपेक्षा एवं स्थगन युद्धनीति अपनाते हैं।

रेखा तथा कर्मचारी के मध्य समन्वय एवं संगति उत्पन्न करना - यदि गंभीरता से देखा जाये तो रेखा एवं कर्मचारी के मध्य उत्पन्न विवादों के अधिकांश कारण बनावटी, निराधार व संभावित होते हैं, वास्तविक या आवश्यक नहीं। यदि वे खुले मस्तिष्क एवं निष्पक्ष दृष्टिकोण से एक-दूसरे के विचारों पर चिन्तन करें तो अपनी टकराहट, हित संघर्ष व वैमनस्य को दूर कर सकते हैं। वे समन्वयकारी दृष्टिकोण को अपनाकर अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में एक टीम की भाँति कार्य कर सकते हैं। संगठनात्मक स्वास्थ्य के लिए यह अति आवश्यक है कि वे एक दूसरे के प्रति सुमेल एवं सामंजस्य बनाये रखें। उनके बीच मतभेद दूर करने में अग्र सुझाव सहायक हो सकते हैं-

1. रेखा एवं कर्मचारी कार्यो, भूमिकाओं, दायित्वों, अधिकारों एवं कार्यक्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए। भूमिका संघर्ष की स्थिति को दूर किया जाना चाहिए।
2. कर्मचारी संगठन को रेखा द्वारा किये गये निवेदन पर ही परामर्श प्रदान करना चाहिए। किन्तु अति आवश्यक होने पर निवेदन की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।
3. रेखा अधिकारियों द्वारा परामर्श को अस्वीकार कर दिये जाने पर कर्मचारी वर्ग को इसे अपनी व्यक्तिगत मानहानि नहीं समझना चाहिए। परामर्श के लिए निवेदन करने तथा परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार रेखा अधिकारियों को होता है।

4. रेखा अधिकारियों को कर्मचारी सेवाओं का अधिकतम प्रभावी उपयोग करना चाहिए। आपत्ति होने पर रेखा अधिकारियों को कर्मचारी विशेषज्ञों से विचार-विमर्श कर अपनी भ्रान्तियाँ दूर कर लेनी चाहिए।
5. रेखा अधिकारी को चाहिए कि परामर्श सम्पूर्ण संगठन के हित में होने पर उसे अस्वीकार न करे तथा उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करे।
6. रेखा तथा कर्मचारी दोनों को परामर्श के विषय में मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में उच्च प्रबन्धकों से पुनरावेदन करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।
7. रेखा अधिकारियों को चाहिए कि वे अपने कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सभी सूचनाओं की जानकारी समय-समय पर कर्मचारी संगठन को देते रहे। इससे उपयुक्त परामर्श देने में सहायता मिलती है।
8. कर्मचारी संगठन को किसी भी सफलता के लिए केवल स्वयं को ही उत्तरदायी नहीं मानना चाहिए। कर्मचारियों को अपने व्यक्तितत्व का संगठन में पूर्णत: निमज्जन करने तथा यश प्राप्ति की कामना रखने की प्रवृत्ति का त्याग कर देना चाहिए।
   यदि आवश्यक हो तो कर्मचारियों को केवल अनुनय के माध्यम से ही अपनी बात रेखा अधिकारियों से मनवानी चाहिए। रेखा अधिकारियों को भी चाहिए कि कर्मचारी सेवाओं को संगठनात्मक जीवन की एक पद्धति के रूप में सहज रूप से स्वीकार करें।
9. कर्मचारी संगठन को रचनात्मक प्रवृत्तियाँ एवं मानव व्यवहार कौशल प्रदर्शित करना चाहिए। रेखा व कर्मचारी की अन्तर्निभरता को स्वीकार किया जाना चाहिए।

विनियम व्हाइट ने रेखा व कर्मचारी सम्बन्धों में सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं:-

1. रेखा अधिकारियों के साथ कर्मचारियों के अन्र्तव्यवहारों तथा सम्पर्कों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।
2. परामर्श देने के पूर्व कर्मचारियों को प्रत्येक रेखा विभाग की विशेष परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना चाहिए।
3. कर्मचारी परामर्शदाता को रेखा कर्मचारियों के साथ एक विनिमय सम्बन्ध बनाना चाहिए।
4. कर्मचारी संगठन को यह ध्यान रखना चाहिए कि रेखा अधिकारियों को भी बराबर का श्रेय प्राप्त हो रहा है।

उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए रेखा तथा कर्मचारी सम्बन्धों को सहयोगी एवं सहचर्यात्मक बनाया जा सकता है।

रेखा एवं कर्मचारी (विशेषज्ञ) संगठन का अर्थ :

संगठन के इस प्रारूप में रेखा अधिकारियों को परामर्श देने के लिए कुछ विशिष्ट कर्मचारियों अर्थात् विशेषज्ञों को रखा जाता है। इस संगठन में भी अधिकार एवं उत्तरदायित्व सीधी रेखा या लम्बवत् रूप में ही चलते हैं। किन्तु अधिकारियों को उनके कार्यों में विशिष्ट परामर्श देने हेतु कुछ विशिष्ट व्यक्तियों (विशेषज्ञों) की नियुक्ति की जाती है जिन्हें कर्मचारी कहा जाता है। विशेषज्ञ के परामर्श को मानना या न मानना पूर्णत: अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता है।

"कर्मचारी से आशय संगठन के उन व्यक्तियों से है जो रेखा अधिकारियों को परामर्श देते हैं।"

-- ऐलन

"संगठन में कर्मचारी सेवा का आशय परामर्श से होता है जो अधिकार या निर्देशन से भिन्न होता है।" -- मूने

व्यवसाय में बढ़ते हुए उत्तरदायित्वों एवं जटिलता के कारण विशेषज्ञों का महत्व भी बढ़ गया है। रेखा प्रबन्धकों के पास न तो इतना समय ही होता है और न वे सर्वगुण-सम्पन्न ही होते हैं कि व्यवसाय की जटिल समस्याओं को भी सुलझा लें। अत: उन्हें अपने कार्य में विशेषज्ञों (कर्मचारियों) से प्रबन्धकीय परामर्श एवं सहायता प्राप्त करनी होती है।

इस संगठन में विशेषज्ञों का प्रमुख कार्य अनुसंधान करना, तथ्यों का पता लगाना तथा रेखा अधिकारियों को परामर्श देना होता है।

"विशेषज्ञ एक संगठन का नियोजन करने एवं सोचने का शस्त्र है।" -- फिफनर तथा शेरवुड

विशेषज्ञ आदेश नहीं देते हैं बल्कि योजनाएँ सुझाते हैं तथा विचार देते हैं, जिसको क्रियान्वित करना अथवा न करना रेखा अधिकारियों पर निर्भर करता है।

विशेषताएँ - रेखा एवं कर्मचारी संगठन की निम्न विशेषताएँ होती हैं -

1. इसमें अधिकार एवं दायित्व तथा आदेश एवं निर्देश लम्बवत् रूप में चलते हैं।
2. रेखा अधिकारियों की सहायता के लिए विशिष्ट कर्मचारियों अर्थात् विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है।
3. विशेषज्ञों की नियुक्ति से अधिकारियों के कार्य का बोझ हल्का हो जाता है।
4. ये विशेषज्ञ परामर्शात्मक स्थिति में होते है। ये अधिकारियों को केवल परामर्श ही देते हैं। परामर्श मानने और उसके अनुरूप निर्णय लेने के लिए अधिकारियों को बाध्य नहीं किया जा सकता है।
5. रेखा अधिकारी संगठन में दैनिक कार्य का संचालन करते हैं तथा विशेषज्ञ समस्याओं का समाधान खोजते हैं।
6. विशेषज्ञ अधिकारियों के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते हैं।
7. ग्ल्युक के अनुसार इस प्रारूप में रेखा-विशेषज्ञ सम्बन्धों के निम्न विविध स्वरूप हो सकते हैं:-

(i) विशेषज्ञ अधिकारी पूर्णत: परामर्शात्मक भूमिका में हो सकते हैं तथा उन्हें मुख्यालय पर नियुक्त किया जा सकता है।

(ii) विशेषज्ञ अधिकारी पृथक इकाई के रूप में मुख्यावास तथा क्षेत्रीय इकाइयों पर भी पृथक-पृथक रखे जा सकते हैं।

(iii) विशेषज्ञ अधिकारियों को संचालकीय अथवा रेखा इकाइयों के साथ एकीकृत किया जा सकता है।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के लाभ - इस संगठन संरचना के निम्न लाभ हैं :-

1. यह विशिष्टीकरण के लाभ प्रदान करता है।
2. यह अधिकारियों के कार्य-बोझ को कम कर देता है।
3. विशेषज्ञों के सुझावों, परामर्श एवं मार्गदर्शन के फलस्वरूप निष्पादन में सुधार होता है।

4. शीघ्र एवं ठोस निर्णय की संभावनाएँ बढ़ जाती है।
5. नियोजन एवं क्रियान्वयन में पृथक्करण संभव हो जाता है।
6. कुशल कर्मचारियों को पदोन्नति के अवसर मिलते हैं तथा प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है
7. अन्य लाभ -

(i) रेखा अधिकारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(ii) इसमें पर्याप्त लोच पायी जाती है।

(iii) यह अनुसंधान को प्रोत्साहन देता है।

(iv) यह संरचना अन्य प्रारूपों की तुलना में कम खर्चीली है।

रेखा एवं कर्मचारी संगठन के दोष - संगठन की यह संरचना भी दोषमुक्त नहीं है। इसके निम्न प्रमुख दोष हैं-

1. विशिष्ट कर्मचारियों तथा रेखा अधिकारियों में टकराव, संघर्ष एवं मतभेद उत्पन्न हो जाता है।
2. आपसी विवाद की दशा में उत्तरदायित्व का निर्धारण कठिन होता है।
3. परामर्शात्मक स्थिति में होने के कारण विशेषज्ञ कर्मचारी मामलों को गंभीरता से नहीं लेते हैं। कई बार उनके सुझावों की उपेक्षा होने के कारण वे उदासीन हो जाते हैं। वे समस्याओं पर उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से विचार नहीं करते हैं।
4. छोटी संस्थाओं के लिए विशेषज्ञों को नियुक्त कर पाना कठिन होता है।
5. विशेषज्ञों के कारण रेखा अधिकारियों की पहल शक्ति समाप्त हो जाती है। उनमें हीनभावना भी उत्पन्न होने लगती है।
6. कार्यों के निष्पादन में प्राय: अधिक समय लग जाता है।
7. रेखा अधिकारियों तक पहुँचते-पहुँचते विशेषज्ञों के सुझावों के विकृत या असामयिक हो जाने की आशंका रहती है।
8. ऐसे संगठनों में समन्वय की समस्या भी उत्पन्न हों जाती है।

3. **क्रियात्मक संगठन -** क्रियात्मक संगठन का निर्माण क्रियात्मक सत्ता के आधार पर होता है। अत: पहले ही क्रियात्मक सत्ता का अर्थ, प्रकृति एवं स्वरूप को भली-भांति समझ लेना चाहिए।

क्रियात्मक सत्ता का अर्थ एवं प्रकृति - एक व्यक्ति या समूह के पास क्रियात्मक सत्ता तब होती है जब उसे अपनी औपचारिक आदेश श्रृंखला के अतिरिक्त दूसरे विभागों में कुछ क्रियाओं पर नियंत्रण रखने तथा उनके सम्बन्ध में आदेश-निर्देश देने का अधिकार मिला हुआ होता है। यह सीमित सत्ता है जो दूसरे विभागों में व्यक्तियों को किसी विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध में आदेश-निर्देश देने के लिए रेखा अथवा कर्मचारी (विशेषज्ञ) को सौंपी जाती है।

"क्रियात्मक सत्ता एक व्यक्ति या विभाग को प्रत्यायोजित वह अधिकार है जो उन विशिष्ट प्रक्रियाओं, व्यवहारों, नीतियों अथवा अन्य मामलों या क्रियाओं के बारे में होता है जो स्वयं के विभाग को छोडकर अन्य विभागों के कर्मचारियों द्वारा की जाती है।" -- क्रूज एवं डोनेल

"क्रियात्मक सत्ता, जो कि उच्च प्रबन्ध द्वारा प्रदान की जाती है, के द्वारा कर्मचारी विशेषज्ञ को रेखा इकाइयों को उन मामलों से सम्बन्धित क्रिया के बारे में आदेश-निर्देश देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जिसमें कि वह विशेषज्ञ विशिष्ट ज्ञान रखता है।" -- मैगिंनसन एवं मोसाले

क्रियात्मक सत्ता की प्रकृति को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

1. क्रियात्मक सत्ता एक विशिष्ट प्रकार की सत्ता है जो उच्च प्रबन्ध द्वारा कर्मचारी विशेषज्ञों को सौंपी जाती है।
2. यह सत्ता प्राय: कार्य निष्पादन की कार्य-पद्धतियों तथा विधियों को निर्धारित करने से संबंधित होती है।
3. यह सत्ता किसी व्यक्ति के ऊपर नहीं, वरन् किसी कार्य या क्रियाओं के संबंध में होती है।
4. यह सत्ता किसी विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध में दी जाती है ताकि सम्पूर्ण संगठन में उस कार्य की गुणवत्ता तथा एकरूपता को बनाये रखा जा सके।
5. यह तकनीकी प्रकृति की होती है। यह कोई अनुशासन लागू करवाने का अधिकार नहीं है।
6. क्रियात्मक सत्ता रेखा प्रबन्धक की सत्ता का एक भाग होती है।
7. यह रेखा, सेवा अथवा विशेषज्ञ प्रबन्धकों द्वारा प्रयुक्त की जा सकती है।
8. क्रियात्मक सत्ता की प्रवाह रेखायें विभागीय रेखाओं को काट देती है, अर्थात् इसका प्रयोग दूसरे विभागों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में ही होता है।
9. क्रियात्मक सत्ता की स्थिति रेखा सत्ता तथा कर्मचारी सत्ता के बीच एक मध्यमार्गीय जैसी होती है। यह कर्मचारी सत्ता का ही एक विस्तार है।
10. क्रियात्मक सत्ता के प्रयोग से आदेश की एकता का सिद्धान्त भंग हो जाता है। अत: क्रियात्मक सत्ता का प्रयोग किफायत से किया जाना चाहिए। इसके अत्यधिक प्रयोग से यह प्रबन्धक के कार्य को नष्ट कर देगी, रेखा सत्ता को दुर्बल बना देगी तथा समन्वय की समस्या खड़ी कर देगी। क्रियात्मक सत्ता प्राय: कैसे, कब, कहाँ, क्या, कौन आदि प्रश्नों पर ठीक से विचार करके ही प्रयोग में लायी जानी चाहिए।
11. क्रियात्मक सत्ता, कर्मचारी सत्ता की भाँति, रेखा सत्ता के अधीनस्थ होती है तथा यह संगठन में विशेषज्ञों को कार्य पर लगाने का एक ढंग है।
12. कर्मचारी सत्ता तथा क्रियात्मक सत्ता में मुख्य अन्तर यह है कि कर्मचारी सत्ता किसी विशिष्ट क्षेत्र में परामर्श देने तक सीमित है, जबकि क्रियात्मक सत्ता रखने वाले को न केवल परामर्श, वरन् उस कार्य के संबंध में कार्य आदेश प्रदान करने का अधिकार भी होता है। दूसरी ओर, रेखा सत्ता सामान्य प्रबन्ध संचालन के संबंध में आदेश देने का अधिकार है, जबकि कार्यात्मक सत्ता किसी विशेष, एवं विशिष्ट कौशल वाले क्षेत्र में आदेश देने की शक्ति है।

क्रियात्मक सत्ता प्रदान करने के ढंग - सत्ता निम्न ढंग से प्रदान की जाती है-

1. रेखा अधिकारी के अधीनस्थों को प्रत्यक्ष रूप से परामर्श, सहायता, सूचना एवं कार्यादेश प्रदान करने के उद्देश्य से एक उच्च अधिकारी कर्मचारी विशेषज्ञ को कार्यात्मक सत्ता प्रदान कर सकता है।
2. दूसरे विभागों में कार्यरत अधीनस्थों को विभिन्न सुझावों व परामर्श के क्रियान्वयन में उनका मार्गदर्शन करने के लिए एक कर्मचारी विशेषज्ञ को सीमित कार्यात्मक सत्ता प्रदान की जा सकती है।
3. विभिन्न विभागों में किसी विशिष्ट कार्य से संबंधित कार्यपद्धतियों व कार्यविधियों का निर्धारण करने के लिए, जिनका पालन उन विभागों में किया जायेगा, एक कर्मचारी विशेषज्ञ को कार्यात्मक सत्ता प्रदान की जा सकती है। उदाहरण के लिए, लेखा विभाग में वित्त नियंत्रक को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह सब विभागों में लेखा-पुस्तकों को रखने का ढंग निश्चित करेगा।
4. प्रारंभ से ही रेखा अधिकारियों को कुछ विशिष्ट कार्य, जिसकी वे योग्यता रखते हैं, सौंपकर केवल उन्हीं कार्यों के बारे में सभी विभागों के अधीनस्थों को कार्य-निर्देश देने की सत्ता प्रदान की जा सकती है।

क्रियात्मक संगठन का अर्थ - जब उपक्रम के कार्यो का बहुत विस्तार हो जाता है तो समस्त कार्यो को एक प्रबन्धक द्वारा किया जाना असंभव होता है। प्रत्येक प्रबन्धक का प्रबन्ध क्षेत्र सीमित ही हो सकता है। अत: कार्य की अधिकता के कारण कार्य को विभिन्न व्यक्तियों एवं प्रबन्धकों में बाँटना आवश्यक हो जाता है। क्रियात्मक संगठन में प्रत्येक कार्य को छोटे-छोटे भागों में बाँट दिया जाता है। कार्य के प्रत्येक छोटे भाग के लिए विशिष्ट ज्ञान रखने वाले व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है। यह विशिष्ट ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अपने संबंधित कार्य को करवाने के लिए अधीनस्थों को आदेश एवं निर्देश दे सकता है। वह अपने कार्य के निष्पादन सम्बन्धी पूरे अधिकार रखता है।

"क्रियात्मक संगठन वह संगठनात्मक व्यवस्था है जिसमें अधिकार की रेखाएँ कई क्रियात्मक विशेषज्ञों के मध्य से होती हुई प्रत्येक श्रमिक तक पहुँचती है अधिकार का प्रत्येक स्तर योजना एवं अपने अधीनस्थों के सम्पूर्ण नहीं बल्कि कुछ कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है।"

-- एल.के. जॉनसन

"क्रियात्मक प्रबन्ध का अर्थ इस प्रकार के विभाजन से है जिसमें सहायक अधीक्षक से लेकर नीचे तक के व्यक्तियों को इतने कम कार्य दिये जाएँ जितने वे आसानी से पूरे कर सकें। यदि संभव हो सके तो प्रबन्ध के प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही महत्त्वपूर्ण कार्य दिया जाना चाहिए।" **-- टेलर**

"क्रियात्मक सम्बन्धों की स्थापना उस समय होती है जबकि विशेषज्ञों का कार्य रेखा अधिकारियों के कार्य के ऊपर परामर्श के स्थान पर आदेशात्मक बना दिया जाता है।"

-- एडविन बी. फिलप्पो

इस प्रकार "क्रियात्मक संगठन" वह संगठन संरचना है जिसमें क्रियाओं के विभिन्न समूहों के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है तथा इन विशेषज्ञों को अपने-अपने विशिष्ट कार्यों के सम्बन्ध में कर्मचारियों को आदेश देने हेतु रेखा अधिकार दिये जाते हैं, यथासंभव एक व्यक्ति

को एक ही प्रकार का कार्य सौंपा जाता है जिसका वह विशेषज्ञ होता है। इन विशेषज्ञों का कर्मचारियों से सीधा संबंध होता है तथा एक ही कर्मचारी को कई विशेषज्ञों से आदेश ग्रहण करने होते हैं।

वास्तव में, क्रियात्मक संगठन अपने आप में विभागीयकरण का ही एक अंग है। इसमें विभागों का निर्माण कम्पनी के द्वारा किये जाने वाले कार्यो अथवा क्रियाओं के आधार पर किया जाता है। क्रियात्मक संगठन का निर्माण करने के पूर्व संस्था द्वारा सम्पादित कार्यो की प्रकृति को जानना आवश्यक होता है। बढ़ते हुए विशिष्टीकरण के कारण क्रियात्मक संगठनों का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज सभी कम्पनियों में किसी न किसी सीमा तक क्रियात्मक संगठन की संरचना अवश्य पाई जाती है।

क्रियात्मक संगठन के विकास का श्रेय वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता **एफ. डब्ल्यू. टेलर** को दिया जाता है। उन्होंने संगठन के इस प्रारूप को 'क्रियात्मक फोरमैनशिप' के नाम से पुकारा है। टेलर के अनुसार, -क्रियात्मक संगठन के अन्तर्गत प्रबन्ध कार्य का इस प्रकार विभाजन किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम कार्य करना पड़े। इस हेतु उनका कार्य यथासंभव छोटी से छोटी प्रक्रिया में विभाजित कर दिया जाता है जिससे इस क्रिया तक उसका कार्य-क्षेत्र सीमित रहता है। इस प्रकार के कार्य-विभाजन से एक व्यक्ति का एक कार्य के संबंध में एक ही अधिकारी से संबंध रहता है जो उसे उस कार्य के बारे में आवश्यक निर्देश एवं सूचनायें देता है। ' टेलर के अनुसार, 'क्रियात्मक फोरमैनशिप पद्धति में कुल आठ अधिकारियों की, चार कार्यालय स्तर पर तथा चार शॉप स्तर पर, नियुक्ति की जाती है। ये अधिकारी निम्न होते हैं:-

1. **कार्यालय लिपिक -** यह अधिकारी दैनिक कार्यक्रम की योजना बनाता है तथा क्रियाओं के क्रम का निर्धारण करता है।
2. **संकेत कार्ड लिपिक -** यह अधिकारी प्रत्येक कार्य के लिए संकेत कार्ड तैयार करता है जो विभिन्न टोली नायकों के पास पहुँचायें जाते हैं।
3. **समय एवं लागत लिपिक -** यह अधिकारी प्रत्येक क्रिया में लगने वाले समय तथा लागत के संबंध में पूर्ण विवरण रखने हेतु समय एवं लागत टिकट तैयार करके विभिन्न नायकों को भेजता है।
4. **अनुशासक -** यह अधिकारी कारखाने के प्रत्येक विभाग में उत्पन्न विवादों को निपटाने, अनुशासन बनाये रखने तथा शांति स्थापित करने हेतु आवश्यक कार्य करता है।
5. **टोली नायक -** यह अधिकारी श्रमिकों को आवश्यक सामग्री, सूचनाएँ एवं मार्गदर्शन प्रदान करता है तथा निर्धारित योजना के अनुसार कार्य लेता है।
6. **गति नायक -** यह अधिकारी श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के उद्देश्य से कार्य की गति का निर्धारण करता है, कार्यविधि का प्रशिक्षण देता है तथा प्रमापित समय में कार्य को पूरा किये जाने का ध्यान रखता है।
7. **जीर्णोद्धार नायक -** यह अधिकारी मशीनों व उपकरणों की सफाई, तेल, मरम्मत आदि की व्यवस्था करता है तथा इनके रखरखाव का पूरा ध्यान रखता है।

8. **निरीक्षक -** यह कारखाने में तैयार माल अथवा वस्तु की किस्म, गुणवत्ता आदि की जाँच करता है तथा प्रमापित किस्म को बनाये रखता है।

क्रियात्मक सगंठन की विशेषताएँ - क्रियात्मक संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं:-

1. इस प्रकार के संगठन में प्रत्येक कार्य को कई भागों में बाँटा जाता है।
2. इसमें प्रत्येक विशिष्ट कार्य के लिए एक विशेषज्ञ होता है।
3. इसमें विशेषज्ञ रेखा प्रबन्धकों की स्थिति में होते है अर्थात् विशेषज्ञ स्वयं ही आदेश एवं निर्देश देने का अधिकार रखते हैं।
4. प्रत्येक निर्णय लेने के पूर्व विशेषज्ञों से परामर्श लेना आवश्यक होता है।
5. इसमें प्रत्येक विशेषज्ञ केवल अपने विशिष्ट क्षेत्र के संबंध में ही आदेश एवं निर्देश दे सकता है।
6. इसमें प्रत्येक विभाग अपने कार्य को पूरा करने के लिए उत्तरदायी होता है।
7. इसकी संरचना विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है।
8. इसमें अधिकार-सत्ता का प्रत्यायोजन ऊपर से नीचे की ओर कार्यों के अनुसार होता है।

क्रियात्मक संगठन के लाभ - क्रियात्मक संगठन के प्रमुख लाभ अग्र प्रकार है :-

1. इस प्रकार की संगठन-संरचना में विशेषज्ञों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।
2. इसमें अधिकारियों पर से विशिष्ट तकनीकी मामलों के बोझ को कम किया जा सकता है।
3. इसमें प्रशिक्षण का कार्य सुविधाजनक हो जाता है।
4. इसमें निर्णय भी शीघ्र लिये जा सकते हैं। साथ ही, निर्णयों का क्रियान्वयन एवं नियंत्रण भी सरल हो जाता है। निर्णयों में एकरूपता लायी जा सकती है।
5. कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।
6. यह संगठन लोचपूर्ण होता है। इसमें परिवर्तनों का समायोजन करना सरल होता है।
7. विशिष्टीकरण के कारण किस्म, कीमत व सेवाओं में सुधार होता है, जिससे संस्था की प्रतिस्पर्धी स्थिति में सुधार हो जाता है।
8. इस प्रारूप में प्रबन्ध सत्ता सर्वोच्च व्यक्ति के पास केन्द्रित न होकर विभिन्न विशेषज्ञों में बंटी हुई होती है। अत: एकाकी नियंत्रण के दोष समाप्त हो जाते हैं।

क्रियात्मक संगठन के दोष - लाभों के साथ-साथ क्रियात्मक संगठनों में कुछ दोष भी विद्यमान हैं। ये निम्न प्रकार से हैं -

1. क्रियात्मक संगठन संरचना में विभागों तथा उप-विभागों की क्रियाओं में समन्वय करना कठिन होता है। ग्ल्यूक के अनुसार, "समन्वय की लागत क्रियात्मक विभागों के बीच ऊँची रहती है।
2. यह संगठन 'आदेश की एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसमें परस्परव्यापी अधिकार सत्ता के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें एक कर्मचारी को अनेक अधिकारियों के आदेशों का पालन करना होता है। अत: वह भ्रमित हो जाता है।

3. आदेशों की एकता समाप्त हो जाने से असफलता की दशा में उत्तरदायित्व का निर्धारण करना कठिन हो जाता है।
4. यह संगठन संरचना विशेषज्ञों का निर्माण तो करती है, किन्तु सभी क्षेत्रों में निपुण सामान्य प्रबन्धकों के विकास में बाधक सिद्ध होती है।
5. ऐसे संगठनों के अधीनस्थों में अनुशासन बनाये रखना भी कठिन होता है।
6. इसमें उत्तरदायित्व से बचने की प्रवृत्ति विकसित होती है।
7. विभागों के मध्य संघर्ष ज्यादा होते हैं। इससे कर्मचारियों का मनोबल भी गिरता है।
8. यह प्रारूप कागजी कार्यवाही को बढ़ाता है तथा निर्णयन में देरी उत्पन्न करता है। छोटे-छोटे कार्यों के लिए आदेश निकालने पड़ते हैं। इससे कार्यों में विलम्ब होता है।
9. यह प्राय: अधीनस्थों के कार्य-भार को बढ़ा देता है।
10. यह प्रारूप विशेषज्ञों की तुलना में सामान्य प्रबन्धकों के महत्व को कम कर देता है।

उपयुक्तता - यह संगठन व्रहत् स्तरीय निर्माणी संस्थाओं के लिए अधिक उपयुक्त रहता है जिनमें पर्याप्त मात्रा में विशिष्टीकरण करना लाभप्रद रहता हो। तकनीकी एवं जटिल प्रकृति की संस्थाओं, जिनमें विशेषज्ञों की सेवाएँ आवश्यक होती हैं, में भी यह संरचना ठीक रहती है। किन्तु जैसे-जैसे संगठन का आकार बढ़ता है, इस प्रारूप को त्यागकर संगठन के संभागीय स्वरूप को अपनाना पड़ता है।

4. **संभागीय संगठन अथवा संगठन का विभागीकरण -** एक विभाग एक विशिष्ट संगठनात्मक इकाई है जिसके प्रबन्धक के पास विशिष्ट क्रियाओं के निष्पादन की सत्ता होती है। यह एक कार्य समूह है जिसमें समान प्रकृति की क्रियाओं का निष्पादन किया जाता है। विभागीकरण कुशल प्रबन्ध के उद्देश्य से सजातीय क्रियाओं का इकाइयों तथा उप-इकाइयों के रूप में समूहीकरण करने की प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में, विशिष्टीकरण के लाभ उठाने, प्रबन्ध कार्य को प्रभावी बनाने तथा निष्पादन के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व निर्धारित करने की दृष्टि से कार्यों व क्रियाओं का समतल विभेदीकरण करने की प्रक्रिया को ही सम्भागीकरण करना कहा जाता है। इस विभागीकरण की प्रक्रिया के द्वारा जिन प्रशासनिक इकाइयों एवं उप-इकाइयों का जन्म होता है उन्हें कई नामों जैसे विभाग, संभाग, अनुभाग, ब्रान्च आदि से पुकारा जाता है। विभागीकरण की प्रक्रिया संगठन के समस्त स्तरों पर अपनायी जाती है।

"विशिष्टीकरण से तात्पर्य इकाइयों की स्थापना करने से है जिन्हें संबंधित कार्यों, क्रियाओं अथवा कर्तव्यों के समूह सौंपे जाते हैं।" **-- मैकफारलैण्ड**

इस प्रकार विभागीकरण में किसी भी प्रकार का खण्डीयकरण शामिल है। विभागीकरण का उद्देश्य क्रियाओं का इस ढंग से समूहीकरण करना है ताकि इसके द्वारा उपक्रम के उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त किया जा सके। एक प्रबन्धक अधीनस्थों की असीमित संख्या का अकेले ही निरीक्षण नहीं कर सकता है। विभागीकरण के द्वारा एक वृहत् संगठन को प्रबन्धयोग्य एवं लोचपूर्ण छोटी-छोटी स्वायतशासी इकाइयों में बाटा जा सकता है। इस प्रकार एक छोटे एवं क्रियात्मक संगठन के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।

विभागीकरण की आवश्यकता - विभागीकरण की आवश्यकता कई कारणों से उत्पन्न होती है। कुछ प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं -

1. निर्णयन में विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करना।
2. विशिष्टीकरण एवं क्रियात्मक संगठन के लाभों को प्राप्त करना।
3. मुख्य अधिशासी के कार्यभार में कमी लाना तथा विकास की गति को तेज करना।
4. संगठन के असीमित विस्तार को संभव बनाना।
5. प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में वृद्धि करना।
6. विशिष्ट कार्यों के निष्पादन के उत्तरदायित्व का निर्माण।
7. कार्य-स्वतंत्रता, स्व-निर्भरता तथा कार्य-संतुष्टि के फलस्वरूप संगठनात्मक निष्पादन में सुधार होना।
8. प्रबन्धकीय कौशल एवं क्षमताओं के विकास के अवसर।

विभागीकरण के आधार अथवा प्रकार - विभागीकरण के कई प्रारूप हैं जो कि विभिन्न आधारों पर टिके हु ए हैं प्रत्येक आधार या प्रारूप किसी विशिष्ट परिस्थिति के लिए ही उपयुक्त समझा गया है। इनमें कुछ प्रमुख आधार हैं जिनको अधिकांशत: अपनाया जाता है। विभागीकरण के कुछ अन्य आधार हैं जिनका प्रयोग विशेष उपक्रमों में ही किया जाता है।

साधारणत: विभिन्न विभागों या संभागों की स्थापना निम्न आधारों पर की जाती है-

1. कार्य-समय के आधार पर
2. श्रमिकों की संख्या के आधार पर
3. संयुक्त आधार पर
4. कार्यो के आधार पर
5. सेवाओं के आधार पर।

(1) कार्य समय के आधार पर विभागीकरण - इस विधि का प्रयोग भी संगठन के निचले अथवा संचालकीय स्तरों पर ही होता है। इस आधार का प्रयोग निर्माणी तथा सेवा उद्योगों दोनों में ही किया जाता है। कई बार कारखाने को तीन पारियों में चलाना जरूरी होता है। प्रत्येक पारी विभिन्न प्रकार के कौशल तथा श्रृंखलाबद्ध स्तरों से मिलकर बनती है। सेवा उद्योगों में तो कार्य के समय के अनुरूप ही विभागीयकरण किया जाता है। टेलीफोन तथा परिवहन उदयोग इसके अच्छे उदाहरण हैं। कारखानों को विभिन्न पारियों में चलाना कार्य समय के आधार पर विभागीकरण कहलाता है।

(2) श्रमिकों की संख्या के आधार पर विभागीकरण- यह विभागीकरण की सबसे सरल विधि है जिसमें कुल श्रम शक्ति की आवश्यकताओं तथा पर्यवेक्षकों की संख्या या आकार का ज्ञान कर लिया जाता है। वस्तुत: यह विधि जनजातियों, कुल-वंश तथा सैनिक संगठनों में अपनायी जाती रही है। धीरे-धीरे संख्याओं के आधार पर समूहीकरण की इस विधि का प्रयोग कम होता जा रहा है। इस समूहीकरण में श्रमिकों के कुशल या अकुशल होने का कोई भेद नहीं किया जाता है, न ही यह ध्यान रखा जाता है कि ये व्यक्ति क्या, कहाँ और किसके साथ कार्य करते हैं। इस समूहीकरण का मुख्य आधार कर्मचारियों की संख्या मात्र होती है। कार्य कौशल में वृद्धि, विशिष्टीकरण के प्रयोग तथा कार्यकुशलता के बढ़ते जाने के कारण अब इस आधार का महत्व कम होता जा रहा है। इस विभागीकरण को भी संगठन के निम्न स्तर पर ही अपनाया जाता है।

(3) संयुक्त आधार पर विभागीकरण - विभागीकरण का कोई एक श्रेष्ठ आधार या ढंग नहीं है। यह कम्पनी के उद्देश्यों, क्रियाओं के आकार, टेक्नालाजी, बाजारों, उपकरणों, वातावरण की दशाओं आदि घटकों पर निर्भर करता है कि कम्पनी किसी एक घटक के आधार पर विभागीकरण करे या कि कुछ आधारों को संयुक्त करते हुए विभाग बनाये। सामान्यत: कार्यात्मक विभागों को उत्पाद प्रक्रिया अथवा भौगोलिक क्षेत्रों के साथ संयुक्त किया जा सकता है। निगमीय मुख्यालय तथा डिवीजन स्तर पर अलग-अलग आधार रखे जा सकते हैं। स्टील कम्पनियों का विभागीकरण प्राय: कार्य तथा प्रक्रिया दोनों को अपनाते हुए किया जाता है। आज के युग में इलैक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर्स तथा आधुनिक सम्प्रेषण प्रणाली ने समन्वय की समस्या को पूर्णत: हल कर दिया है, अत: संयुक्ता आधारों पर विभागीकरण करना भी अब एक जटिल कार्य नहीं समझा जाता है।

(4) कार्यो के आधार पर विभागीकरण - इसे कार्यात्मक विभागीकरण भी कहा जाता है। इसमें उपक्रम के प्रत्येक कार्य के लिए एक पृथक विभाग की स्थापना की जाती है। उपक्रम के कुछ मुख्य एवं मूलभूत कार्य होते हैं: जैसे उत्पादन, विपणन एवं वित्त। उपक्रम को कुछ सहायक कार्य भी करने होते हैं, जैसे औद्योगिक सम्बन्ध, क्रय, किस्म नियंत्रण, परिवहन, सुरक्षा आदि। कार्यो की संख्या तथा महत्त्व संगठन की प्रकृति पर निर्भर करता है। इस विभागीकरण में उन कार्यो के लिए जो उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक होते हैं, पृथक विभाग बनाये जाते हैं। संगठन में गौण, सहायक अथवा कर्मचारी कार्यो के लिए आवश्यक होने पर पृथक विभाग भी बनाये जा सकते हैं अथवा इन्हें मुख्य विभागों के अन्तर्गत उपविभागों की भाँति रखा जा सकता है।

लाभ - इस प्रकार के विभागीकरण से निम्न लाभ होते हैं -

1. कार्यो में एक तर्कसंगतता उत्पन्न हो जाती है।
2. व्यावसायिक विशिष्टीकरण सम्भव हो जाता है।
3. प्रमुख कार्यो की महत्ता एवं प्रतिष्ठा बनी रहती है।
4. प्रशिक्षण का कार्य सरल हो जाता है।
5. उच्च स्तर पर सख्त नियंत्रण संभव हो जाता है।
6. गहन रूप से संबंधित क्रियाओं के लिए निर्देशन की एकता बनाये रखना संभव हो जाता है।

दोष - कार्यात्मक विभागीकरण के कुछ दोष भी हैं-

1. लाभ के लिए उत्तरदायित्व केवल उच्च स्तर पर ही रहता है।
2. सामान्य प्रबन्धकों के विकास में बाधा पड़ती है।
3. विभिन्न कार्यो के मध्य समन्वय की समस्या उत्पन्न हो जाती है।
4. एक प्रणाली के रूप में कम्पनी के आर्थिक विकास में बाधा पड़ती है।
5. अन्तर्विभागीय संघर्षो का जन्म होता है।
6. क्रियात्मक प्रबन्धकों में अपने साम्राज्य को बढ़ाने की प्रवृत्ति घर कर जाती है।

(5) सेवाओं का विभागीकरण - संगठन में व्यवसाय के संचालन के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाएँ भी आवश्यक होती हैं। अत: एक वृहत् संस्था में विभिन्न प्रकार के सेवा विभागों जैसे सेविवर्गीय (भर्ती, प्रशिक्षण, कर्मचारी अभिलेख आदि), लेखांकन, क्रय, संयंत्र अनुरक्षण, सांख्यिकीय प्रतिवेदन, इलैक्ट्रॉनिक डेटा प्रोसेसिंग, टाइपिंग पूल्स आदि की स्थापना करना आवश्यक होता है। सेवा विभागों की स्थापना का उद्देश्य संगठन के कार्य संचालन में कार्यकुशलता तथा नियंत्रण को प्रोत्साहित करना है। यद्यपि कुछ सेवायें जैसे लेखांकन, मशीनों का अनुरक्षण आदि मुख्य विभागों द्वारा स्वयं की जा सकती है। किन्तु विभागीयकरण (विशिष्ट विभागों) के द्वारा ये अधिक कुशलता से तथा त्रुटियों पर नियंत्रण रखते हुए प्रदान की जा सकती हैं। साथ ही, ये मितव्ययितापूर्वक दी जा सकती है तथा इनमें विशेषज्ञों का उपयोग किया जा सकता है।

कर्मचारी विशेषज्ञों की नियुक्ति होने के कारण अधिकांश सेवा विभागों को कर्मचारी विभागों के रूप में देखा जाता है। किन्तु, वास्तव में सेवा विभाग कर्मचारी विभाग नहीं, वरन् रेखा विभाग ही माने जाते हैं क्योंकि उनका प्राथमिक कार्य उपक्रम की आवश्यक क्रियाओं का संचालन करना होता है। कुछ उपक्रमों में इन्हें सुविधाकारी गौण अथवा सहायक विभागों के रूप में पुकारा जाता है।

कून्टज एवं डोनेल ने सेवा विभागों की तीन प्रमुख समस्याएँ बतायी हैं -

1. कुशल अकार्यकुशलता
2. नियंत्रण स्थापित करने की इच्छा
3. पर्याप्त सेवा की समस्या

इन्हें दूर करने के लिए उन्होंने निम्न सुझाव भी दिये हैं -

1. यह नहीं भूला जाना चाहिए कि इन विभागों का कार्य सेवा प्रदान करना है।
2. विभाग को सेवा केन्द्र के ज्यादा से ज्यादा नजदीक रखा जाना चाहिए।
3. उपभोक्ता से सेवा शुल्क वसूल किया जाना चाहिए, तथा
4. बाह्य सेवाओं के प्रयोग में लाने की संभावना से इंकार नहीं करना चाहिए।

4.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध :

रेखा एवं कर्मचारी संकल्पना - रेखा एवं कर्मचारी दोनों को समझने के लिए दृष्टिकोण यह है कि व्यवसाय के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कार्यों के आधार पर इन दोनों का अर्थ एवं अन्तर देखा जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार रेखा कार्य वे कार्य हैं जिनका सम्पादन उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति से सीधा एवं प्रत्यक्ष संबंध रखते हैं जबकि दूसरी ओर कर्मचारी कार्य सहायक परामर्श प्रकृति अथवा सेवा सम्बन्धी कार्य होते हैं जिनसे रेखा कार्यों को बल मिलता है। उदाहरण के लिए किसी भी निर्माणकारी उपक्रम में उत्पादन तथा विपणन को रेखा कार्य माना जायेगा। जबकि लेखांकन तथा सेविवर्गीय जैसे कार्यों को कर्मचारी की संज्ञा प्रदान की जायेगी। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति के अनुसार प्रत्येक उपक्रम में रेखा तथा कर्मचारी कार्यो का निरूपण अलग से किया जाएगा। रेखा एवं कर्मचारी के संबंध में यह एक बहु प्रचलित धारणा है। लेकिन व्यावहारिक जगत में इस संकल्पना का अपनाया जाना एक सरल

कार्य नहीं है। इस संकल्पना के अनुसार क्रय, अनुसन्धान एवं विकास, वित्त जैसे कार्य को कर्मचारी श्रेणी में रखा जाता है क्या वे कार्य उत्पादन तथा विपणन से कम महत्त्वपूर्ण है? प्रत्येक कार्य का संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में एक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस कारण से यह विचारधारा व्यावहारिक नहीं है। साथ ही जैसा कि संगठनों के रूपों में वर्गीकरण के समय स्पष्ट कर दिया गया था कि रेखा तथा कर्मचारी, व्यक्तियों के अधिकार सम्बन्धों का द्योतक है न कि उनके द्वारा निष्पादित कार्यों का।

कुछ प्रबन्ध-विद्वानों की दृष्टि में रेखा अधिशाषी का कार्य, कर्म करना है जबकि कर्मचारी अधिशाषी का कार्य, सोचना है। इस विचारधारा में, टेलरवाद के क्रियात्मक संगठन की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। टेलर ने क्रियात्मक संगठन में फोरमैन के कार्यों का बंटवारा मुख्यत: योजना बनाना तथा उसके निष्पादन के आधार पर किया था। टेलर का क्रियात्मक संगठन कभी भी व्यावहारिक नहीं माना गया था। प्रबन्ध के कार्यों का इस प्रकार विभिन्न अधिशाषी अधिकारियों में विभाजन तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। इस विचारधारा के माध्यम से एक बात अवश्य स्पष्ट की जा सकती है और वह यह है कि रेखा अधिशाषी को समादेश का अधिकार होता है जबकि कर्मचारी अधिशाषी को निदेशन का अधिकार प्राप्त होता है।

तीसरी तथा अन्तिम विचारधारा के अनुसार रेखा तथा कर्मचारी का अन्तर अधिकार सम्बन्धों की कसौटी पर कसकर जाँचा जाना चाहिए। इस विचारधारा के अनुसार रेखा अधिकार से प्रयोजन उत्कृष्ट तथा अधीनस्थ के मध्य प्रत्यक्ष अधिकारों का वह क्रम है जो संगठन में शिखर से निम्न स्तर पर प्रवाहित होता है जिसे सोपानवत संरचना की संज्ञा से जाना जाता है। सोपानात्मक सिद्धान्त से रेखा अधिकार की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है जिसके अनुसार उत्कृष्ट अधिकारी अपने अधीनस्थों पर प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण का अधिकार रखता है। ये अधिकार सम्बन्ध सीधी रेखा या सोपान के माध्यम से दर्शाये जाते हैं। इसी को आदेश श्रृंखला अथवा संगठन की उत्कृष्ट-अधीनस्थ सोपान श्रृंखला के नाम से जाना जाता है। दूसरी ओर यदि प्रत्यक्ष आदेश सम्बन्धों के स्थान पर सम्बन्धों का क्षेत्र मंत्रणा या परामर्श अथवा सेवा प्रदान करने तक ही सीमित है तो ऐसे सम्बन्धों को कर्मचारी सम्बन्धों के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार कर्मचारी सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति, उन व्यक्तियों को जिनसे उनके इस प्रकार के संबंध हैं, प्रत्यक्ष आदेश प्रदान करने का अधिकार नहीं रखते। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि उत्कृष्ट कर्मचारी (अधिकारी) के अपने विभाग के अधीनस्थ कार्मिकों के साथ रेखा अधिकार सम्बन्ध होते हैं।

4.8 सिद्धान्त :

औपचारिक संगठन के मूल सिद्धान्त - यद्यपि औपचारिक संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के मध्य सहकारिता की भावना का उदय, उद्देश्यों की उपलब्धि से प्रेरित होता है फिर भी इस संगठन के कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं। मूल सिद्धान्त निम्नांकित हैं -

1. **निदेश की एकता -** कार्य-विशिष्टीकरण को संगठन की इकाई की सीमा तक ले जाना चाहिए और इस प्रकार संगठन की प्रत्येक इकाई को भी उद्देश्य की विशिष्टता का लक्ष्य रखना चाहिए। यदि संगठन की प्रत्येक इकाई का एकाकी उद्देश्य होता है तो यह संगठनात्मक एवं प्रशासकीय कार्य-कुशलता में वृद्धि करता है।

2. **कार्य का विशिष्टीकरण -** इस सिद्धान्त के अनुसार सीमित कार्यक्षेत्र में एकाग्रता के फलस्वरूप यदि उत्पादन में परिमाणात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि होती है तो विशिष्टता के फलस्वरूप संगठनात्मक एवं प्रशासकीय कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
3. **नियंत्रण का विस्तार -** मुखिया के नियंत्रण के क्षेत्र को पाँच या छः व्यक्तियों तक सीमित रखने से संगठनात्मक एवं प्रशासकीय कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
4. **आदेश की श्रृंखला -** कार्य-विशिष्टीकरण का एक तर्कसंगत प्रभाव यह पडता है कि विभिन्न भागों को नियंत्रित करने, निर्देश प्रदान करने एवं समन्वय स्थापित करने के लिए आयोजकों को नेतृत्व की एक नई क्रिया को जन्म देना पड़ता है। यह एक मान्यता है कि विभिन्न भागों का निदेशन एवं नियंत्रण किया जा सके, इससे संगठनात्मक एवं प्रशासकीय कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

4.9 कार्य :

अनौपचारिक संगठन विशिष्ट कार्यो के निष्पादन हेतु गठित किया जाता है, इसके कार्य हैं-

1. सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना एवं उन्हें चिरस्थायी बनाये रखना।
2. सामाजिक सन्तुष्टि।
3. सदस्यों के मध्य संवहन व्यवस्था को बनाये रखना।
4. सामाजिक नियंत्रण की व्याख्या करना।

4.10 सारांश :

औपचारिक संगठन में उपक्रम की नीति, कार्यप्रणाली, नियम, विधि आदि का पूर्व निर्धारण कर दिया जाता है। इस संगठन में प्रत्येक स्तर पर काम करने वाले अधिकारियों तथा कर्मचारियों के अधिकारों तथा दायित्वों का स्पष्ट निर्धारण कर दिया जाता है। औपचारिक संगठन में सभी कार्यों को अलग-अलग विभागों तथा उपविभागों में बाँट दिया जाता है जिससे विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त होता है। औपचारिक संगठन में सभी व्यक्ति निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं।

अनौपचारिक संगठन किसी प्रशासकीय आदेश के द्वारा स्थापित नहीं किया जाता है। इसका स्वत: ही व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क के कारण होता है। अनौपचारिक संगठन में एक ही स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्ति शामिल हो सकते हैं अथवा विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले व्यक्ति। अधिक संभावना इस बात की होती है कि विभिन्न स्तरों पर काम करने वाले व्यक्ति इसमें शामिल होते हैं।

4.11 प्रश्न :

1. औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों को परिभाषित कीजिए। उनका महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. संगठन के विभिन्न प्रारूपों का उल्लेख कीजिए तथा रेखा, कर्मचारी एवं क्रिया शब्दों की व्याख्या कीजिए।
3. रेखा संगठन को समझाइए तथा इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

4. औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन को समझाते हुए गुण व दोषों की विवेचना कीजिए।
5. रेखा एवं कर्मचारी सत्ता की अवधारणा को समझाइए। रेखा एवं कर्मचारी में टकराहट के कारणों तथा उन्हें दूर करने हेतु सुझावों का उल्लेख कीजिए।

4.12 उपयोगी पुस्तकें :

1. डॉ. एम.डी. अग्रवाल (प्रबन्ध शास्त्र)
2. डॉ. आर. एल. नौलखा (प्रबन्ध)

इकाई-5: संगठनात्मक व्यवहार (Organisational Behaviour)

इकाई की रूपरेखा :

5.0 उद्देश्य

5.1 संगठनात्मक व्यवहार का इतिहास एवं उद्‌गम

5.2 संगठनात्मक व्यवहार की रूपरेखा

5.3 संगठनात्मक व्यवहार का अर्थ एवं परिभाषा

5.4 उद्देश्य

5.5 संगठनात्मक व्यवहार का महत्व.

5.6 संगठनात्मक व्यवहार की प्रकृति

5.7 संगठनात्मक व्यवहार के योगदान देने वाले विषय

5.8 संगठनात्मक व्यवहार का क्षेत्र

5.9 संगठनात्मक व्यवहार के सिद्धान्त

5.10 संगठनात्मक व्यवहार की सीमाएँ

5.11 सारांश

5.12 शब्दावली

5.13 प्रश्न

5.14 उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संगठनात्मक व्यवहार का इतिहास एवं उद्‌गम तथा रूपरेखा को समझ सकेंगे।
- संगठनात्मक व्यवहार का अर्थ, महत्व एवं प्रकृति को समझ सकेंगे।
- संगठनात्मक व्यवहार में योगदान देने वाले विषय के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र जान सकेंगे।
- संगठनात्मक व्यवहार के विभिन्न सिद्धान्तों एवं सीमाओं को समझ सकेंगे।

5.1 संगठनात्मक व्यवहार का इतिहास एवं उद्‌गम

ज्ञान की पृथक् विधा के रूप में संगठनात्मक व्यवहार को हाल ही में मान्यता मिली है तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की कमियाँ ही इसके विकास का मूल आधार रही हैं। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में प्रबन्धकीय व्यवहार कर्मचारियों के मनोबल एवं सहयोग तक ही सीमित था जिसे मानवीय सम्बन्धों के नाम से जाना जाता था। इस अवस्था में मनुष्य को एक सजीव प्राणी' माना जाता था तथा उसकी शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही प्रबन्धकों द्‌वारा ध्यान दिया जाता था। तत्पश्चात् 1929 ई. की महान मंदी, श्रम आन्दोलन तथा हाव्थोर्न

प्रयोगों ने मानवीय सम्बन्ध आन्दोलन को व्यापक रूप से प्रभावित किया तथा प्रबन्धकों को यह सोचने हेतु विवश किया कि वे मनुष्य के व्यवहार' को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करें तथा उसे व्यवस्थित रूप से समझने एवं जानने का प्रयास करें।

प्रबन्ध को एक व्यवहारवादी विज्ञान का स्वरूप प्रदान करने में मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। **जार्ज ईल्टन मेयो. रोथलिसबर्गर** तथा **विलियम जे. डिक्सन** ने 1924 से 1933 ई. की अवधि में इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किए, जिन्हें 'हाव्थोर्न प्रयोग' के नाम से जाना जाता है। इन प्रयोगों के प्रमुख निष्कर्ष निम्नलिखित हैं -

(1) श्रमिकों की उत्पादकता पर भौतिक वातावरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। मनौवैज्ञानिक एवं सामाजिक घटक भी श्रमिक की उत्पादकता को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं।

(2) श्रमिक केवल 'आर्थिक मनुष्य' ही नहीं, वरन् सामाजिक मनुष्य' भी है; अतः वह अपनी सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए भी कार्य करता है।

(3) कारखाने में श्रमिक अनौपचारिक सामाजिक समूहों का निर्माण करते है।

(4) कर्मचारियों के कार्यो को मान्यता प्रदान करके उनके मनोबल एवं उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है।

(5) संगठन में कार्य एक वैयक्तिक क्रिया नहीं, वरन् एक सामूहिक क्रिया होती है।

(6) भौतिक तत्वों पर नियन्त्रण करना सम्भव है, किन्तु मानवीय एवं सामाजिक तत्वों पर नियन्त्रण करना सम्भव नहीं है।

(7) स्वतन्त्र, उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण पर्यवेक्षण शैली श्रमिकों को अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

(8) श्रमिकों की समस्याओं का कोई एक कारण नहीं होता है, वरन् उनकी व्याख्या समग्र स्थिति के मनोविज्ञान के विश्लेषण से ही सम्भव है।

वास्तव में, हाव्थोर्न परीक्षणों ने प्रबन्धकीय विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान की है। इन परीक्षणों से कई भ्रान्तियाँ एवं कल्पित धारणाओं का खण्डन हु आहै तथा श्रमिकों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर व्यवस्थित रूप से विचार किया जाने लगा है।

मानवीय सम्बन्ध विचारधारा को आगे बढ़ाने में **मेरी पार्कर, फौलेट ओलिवर, शैल्डन, बर्नार्ड, साइमन, आर्गीरिस** आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। **फौलेट** ने 'सम्बन्धों के मनोविज्ञान' पर महत्वपूर्ण कार्य किया है तथा नेतृत्व, रचनात्मक संघर्ष, सहभागिता, मेलजोल, समूह-चिन्तन तथा नवीन प्रजातान्त्रिक मूल्यों को अपनाने पर बल दिया है। शैल्डन ने उद्योगों को मशीनों का पुर्जा नहीं, वरन् मनुष्यों का समुदाय तथा मानवीयता का एक जटिल आकार माना है। **बर्नार्ड** ने प्रबन्ध प्रक्रिया का मानवीय एवं सामाजिक विश्लेषण किया है।

1940 के बाद मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का विशिष्ट रूप में विकास हु आ है तथा यह माना जाने लगा है कि मनुष्य केवल सामाजिक सम्बन्धों से प्रेरित होकर ही कार्य नहीं करता है, अपितु वह अपनी मानसिक, भावात्मक तथा आत्म-विकास की आवश्यकताओं से प्रबन्ध को एक 'व्यवहारवादी विज्ञान' के रूप में विकसित करने में सहयोग करता है। विशेषत: 1960 से 1970 ई. की अवधि में अनेक व्यवहारवादी वैज्ञानिकों ने प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं पर

कार्य किया है, जिसमें सामाजिक अर्न्तव्यवहार, अभिप्रेरणा, सम्प्रेषण, नेतृत्व, कार्य पुर्नरचना, कार्य जीवन की किस्म आदि प्रमुख है तथा कर्मचारी को आर्थिक या सामाजिक मनुष्य की बजाय 'जटिल मनुष्य' के रूप में स्वीकार किया है। इन विद्वानों ने यह बतलाया है कि आधुनिक व्यक्ति कार्य, मानसिक संतुष्टि तथा आत्म-विकास से प्रेरित होता है। **कुर्त लेविन** ने व्यवहार, परिष्कार, अभिप्रेरणा तथा समूह गतिशीलता पर विशेष रूप से बल दिया है, जबकि **रेनसिस** लिकर्ट ने कर्मचारी को एक मशीनी पहिया न मानकर मानव माना है तथा अधिक उत्पादन के लिए 'कार्य-केन्द्रित पर्यवेक्षण' के स्थान पर कर्मचारी-केन्द्रित पर्यवेक्षण' पर विशेष बल दिया है। **डगलस मेकग्रेगर** ने मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी (थ्योरी एक्स एवं थ्योरी वाई) को प्रस्तुत किया है, जबकि **अब्राहम मास्लो** ने बताया है कि व्यक्ति एक निश्चित क्रम में ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास करता है। **हर्जबर्ग** ने द्वि-घटक विचारधारा को प्रस्तुत करते हुऐ अभिप्रेरक तत्वों पर विशेष बल दिया है। **विक्टर एच.ब्रूम** ने संगठनों में व्यवहार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है तथा कार्य व्यवहार, अभिप्रेरणा, कार्य सन्तुष्टि, कार्य निष्पादन, भूमिका, नेतृत्व आदि का विश्लेषण करते हुए मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले प्रौद्योगिकी एवं मनोवैज्ञानिक घटकों में उपयुक्त संतुलन स्थापित करने पर बल दिया है। संक्षेप में, व्यवहारवादी विज्ञान विचारधारा के प्रमुख तत्व निम्नलिखित है -

(1) यह विचारधारा **अन्तर-विषयक दृष्टिकोण** को अपनाती है तथा प्रबन्ध में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र आदि के उपयोग पर बल देती हैं।

(2) यह विचारधारा सम्बन्धों के स्थान पर कार्य की प्रकृति' पर बल देती है तथा व्यक्ति के लिए पद, सम्मान, चुनौती, मान्यता आदि को महत्वपूर्ण मानती हैं।

(3) यह विचारधारा व्यक्ति को एक **'जटिल मनुष्य'** के रूप में स्वीकार करती है तथा मानवीय व्यवहार की जटिलता एवं गतिशीलता को समझने पर विशेष बल देती है।

(4) यह **समूह व्यवहार**, अन्तर-वैयक्तिक व्यवहार तथा अन्त: व्यवहार के अध्ययन पर विशेष बल देती है।

(5) यह कर्मचारियों को अपनी योग्यता, कौशल तथा आन्तरिक **शक्ति का पूर्ण उपयोग** करने हेतु प्रेरित करती है तथा प्रबन्धकों को तकनीकी एवं वैचारिक कौशल पर बल देने की बजाय 'मानवीय कौशल' विकसित करने हेतु प्रेरित करती है।

(6) यह सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों के साथ **वैज्ञानिक विश्लेषण** को भी स्वीकार करती है।

(7) यह विचारधारा उत्पादकता एवं प्रभावशीलता में वृद्धि के साथ कार्य जीवन की गुणवत्ता को स्वीकार करती है तथा लक्ष्य एकीकरण के साथ संगठनात्मक प्रभावशीलता में वृद्धि का लक्ष्य रखती है।

बरान तथा ग्रीनबर्ग का मत है कि जब से संगठनात्मक व्यवहार का उद्भव एवं विकास हुआ है, तब से इसका विविध रूपों में सतत् विकास हो रहा है, जैसा कि निम्न रेखाचित्र में प्रस्तुत किया गया है -

संगठनात्मक व्यवहार के इतिहास में प्रमुख योगदान

1949	1951	1958
समूह वातावरण का लेविन का अध्ययन (नेतृत्व की आधारभूत शैलियों में अन्तर)	ओहियो नेतृत्व अध्ययनों का प्रकाशन (नेतृत्व व्यवहार के आधारभूत आयामों में अन्तर)	फीडलर की नेतृत्व प्रवृत्तियाँ तथा समूह प्रभावशीलता का प्रकाशन (नेतृत्व की आकस्मिकता सम्भावना पर विशेष बल)
1967	**1964**	**1960**
लारेंस एवसं लार्च का संगठन एवं वातावरण का प्रकाशन (यह बताया कि बाह्य वातावरण संगठन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।)	ब्रूम का कार्य एवं अभिप्रेरणा का प्रकाशन (प्रत्याशा विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान)	केकग्रेगर की ह्यूमन साइड ऑफ एण्टरप्राइज का प्रकाशन (थ्योरी एक्स एवं थ्योरी वाई की स्थापना)
1973	**1978**	**1981**
मिन्टजबर्ग का प्रकाशन प्रबन्धकीय कार्य की प्रकृति (उन प्रयासों को वास्तव में समझने पर बल, जो प्रबन्धक करता है)	फीफर तथा सालन्सिक का प्रकाशन–संगठनों का बाह्य नियन्त्रण (संसाधन निर्भरता सम्भावना को स्पष्ट किया)	विलियम औंची का प्रकाशन– थ्योरी जेड (अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में मूल्य आकर्षण में वृद्धि पर प्रोत्साहन)

उपर्युक्त समग्र विवेचन से निम्न तीन बातें स्पष्ट होती हैं- प्रथम, आधुनिक संगठनात्मक व्यवहार इस बात पर बल देता है कि यदि उपयुक्त कार्य दशाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं तो कर्मचारी स्वत: बेहतर कार्य करने हेतु प्रेरित होते हैं। ऐसी दशाओं में कर्मचारी संगठन के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं तथा वांछित दशाओं में अपने व्यवहार को विकसित करते हैं। यदि विपरीत दशाएँ (शोषण, सुपरवाइजर में विश्वास का अभाव आदि) हैं तो वे निम्न सकारात्मक व्यवहार शैली को अपना सकते हैं। बरान तथा ग्रीनबर्ग का मत है कि आधुनिक संगठनात्मक व्यवहार कार्य हेतु 'Rose Tinted Glasses' को नहीं मानता है। यह बतलाता है कि आनन्द तथा सन्तुष्टि प्रदान करने वाली कार्य दशाओं का निर्माण किया जा सकता है तथा जॉब पर रचनात्मक कार्य को करने हेतु कर्मचारियों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, कार्य दशाओं में व्यक्तियों के व्यवहार को वांछित दिशाओं में मोड़ा जा सकता है। द्वितीय, आधुनिक संगठनात्मक व्यवहार आकस्मिकता विचारधारा (Contingency Approach) पर आधारित है। यह मानती है कि निम्न प्रश्नों का सही उत्तर परिस्थितियों पर निर्भर करता है-

1. नेतृत्व की सर्वोत्तम शैली कौन-सी है?
2. कर्मचारी अभिप्रेरणा का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन क्या है?
3. जटिल निर्णयों तक पहुँचने की सर्वोत्तम तकनीक कौन्सी है?

आकस्मिकता विचारधारा यह मानती है कि कार्य दशाओं में व्यवहार अनेक अन्तर्क्रियाशील शक्तियों का जटिल परिणाम होता है। व्यक्तिगत विशेषताएँ (प्रवृत्तियाँ, मूल्य, विश्वास), परिस्थित्यात्मक घटक, संगठनात्मक संस्कृति, व्यक्तियों एवं समूहों के मध्य भूतकालीन एवं वर्तमान सम्बन्ध तथा विद्यमान संगठनात्मक संरचना आदि सभी एक विशिष्ट स्थिति तथा समय में व्यवहार को निरूपित करती है तथा प्रभावित करती हैं। जैसाकि चित्र से स्पष्ट है-

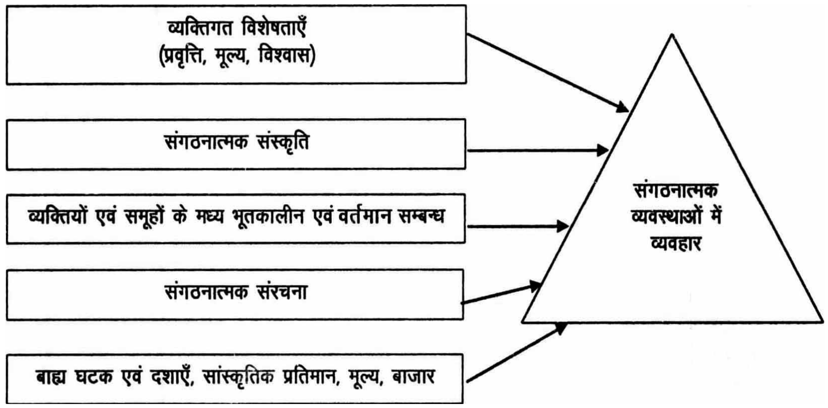

आधुनिक संगठनात्मक व्यवहार की तृतीय महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में इनको व्यापक रूप से अपनाया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से आशय विभिन्न राष्ट्रों में, कार्य दशाओं के मध्य बेहतर समझ तथा उसके प्रभाव से है, जो संगठन एवं व्यक्ति दोनों को प्रभावित करती हैं। साथ ही, इसमें यह भी सम्मिलित है कि ये अन्तर किस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों एवं समाजों से सम्बन्धित हैं। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण विचारधारा, **विलियम औंची** द्वारा प्रतिपादित **'थ्योरी जैड' (Theory Z)** है। **औंची** ने प्रथमतः जापानी तथा अमेरिकी निगमों की प्रमुख विभिन्नताओं का वर्णन किया है तत्पश्चात् इन विभिन्नताओं को विभिन्न संस्कृतियों एवं ऐतिहासिक घटकों के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि अब विशेषज्ञों द्वारा संगठनात्मक प्रभावशीलता में सांस्कृतिक घटकों की भूमिका पर प्रमुखता से ध्यान दिया जा रहा है। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य बढ़ती अन्तर्निर्भरता आज संगठनात्मक व्यवहार को अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में मान्यता एवं स्वीकृति प्रदान करती है।

5.2 संगठनात्मक व्यवहार की रूपरेखा

संगठनात्मक व्यवहार का ढाँचा पाँच तत्वों से मिलकर बनता है।

1. **व्यक्ति -** व्यक्ति संगठनों में कार्य करते हैं तथा व्यक्ति ही संगठन में सामाजिक व्यवस्था स्थापित करते हैं। व्यक्ति एकाकी तथा समूह में हो सकते है। समूह भी अलग-अलग आकार के अर्थात् छोटे-बड़े, बहुत बड़े, बहुत छोटे हो सकते हैं। कुछ समूह औपचारिक होते हैं जो संस्था की संगठन संरचना के नियमों के अन्तर्गत बनाये जाते हैं। कुछ अन्य अनौपचारिक भी होते हैं जो कार्य करने वाले व्यक्ति स्वंय बना लेते हैं या स्वत: बन जाते हैं। व्यक्तियों के समूह गतिशील होते हैं। इनकी गतिशीलता निरन्तर बढ़ रही है क्योंकि व्यक्ति अब अधिक सजग, जीवन्त, विचारशील एवं भावपूर्ण होते जा रहे हैं। ये व्यक्ति ही संगठनों का निर्माण करते हैं ताकि वे सामूहिक उद्देश्यों को अधिक कुशलता से पूरा कर सकें।
2. **समूह -** संगठनात्मक व्यवहार का दूसरा तत्व समूह तथा समूह प्रक्रियाऐ हैं। समूहों का निर्माण व्यक्तियों से होता है तथा समूह छोटे तथा बड़े हो सकते हैं। समूह प्रक्रियायें सम्प्रेषण, निर्णयन, शक्ति एवं नेतृत्व के माध्यम से संचालित की जाती हैं।
3. **प्रौद्योगिकी -** व्यक्ति, कार्य एवं प्रौद्योगिकी तीनों गहनता से जुडे हैं। प्रोद्योगिकी कार्य करने के साधन उपलब्ध करती मशीनें, उपकरण, भवन, उत्पादन प्रणाली आदि सभी प्रौद्योगिकी

में ही सम्मिलित हैं। इन्हीं साधनों से संगठन में कार्यरत लोग अपने कार्यो को अधिक सुविधा एवं कुशलता से पूरा कर पाते हैं। प्रबन्धकों को इस बात का ध्यान रखना होता है कि व्यक्तियों की कार्य स्थल की प्रोद्यौगिकी एवं स्वंय के कार्य के प्रति प्रतिक्रिया क्या है। कार्य सम्बन्धों पर भौतिक व आर्थिक संसाधनों, कार्य की तकनीक, उपकरण, कार्य-पद्धति आदि का अत्यधिक प्रभाव पडता है। सही प्रौद्योगिकी कर्मचारी के कार्य में सहायक होती है किन्तु कठिन प्रौद्योगिकी कार्य निष्पादन की भौतिक एवं मानसिक लागत में वृद्धि करती

4. **संगठन डिजाइन -** संगठन डिजाइन कार्य सम्बन्धों को परिभाषित करती है। यह व्यक्तियों के मध्य दायित्वों व अधिकारों के वितरण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करती है। संगठन संरचना जितनी अधिक प्रभावी होगी कर्मचारियों के व्यवहार एंव निष्पादन को उतने ही अच्छे ढंग से समन्वित एंव नियन्त्रित किया जा सकता है। संगठन संरचना कार्यो व उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देती है किन्तु संगठन संरचना की सफलता आसान नहीं है यह संरचना ही कभी-कभी समन्वय, सहयोग, निर्णयन आदि में भारी समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं।

5. **वातावरण -** संगठन समाज के विभिन्न प्रकार के वातावरण में कार्य करते हैं। आन्तरिक एंव बाहय वातावरण के साथ संगठन निरन्तर अन्र्तव्यवहार करता है। बाहय वातावरण की भी कई उप-प्रणालियॉ है जैसे:- सरकार, समाज, उपभोक्ता, कर्मचारी संगठन, प्रतिस्पर्धी संस्थाएँ इत्यादि। सभी उप-प्रणालियॉ संगठन के बाहरी वातावरण का निर्माण करती हैं तथा प्रत्येक संगठन की कार्यप्रणाली को प्रभावित करती हैं। इससे संगठन में कार्यरत लोगों के व्यवहार पर प्रभाव पडता है, संगठन की उत्पादन प्रणाली विपणन नीतियाँ आदि भी प्रभावित होती हैं। संगठनों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन करते समय समस्त वातावरणीय धटको का अध्ययन किया जाना चाहिए।

5.3 संगठनात्मक व्यवहार का अर्थ एवं परिभाषा

संगठनात्मक व्यवहार का अर्थ :

संगठन व्यवहार संगठनों के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार' का अध्ययन है। सामान्य शब्दों में संगठनात्मक व्यवहार से तात्पर्य संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन से है। संगठनात्मक व्यवहार में अध्ययन किया जाता है कि व्यक्ति संगठन मे क्या' तथा क्यों करते है तथा उनके व्यवहार का संगठन के कार्यो पर कैसा प्रभाव होता है। वस्तुत: संगठन में तीन प्रकार के मानवीय व्यवहार देखे जा सकते है: -

1. **अन्त: वैयक्तिक व्यवहार -** अन्त: वैयक्तिक व्यवहार कर्मचारियों का स्वंय का व्यवहार होता है जो उनके व्यक्तित्व, प्रवृत्तियों, अवबोध, अभिप्रेरणा, अपेक्षा तथा आन्तरिक भावनाओं के फलस्वरूप प्रकट होता है।

2. **अन्तर्वेयक्तिक व्यवहार -** दो व्यक्तियों या दो से अधिक व्यक्तियों (समूह) के मध्य होने वाली पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवहार को अन्तर्वेयक्तिक व्यवहार कहा जाता है। यह व्यवहार समूह गतिशीलता अन्र्तसमूह संघर्ष, नेतृत्व, सम्प्रेषण आदि के रूप में प्रकट होते है।

3. **संगठन व्यवहार -** इसमें संगठन की औपचारिक संरचनाओं तथा अनौपचारिक समूहों के व्यवहार को शामिल किया जाता है। संगठनात्मक व्यवहार में उपर्युक्त तीनों प्रकार के व्यवहार एवं उसके प्रभावों तथा संगठन के आन्तरिक एवं बाहय वातावरण के प्रभावों का अवलोकन, अध्ययन एवं नियन्त्रण किया जाता है।

संगठनात्मक व्यवहार की परिभाषाएँ

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई संगठनात्मक व्यवहार की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है:-

1. **प्रो. रोबिन्स के शब्दों में,** "संगठनात्मक व्यवहार अध्ययन का एक क्षेत्र है जो व्यक्तियों, समूहों तथा ढाँचे का संगठनों के भीतर व्यवहार पर होने वाले प्रभाव का अन्वेषण या तहकीकात करता है जिसका उद्देश्य ऐसी जानकारी को संगठन की प्रभावकारिता को बढ़ाने में उपयोग करता है।"
2. **जॉय कैली के अनुसार,** "संगठनात्मक व्यवहार संगठन की प्रकृति का व्यवस्थित अध्ययन है - वे कैसे शुरू होते है, बढते हैं तथा विकसित होते है तथा उनका व्यक्तिगत सदस्यों, संगठित समूहों अन्य संगठनों तथा वृहत् संस्थाओं पर कैसा प्रभाव होता है।"
3. "**कीथ डेविस के अनुसार,** "संगठनात्मक व्यवहार एक ऐसा शैक्षणिक ज्ञान है जो एक संगठनात्मक वातावरण में मानवीय व्यवहार को समझने तथा इसका वर्णन करने से सम्बन्धित है। यह इस बात का अध्ययन एवं विश्लेषण है कि किस संगठनात्मक वातावरण में मनुष्य का व्यवहार कैसा होगा? यह संगठन में किसी मनुष्य के व्यवहार को देखकर उसके कारण एवं परिणाम पर प्रकाश डालता है और लक्ष्य निर्धारित करता है। **डेविस** ने सम्पूर्ण संगठनात्मक व्यवहार विषयक विचारधाराओं का निरूपण लक्ष्य एवं संगठन' के रूप में किया हैं। इसके अनुसार व्यक्ति, संरचना, बाह्य वातावरण तथा टैक्नोलॉजी संगठनात्मक व्यवहार के आधारभूत तत्व है जिसके भीतर संगठन संचालित होता है।
4. **फ्रेड लुथांस के शब्दों में,** "संगठनात्मक व्यवहार संगठनों में माननीय 'व्यवहार की समझ, पूर्वानुमान एवं नियन्त्रण से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है।"
5. **डरबिन के अनुसार,** "संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन उस संगठन के लोगों के व्यवहार को समझने का व्यवस्थित प्रयास है जिसके वे अभिन्न अंग है।"
6. **चंग एवं मैगिनसन के अनुसार,** "संगठनात्मक व्यवहार संगठनात्मक घटकों तथा मानवीय व्यवहार संगठन निष्पादन पर उनके प्रभावों का अध्ययन है। ऐसा अध्ययन कई व्यवहारात्मक एवं सामाजिक विज्ञानों से लाभान्वित होता है।"

निष्कर्ष - संगठनात्मक व्यवहार संगठनो में एकाकी व्यक्तियों एवं समूहो के व्यवहार, संगठन संरचना, तकनीकों एवं वातावरण की विशेषताओं के आपसी प्रभावों के अध्ययन से सरोकर रखता है। संगठनात्मक व्यवहार संगठन में व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहार तथा उसके संगठन पर प्रभावों का अध्ययन करने तथा इससे प्राप्त जानकारी से उनके भावी व्यवहार का पूर्वानुमान करने तथा नियंत्रण करने से सरोकार रखता है। इस प्रकार **संगठनात्मक व्यवहार संगठन में कार्यारत व्यक्तियों, समूहों तथा संगठन के विभिन्न घटकों के व्यवहार तथा उनसे**

उत्पन्न प्रभावों तथा वातावरण के साथ उनकी अन्तक्रियाओं का अध्ययन है ताकि इस ज्ञान से संगठन को प्रभावी एवं उद्देश्यपरक बनाया जा सके।

5.4 उद्देश्य

मानव एक विलक्षण एवं सजग प्राणी है। वर्तमान में सभी सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों में मनुष्य का व्यवहार तथा संगठन की बढ़ती जटिलता प्रबंधकों के ध्यानाकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। संगठन मानवीय प्रयासों एवं सामूहिक क्रियाओं के द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने की सामाजिक प्रणालियाँ है। संगठन कार्य ढॉचे कार्य सम्बन्धों, प्रौद्योगिकी तथा मानवीय व्यवहार का मिश्रण है। सभी प्रकार के संगठनो में मानवीय व्यवहार को समझ लेना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। संगठनात्मक व्यवहार' इसी विषय की विवेचना करता है। ज्ञान का यह नवीन क्षेत्र संगठन में मूलत: व्यक्तियों के व्यवहार के व्यवस्थित अध्ययन से सम्बन्धित है।

5.5 संगठनात्मक व्यवहार का महत्व

संगठनात्मक व्यवहार की लोकप्रियता 1950 ई. के बाद से तीव्र गति से बढ़ी है, विकसित राष्ट्रों में यह विषय प्रबन्धकों के अध्ययन तथा विश्लेषण का केन्द्र रहा है। संगठनात्मक व्यवहार संस्था में मानवीय तथा भौतिक साधनों के बेहतर उपयोग को सम्भव बनाता है। यह व्यक्ति एंव संगठन में सुधार लाता है तथा टीम भावना का विकास करता है जिससे संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना आसान हो जाता है। इसके द्वारा मानवीय लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव होती है जिससे उनके मनोबल में वृद्धि होती है तथा बेहतर श्रम-प्रबन्ध सम्बन्धों का निर्माण होता है। संगठनात्मक व्यवहार में व्यक्ति, समूह तथा संरचना का बाहय वातावरण के साथ अध्ययन किया जाता है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि बाहय वातावरण के साथ संगठन का तालमेल कैसे किया जा सकता है। ऐसे विश्लेषण एवं अध्ययन से संगठनात्मक प्रभावशीलता में सुधार लाया जा सकता है। संक्षेप में निम्नलिखित कारणों से **संगठनात्मक व्यवहार के अध्ययन की आवश्यकता होती है -**

1. **मानवीय व्यवहार को समझने के लिए -** मानवीय व्यवहार के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण करने का यह प्रमुख उपकरण है। यह व्यक्तिगत, अन्त: वैयक्तिक, समूह तथा अन्तर-समूह स्तर पर प्रबन्धकों के लिए व्यक्तियों के व्यवहार को समझने में सहायक होता है। संगठनात्मक व्यवहार के द्वारा प्रबन्धक संगठन में कार्यरत कर्मचारी को समग्र मानव के रूप में बेहतर रूप में समझते हुए अन्त: वैयक्तिक व्यवहारों की जटिलता को समझ सकता है तथा मनुष्यों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन या सुधार ला सकता है। इससे व्यक्ति की कार्य करने की मन: स्थिति, रूझान, कार्य-सन्तुष्टि, प्रतिक्रिया, तत्परता, कार्य-निष्ठा, कार्य के प्रति दृष्टिकोण आदि को समझा जा सकता है। इसके ज्ञान से मानवीय सम्बन्धों में सुधार लाया जा सकता है।
2. **समूह गति का ज्ञान -** संगठनात्मक व्यवहार में व्यक्तियों के व्यवहार का समूह स्तर पर अध्ययन किया जाता है। एक संगठन में अनेक समूह कार्यरत रहते हैं, जिनमें तनाव, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा तथा मतभेद चलते रहते हैं तथा जिनका संगठन की कार्य प्रणाली एवं आपसी सम्बन्धों पर गहन प्रभाव होता है। इसके द्वारा छोटे समूहों के सम्बन्धों की गतिशीलता को

बेहतर रूप से समझा जा सकता है तथा समूह के कार्य करने की पद्धति, सम्प्रेषण, नेतृत्व प्रभाव आदि के बारे में यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

3. **व्यवहार को नियन्त्रित एंव निर्देशित करना -** संगठनात्मक व्यवहार मानवीय व्यवहार को निर्देशित एवं नियंत्रित करने में भी अहम् भूमिका निभाता है। इसके द्वारा उन तरीकों का अध्ययन किया जाता है जिनसे सत्ता का दुरूपयोग रोकते हुए संगठनात्मक एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों में प्रभावी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा संगठनात्मक वातावरण में वांछित सुधार किया जा सकता है।

4. **मानव संसाधन प्रबन्ध का आधार -** बेहतर मानव संसाधन प्रबन्ध का आधार संगठनात्मक व्यवहार ही है। इसके द्वारा अधिकांश मानवीय सम्बन्धों का मानवीय ढंग से समाधान किया जा सकता है। न्यूस्ट्राम तथा कीथ डेविस के अनुसार 'संगठनात्मक व्यवहार मानवीय लाभ के लिए मानवीय उपकरण है।'

5. **संगठनों को परिवर्तन के अनुकूल बनाना -** संगठनात्मक व्यवहार के द्वारा संगठन को परिवर्तनों के अनुकूल बनाया जा सकता है तथा परिवर्तन को प्रभावी तौर से लागू करने हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। परिवर्तन के बिना संगठन कार्य नहीं कर सकते हैं। आधुनिक युग में तेजी से हो रहे परिवर्तनों ने प्रबन्धकों के समक्ष एक चुनौती उत्पन्न कर दी है। इससे उभरने के लिए संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन आवश्यक हो गया है।

6. **उपभोक्ता व्यवहार की कुंजी -** संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन विपणन के क्षेत्र में भी उपयोगी है। सम्पूर्ण विपणन क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु उपभोक्ता व्यवहार है। माल का प्रवाह, विपणन श्रृंखलाओं को प्रभावशीलता, नवप्रवर्तन, विपणन सृजनात्मकता आदि अनेक परिवर्तन उपभोक्ता व्यवहार पर निर्भर करते है।

7. **व्यक्ति कौशल के विकास में सहायक -** आज प्रबन्ध के क्षेत्र में तकनीकी योग्यता से भी अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति योग्यता हो गई है। व्यक्तियों के व्यक्तित्व को ठीक से समझ लेना प्रबन्धकों के लिए सुगम नहीं है। इसके लिए संगठनात्मक व्यवहार का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

8. **उच्च उत्पादकता एंव श्रेष्ठ परिणाम -** संगठनात्मक व्यवहार उत्पादकता दृष्टिकोण पर भी आधारित है। यह वैयक्तिक एंव समूह व्यवहार पर नियंत्रण करके संगठन की उत्पादकता में वृद्धि करने तथा श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त करने पर बल देता है। यह श्रेष्ठ परिणामों के आधार पर संगठन को प्रभावी बनाता है।

9. **संस्था की सफलता -** संगठनात्मक व्यवहार के द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहार को समझने एवं पूर्वानुमान करने में सुविधा रहती है। इससे कर्मचारियों को उचित निर्देश देकर उनकी क्षमताओं एवं योग्यताओं का संस्था के हित में उपयोग किया जा सकता है।

10. **प्रबन्धकीय जीवनवृत्ति में सुविधा -** संगठनात्मक व्यवहार के कारण युवा पीढ़ी को प्रबन्धकीय जीवनवृति में प्रवेश के नये-नये अवसर प्राप्त होते हैं। संगठनात्मक व्यवहार को अध्ययन कर लेने के फलस्वरूप वे प्रबन्ध क्षेत्र में अधिक सफल हो सकते हैं।

5.6 संगठनात्मक व्यवहार की प्रकृति

संगठनात्मक व्यवहार की प्रकृति को भली प्रकार से समझने के लिए हम इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कर रहे है :-

1. **अध्ययन का क्षेत्र -** संगठनात्मक व्यवहार अध्ययन का एक क्षेत्र है। यह अपेक्षाकृत नया क्षेत्र है किन्तु यह अध्ययन का एक पृथक विषय है। अभी यह पूर्ण एवं मान्य विज्ञान नहीं है। इसके ज्ञान का अभी व्यवस्थीकरण नहीं हुआ है तथा इसके सिद्धान्त एवं अवधारणाएँ दूसरे विषयों से ग्रहण की जा रही हैं।

2. **अध्ययन की विषय वस्तु -** संगठनात्मक व्यवहार में कुछ विशेष पहलुओं का अध्ययन किया जाता है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं:- (1) एकाकी व्यक्ति (2) व्यक्तियों का समूह (3) संरचना (4) तकनीक (5) वातावरण आदि।

3. **आशावादी -** संगठनात्मक व्यवहार की मूल धारणा आशावाद पर केन्द्रित है। संगठनात्मक व्यवहार के अध्ययन एंव क्रियान्वयन में एक आधारभूत मान्यता यह रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति में असीम क्षमताएँ हैं, वह सृजनशील है, आत्मनिर्भर है, उत्पादक है तथा वह संगठन में सहयोग की भावना रखता है।

4. **सेवायोजन सम्बन्धी व्यवहार का अध्ययन -** संगठनात्मक व्यवहार सेवायोजन सम्बन्धी व्यवहार एवं वातावरण का अध्ययन करता है। फलतः यह कर्मचारियों के कार्यो, उपस्थिति, आवर्तन, उत्पादकता, नेतृत्व, संचार-व्यवस्था, समूह में आपसी सम्बन्ध, कार्यतनाव आदि से सम्बन्धित पहलुओं का अध्ययन करता है।

5. **व्यावहारिक विज्ञान -** संगठनात्मक व्यवहार एक प्रयुक्त एवं प्रयोगिक विज्ञान है। इसके क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसंधान, अध्ययनों तथा अवधारणात्मक विकासों से इसका वैज्ञानिक आधार मजबूत होता जा रहा है। कर्मचारी व्यक्तित्व, अभिवृत्तियों, मूल्य, प्रेरणा, सन्तुष्टि, अवबोध तथा मानवीय व्यवहार के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में निरन्तर शोध किये जा रहे हैं।

6. **वातावरण से सम्बद्ध -** संगठनात्मक व्यवहार संगठन के आन्तरिक एवं बाहय वातावरण का अध्ययन करते हुए मानवीय व्यवहार को समझने पर बल देता है। व्यक्ति के निजी एवं समूह व्यवहार पर संगठन के परिवेश, नीतियों पारस्परिक विचारों के साथ-साथ बाहय दशाओं एवं मूल्यों का भी प्रभाव पड़ता है।

7. **उद्देश्य -** संगठनात्मक व्यवहार व्यक्तियों एवं समूहों के अध्ययन पर केन्द्रित है किन्तु इसका प्रमुख उद्देश्य संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोग करना है। यह समन्वयवादी दृष्टिकोण रखते हुए "व्यक्ति" एवं 'संगठन' के हितों को एकीकृत करने का प्रयास करता है।

8. **कला एंव विज्ञान -** संगठनात्मक व्यवहार व्यक्तियों के व्यवहार के कारणों एवं परिणामों के बीच निश्चित सम्बन्ध खोजने का प्रयास करता है। इसके लिए यह सिद्धान्तों, तकनीकों एंव तर्को का प्रयोग करता है। इस प्रकार व्यवहार के सम्बन्ध में यह वैज्ञानिक दृष्टि अपनाता है।

9. **सार्वभौमिक नहीं -** संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन सार्वभौमिक हो सकता है किन्तु इससे प्राप्त ज्ञान या सूचना सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं की जा सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मानवीय व्यवहार सभी संगठनों में एक समान नहीं होता है।

10. **प्रणाली दृष्टिकोण -** संगठनात्मक व्यवहार प्रणाली दृष्टिकोण को अपनाता है क्योंकि यह संगठन की कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाले प्रत्येक घटक पर विचार करता है। यह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा संस्कृतिक घटकों के संदर्भ में व्यवहार का विश्लेषण करता है।

11. **संयोग एंव प्रासंगिकता प्रधान -** संगठनात्मक व्यवहार में संयोग या प्रासंगिकता प्रधान प्रबन्धकीय व्यवहार के विकास का प्रयास किया जाता है। इस अध्ययन के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार एवं परिस्थितियों के अनुरूप ही प्रबन्धकीय व्यवहार के विकास का प्रयास किया जाता है। इससे व्यक्तियों के व्यवहार एवं प्रबन्धकीय व्यवहार में समन्वय बना रहता है।

12. **मानव संसाधन दृष्टिकोण -** संगठनात्मक व्यवहार मानव संसाधन दृष्टिकोण को अपनाता है। अर्थात् यह कर्मचारियों के विकास एंव निष्पादन तथा उनकी तरक्की में विश्वास करता है।

13. **अंतर्विषयक -** संगठनात्मक व्यवहार अन्तर विषयक अध्ययन है। इसके अध्ययन में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, विधि-शास्त्र आदि विषयों की भी इसके अध्ययन में सहायता ली जाती है। इन सभी विषयों के सिद्धान्तों, ज्ञान एंव व्यवहार का समन्वय करके ही संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन एवं क्रियान्वयन किया जा सकता है।

5.7 संगठनात्मक व्यवहार में योगदान देने वाले विषय

संगठनात्मक व्यवहार एक व्यवहारवादी विज्ञान है। यही कारण है कि अनेक सम्बद्ध विज्ञानों के योगदान पर इसका निर्माण तथा विकास हुआ है, जिसमें मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र प्रमुख हैं।

1. **मनोविज्ञान -** मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है। इसमें पशु एवं मानव दोनों का व्यवहार शामिल है। मनोविज्ञान वैयक्तिक एवं अन्तर्वेयक्तिक व्यवहार से सम्बन्ध रखता है इससे जुड़े हुए पहलुओं में अभिप्रेरणा, व्यक्तित्व, अवबोध मत और शिक्षण आदि को शामिल किया जाता है। इनके अध्ययन से कर्मचारियों के व्यवहार का विश्लेषण किया जा सकता है। औद्योगिक मनोविज्ञान व प्रबन्धकीय मनोविज्ञान जैसे विषयों से तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोगों व अनुसंधानों से संगठनात्मक व्यवहार का विषय बहुत समृद्ध हुआ है।

2. **समाजशास्त्र -** जहॉ मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं वहीं समाजशास्त्री सामाजिक प्रणाली के अध्ययन को प्रमुखता प्रदान करते हैं जिसमें व्यक्ति अपनी भूमिका निभाते हैं। मैक्स वैबर के अनुसार, ' समाजशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें सामाजिक क्रियाओं के विश्लेषण का प्रयास किया जाता है। संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में समाजशास्त्रियों ने निम्न विषयों के संदर्भ में महत्वपूर्ण योगदान दिया है- समूह गतिशीलता, संदेशवाहन, सत्ता, संघर्ष, अन्तर-समूह, व्यवहार, संगठनात्मक परिवर्तन, संगठनात्मक संस्कृति आदि।

3. **सामाजिक मनोविज्ञान -** सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं पर आधारित है। यह व्यक्तियों के परस्परिक प्रभावों का अध्ययन करता है। सामाजिक मनोविज्ञान का एक पहलू अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह है परिवर्तन। संगठनात्मक व्यवहार परिवर्तनों को लागू करने उनके प्रतिरोध को कम करने तथा उन्हें सफलता पूर्वक क्रियान्वियत करने के लिए सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तो को प्रयोग में लाता है।

4. **मानवशास्त्र -** मानवशास्त्र मानव तथा उसके कार्यो का अध्ययन है। इसमें मनुष्य की सामाजिक तथा सांस्कृतिक सृजनात्मक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। श्रीनिवास के अनुसार, "यह मानव समाजों का तुलनात्मक अध्ययन है। आदर्श रूप में इसके अन्तर्गत आदिम, सभ्य एवं ऐतिहासिक सभी प्रकार के समाज आ जाते है। "इसका अध्ययन कार्य मूलतः संस्कृति तथा वातावरण पर केन्द्रित रहता है जो विज्ञान विभिन्न संगठनों एवं राष्ट्रों में कार्यरत व्यक्तियों के आधारभूत मूल्यों, प्रवृत्तियों तथा व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता करते हैं। मानवशास्त्र के निम्न विषय क्षेत्र संगठनात्मक व्यवहार के सन्दर्भ में उपयोगी हैं -
   1. तुलनात्मक मूल्य एवं प्रवृत्तियाँ
   2. क्रॉस सांस्कृतिक विश्लेषण
   3. संगठनात्मक संस्कृति
   4. संगठनात्मक वातावरण

5. **राजनीति शास्त्र -** राजनीति विज्ञान राजनीतिक वातावरण में व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहार का अध्ययन करता है। संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में भी अनेक राजनीतिक पहलुओं जैसे संघर्ष समाधान, समूह टकराव, सत्ता का वितरण आदि का अध्ययन किया जाता है।

6. **अर्थशास्त्र -** अर्थशास्त्र में वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन, विनियम एवं उपयोग आदि क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है। अर्थशास्त्र विकल्प चयन एवं निर्णयन के द्वारा सीमित संसाधनों के आवंटन तथा आर्थिक नीतियों के निर्धारण पर बल देकर आर्थिक विकास में योगदान करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र संगठनात्मक व्यवहार के विकल्पों का चयन करने, निर्णय करने, संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करने आदि में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करता है।

5.8 संगठनात्मक व्यवहार का क्षेत्र

संगठनात्मक व्यवहार का अध्ययन प्रबन्ध के व्यवहारवादी दृष्टिकोण का आधार है। इसके माध्यम से प्रबन्धक को यह ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति किसी निश्चित परिवेश में विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों करता है। संगठनात्मक व्यवहारों की अभिव्यक्ति संगठन गतिशीलता, संघर्ष, परिवर्तन एवं समायोजन आदि के रूप में होती है। जहां तक इसके क्षेत्र का प्रश्न है, व्यवहारविद् इस संबंध में एक मत नहीं हैं। प्रबन्ध की आकस्मिकता विचारधारा यह बतलाती है कि वांछित व्यवहार की मात्रा एवं किस्म (नेतृत्व, संघर्ष प्रबन्ध, एकीकरण) संगठनात्मक वातावरण तथा इसके सदस्यों की विशेषताओं पर निर्भर करता है। एक अन्य विचारधारा (Normative Theory) इस बात पर बल देती है कि सभी संगठनों को कुछ निश्चित आदर्शो जैसे सहभागिता, खुलापन आदि का दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। **माइकल बीयर** का मत

है कि संगठनात्मक व्यवहार में सम्मिलित मुद्दों की निश्चित सूची बनाना सम्भव नहीं है, फिर भी इसके क्षेत्र में निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है-

- नेतृत्व एवं पर्यवेक्षण
- समस्या समाधान
- संदेशवाहनमात्रा एवं गुणव-त्ता
- नियोजन एवं लक्ष्य निर्धारण
- अन्तरसमूह सम्बन्ध एवं एकीकरण-
- समूह एवं सभा प्रक्रियण
- संघर्ष प्रबन्ध
- अन्तरवैयक्तिक सम्बन्ध-
- निर्णयन प्रक्रिया
- मूल्यांकन एवं नियंत्रण प्रक्रिया
- आलोच्य एवं नवीनीकरण प्रक्रिया

फ्रेड लूथांस का मत है कि अमेरिकी संगठनों में सफल प्रबन्धक प्रबन्ध के मानवीय पक्ष पर विशेष ध्यान देते हैं। संगठनात्मक व्यवहार प्रबन्ध के मानवीय पक्ष के अध्ययन एवं प्रयोग से सम्बन्धित है, जिसमें निम्नलिखित बिन्दु सम्मिलित हैं- संगठनात्मक संस्कृति, व्यक्तित्व, अवबोधन, प्रवृत्तियाँ एवं जॉब सन्तुष्टि, कार्य दबाव, अभिप्रेरणा, सीखना, संगठनात्मक व्यवहार संशोधन, औपचारिक एवं अनौपचारिक समूह, अर्न्तक्रिया व्यवहार एवं संघर्ष, शक्ति एवं राजनीति, नेतृत्व प्रक्रिया एवं शैली, सम्प्रेषण, निर्णयन एवं नियन्त्रण, संगठन सिद्धान्त एवं प्रचना तथा संगठनात्मक परिवर्तन एवं विकास। **रोबिन्स** तथा **कीथ डेविस** ने भी संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में इन बिन्दुओं के साथ परिवर्तनों के प्रबन्ध. टेक्नोंलॉजी तथा व्यक्ति, कार्य जीवन की किस्म, समान, रोजगार अवसर, दबाव एवं परामर्श, आर्थिक प्रेरणात्मक पद्धति आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। संक्षेप में, संगठनात्मक व्यवहार का क्षेत्र दिनों-दिन व्यापक होता जा रहा है। अब इसमें व्यक्ति, समूह, संगठन संरचना के साथ मानवीय व्यवहारों की सम्पूर्णता पर बल दिया जा रहा है। व्यवहारवादी वैज्ञानिक अपना ध्यान संगठनात्मक विचारधाराओं, विशेषत: संगठनात्मक समायोजनशीलता तथा मानवीय व्यवहारों पर ही केन्द्रित कर रहे हैं।

5.9 संगठनात्मक व्यवहार के सिद्धान्त

संगठनात्मक व्यवहार विषय कुछ मूलभूत विचारों व अवधारणाओं पर आधारित है जो कि व्यक्ति तथा संगठनों की प्रकृति से सम्बन्धित है। ये विचार संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में प्रभावी ढंग से लागू होते हैं, यद्यपि प्रबन्ध के अन्य क्षेत्रों में भी इनका उपयोग होता है। ये निम्नलिखित हैं-

1. **वैयक्तिक अन्तर -** व्यक्ति कई दृष्टि से समान हैं जैसे उनके द्वारा सुख-दुख का आभास करना। लेकिन फिर भी व्यक्ति निजी तौर पर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। कुशाग्रता, व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, विचार-चिन्तन, साहस, धैर्य, बौद्धिक स्तर आदि कई गुणों को लेकर व्यक्ति भिन्नता रखते हैं। उनकी अभिप्रेरणा एवं सन्तुष्टि का स्तर भी भिन्न होता है। उनके कार्य करने एवं परिणाम प्राप्त करने का ढंग भी अलग-अलग हो सकता है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि **"प्रत्येक व्यक्ति अदभूत है"**। उनकी कार्य क्षमताएं, सीखने व ग्रहण करने की क्षमता आदि भी भिन्न-भिन्न हैं। अत: प्रबन्धक को प्रत्येक व्यक्ति एवं स्थिति के संदर्भ में ही निर्णय

लेने होते हैं। उसे कोई भी कार्यवाही करते समय कर्मचारी के व्यक्तित्व एवं गुण विशेष के अन्तरों को ध्यान में रखना चाहिए।

2. **अवबोध -** व्यक्ति चीजों एवं घटनाओं को अलग-अलग ढंग से देखते हैं। व्यक्तियों का नजरिया, दृष्टिकोण एवं सोचने-समझने का तरीका भिन्न-भिन्न होता है। व्यक्ति की दृष्टि एवं सोच उसके व्यक्तित्व, आवश्यकताओं, विगत अनुभव, सामाजिक वातावरण, समय अवधि आदि पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति के विश्वासों, मूल्यों एवं अपेक्षाओं का अपना संसार होता है जिसके माध्यम से वे निर्णय लेते हैं। चयनित अवबोध के अनुसार व्यक्ति केवल उसके विश्वासों से संगत बातों पर ही अधिक ध्यान देता है। **न्यूस्ट्राम एवं कीथ डेविस के अनुसार, "प्रबन्धकों को अपने कर्मचारियों के अवबोध सम्बन्धी अन्तरों को स्वीकार करने तथा व्यक्तियों को भावपूर्ण प्राणियों के रूप में देखने का प्रयास करना चाहिए तथा उनके साथ वैयक्तिक ढंग से व्यवहार करना चाहिए।"**

3. **एक सम्पूर्ण व्यक्ति -** व्यक्ति कार्य-स्थल पर सम्पूर्ण मानव के रूप में कार्य करते हैं। व्यक्ति को कार्य पर सम्पूर्ण रूप से नियोजित किया जाता है केवल उसके **'कार्यकौशल'** का ही उपयोग नहीं किया जाता। व्यक्ति अपनी कार्य योग्यताओं के साथ-साथ अपनी भावनाओं, आवश्यकताओं, अपने उत्साह, दृष्टिकोण तथा अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को कार्य स्थल पर साथ लेकर आता है। उसके घर के जीवन को उसके कार्य जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। कर्मचारी अपने समस्त गुणों अवगुणों उत्साह-निराशाओं सन्तुष्टि व तनावों एवं घर व बाहर के दबावों को कार्यस्थल पर साथ लाता है, क्योंकि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। अत: प्रबन्धक को अपने कर्मचारियों को 'सम्पूर्ण मानव के रूप में स्वीकार करना चाहिए, अर्थात् उसे कर्मचारियों के गुणों व कार्यक्षमता के साथ-साथ उनकी असन्तुष्टि निराशा, मानसिक वेदना, उपेक्षा-अरुचि, असमर्थता आदि पर भी विचार करना चाहिए।

4. **निमित्त व्यवहार -** प्रत्येक व्यवहार का कोई कारण होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यवहार के पीछे कोई उद्देश्य, हेतु अथवा प्रयोजन होता है। जब कोई श्रमिक अपने सुपरवाइजर से विवाद करता है, या कार्य पर देरी से आता है अथवा कार्य में निरन्तर त्रुटियाँ करता है तो यह अकारण नहीं होता है। मनोवैज्ञानिक मानते है कि 'कोई भी व्यवहार आकस्मिक नहीं होता है।' अत: प्रबन्धक को कर्मचारियों के व्यवहार के पीछे निहित कारण को जानते हुएही उनके साथ व्यवहार करना चाहिए।

5. **भागीदारी की इच्छा -** प्रत्येक व्यक्ति में सम्मान की ललक होती है। वह अपनी क्षमता सिद्ध करके महत्वपूर्ण अनुभव करना चाहता है। संगठन में प्रत्येक कर्मचारी यह विश्वास रखता है कि उसमें कार्य करने की क्षमता है वह अपनी भूमिकाओं का निर्वाह कर सकता है तथा चुनौतीपूर्ण स्थिति का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। आज अनेक कर्मचारी नीति व निर्णयों के निर्धारण में भाग लेना चाहते हैं। अत: प्रबन्धक को संगठन में व्यवहार करते समय कर्मचारियों की कार्य क्षमता, गुण एवं भागीदारी की आकांक्षा को ध्यान में रखना चाहिए।

6. **व्यक्ति के प्रति नीतिगत व्यवहार -** संगठनात्मक व्यवहार व्यक्ति की गरिमा एवं उसकी नैतिक छवि में विश्वास करता है। व्यक्ति को मात्र उत्पादन का साधन नहीं माना जाना चाहिए। मनुष्य

आर्थिक उपकरण नहीं है, वरन् आत्मिक इकाई है। अत: उनके साथ वस्तुगत व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। नैतिक निष्पादन का उच्च स्तर बनाये रखा जाना चाहिए। उन्हें विकास के अवसर दिये जाने चाहिए। उच्च नैतिक व्यवहार के लिए कर्मचारियों को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। संगठनात्मक व्यवहार के सम्बन्ध में प्रबन्धक का प्रत्येक निर्णय नीतिगत मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।

7. **संगठन सामाजिक प्रणालियाँ हैं -** संगठनात्मक व्यवहार यह मानता है कि संगठन सामाजिक प्रणाली है क्योंकि यह मानवीय सम्बन्धों से निर्मित होता है तथा सामाजिक नियमों से नियन्त्रित होता है। संगठन में व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के साथ-साथ सामाजिक भूमिकायें तथा स्तर भी होता है। उनका व्यवहार उनकी वैयक्तिक एवं समूह आवश्यकताओं दोनों से प्रभावित होता है। वास्तव में, संगठनों में दो प्रकार की प्रणालियाँ- औपचारिक एवं अनौपचारिक विद्यमान होती है। सामाजिक प्रणाली से तात्पर्य यह भी है कि संगठनात्मक वातावरण गतिशील परिवर्तनों से मिलकर बनता है। संगठन कागजों पर निर्मित सम्बन्धों का ढांचा नहीं है। संगठन के सभी हिस्से अन्तर्निर्भर तथा प्रभावों के अधीन होते हैं। प्रत्येक अंग दूसरे से जुड़ा होता है। संगठनात्मक व्यवहार इसी विचार पर आधारित है।

8. **हितों की पारस्परिकता -** हितों की पारस्परिकता इस बात में निहित है कि 'संगठनों को व्यक्तियों की जरूरत होती है तथा व्यक्तियों को संगठनों की आवश्यकता होती है। ' संगठनों का एक मानवीय उद्देश्य होता है तथा वे अपने सदस्यों के हितों की पारस्परिकता के आधार बनाये तथा चलाये जाते हैं। जिन संगठनों में हितों की पारस्परिकता नहीं होती है वे केवल भीड़ मात्र होते हैं। पारस्परिक हित **"अधिगौण लक्ष्य"** (Superordinate Goal) की ओर कर्मचारियों को प्रेरित करते हैं। अधिगौण लक्ष्य वह होता है जिसे व्यक्तियों तथा नियोक्ता के एकीकृत प्रयासों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जब सहयोग एवं दलीय भावना होती है तो व्यक्तियों को कार्य में अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। वे अपने को सीखने, विकसित होने तथा योगदान करने की स्थिति में अनुभव करते हैं।

5.10 संगठनात्मक व्यवहार की सीमाएँ

संगठनात्मक व्यवहार अध्ययन का एक नवीन एवं विकासशील क्षेत्र है जो मानवीय समस्याओं के समाधान में सक्रिया भूमिका निभाता है। इस ज्ञान के प्रयोग द्वारा प्रबन्धक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति करता है तथा संगठनात्मक प्रभावशीलता में वृद्धि करता है। यह विषय अनेक सीमाओं से युक्त है जिसका प्रमुख कारण मनुष्य तथा उसका गतिशील व्यवहार है। मानवीय आचरण विचारों तथा भावनाओं द्वारा शासित होता है तथा काफी सीमा तक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। अत: उसको यथार्थ रूप में समझना, भविष्यवाणी करना तथा इस पर नियन्त्रण करना अति जटिल होता है। इसके द्वारा कुण्ठा, असंतोष तथा औद्योगिक संघर्षो का पूर्ण समाधान नहीं किया जा सकता है। यह विचारधारा सीमित शोध कार्यो तथा प्रमाणों पर आधारित है। अत: सभी स्थितियों में वांछित परिणाम प्राप्त करने में सहायक नहीं हो सकती है यद्यपि संगठनात्मक व्यवहार

व्यापक रूप में स्वीकृत एक विषय एवं दृष्टिकोण बन गया है किन्तु फिर भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं जिसमें से कुछ निम्न है:

1. **सिद्धान्तों पर बल, व्यवहार पर नहीं -** संगठनात्मक व्यवहार अधिकांशत: एक सैद्धान्तिक विषय है, यह व्यवहार में सुधार लाने पर अधिक बल नहीं देता है।
2. **केवल वर्णनात्मक, निर्देशात्मक नहीं -** संगठनात्मक व्यवहार केवल वर्णनात्मक विषय है। यह समस्या समाधान के लिए कोई हल, आदेश या निर्देश प्रस्तुत नहीं करता है यह समस्याओं के प्रकटीकरण तक ही सीमित है।
3. **औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार नहीं -** संगठनात्मक व्यवहार विषय संस्था मे औद्योगिक विवादों, झगड़ों व उत्पादन अवरोध गतिविधियों को रोकने में सफल नहीं हुआ है। संगठनात्मक व्यवहार की प्रक्रियाओं को लागू करने के बावजूद भी संस्थाओं में हड़ताली, तालाबन्दी, तोड़फोड़, घेराव जैसी घटनाओ में कमी नहीं आई है।
4. **दोहरा व्यक्तित्व -** संगठनात्मक व्यवहार प्रबन्ध में केवल दोहरा चरित्र ही बना पाया है। प्रबन्धक परिवर्तन या विकास के नाम पर केवल आदर्श की बातें करते हैं किन्तु उनका स्वंय का व्यवहार दोहरा होता है। वे स्वंय में बदलाव लाये बिना कर्मचारियों के व्यवहार एवं अभिवृतियों में परिवर्तन लाने पर जोर देते हैं। प्रबन्धक कर्मचारियों को नौकर का दर्जा देते हैं व अमानवीय व्यवहार करते हैं। यह सब उनके दोहरे व्यक्तित्व को प्रकट करता है।
5. **पक्षपात -** संगठनात्मक व्यवहार में कुछ व्यक्तियों के साथ पक्षपात की सम्भावना बनी रहती है। जिनके साथ न्याय नहीं होता है वे अंसतुष्ट रहते हैं। वे कार्यो को करने तथा उत्तरदायित्वों के निर्वाह में कोई रूचि नहीं लेते हैं।

5.11 सारांश

संगठन मानवों का समूह है। मानवीय व्यवहार संगठन को प्रबल तथा कमजोर दोनों स्थितियों में ला सकते हैं। इस इकाई में हमने संगठनात्मक व्यवहार को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि संगठनात्मक व्यवहार किस प्रकार संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है। यह विषय अपने आप में अनेक अन्य विषयों को सम्मिलित करते हुए बनाया गया है इसलिए इसका क्षेत्र भी अत्यधिक विकसित है।

संगठनात्मक व्यवहार को किसी भी संगठन में लागू करने के लिए कुछ सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है इसका वर्णन भी इस इकाई में किया गया है।

5.12 शब्दावली

(1) अन्त:वैयक्तिक व्यवहार	-	स्वयं का व्यवहार
(2) अन्तवैयक्तिक	-	समूह व्यवहार
(3) अन्तर्विषयक	-	अन्य विषयों का समायोजन
(4) प्रौद्योगिकी	-	तकनीकी

5.13 प्रश्न

1. अगर आप किसी संगठन के प्रबन्धक हैं तो किस तरह से संगठनात्मक व्यवहार में सुधार करेंगें?

2. संगठनात्मक व्यवहार की प्रकृति, क्षेत्र तथा कार्यो की विवेचना कीजिए।
3. संगठनात्मक व्यवहार क्या है? इसके बढ़ते हुए महत्व की विवेचना कीजिए।
4. संगठनात्मक व्यवहार की सीमाओं की विवेचना कीजिए।
5. संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में योगदान देने वाले तत्व बताइए।
6. संगठनात्मक व्यवहार का उद्भव एवं विकास किस प्रकार से हुआ? संक्षिप्त परिचय दीजिए।

5.14 उपयोगी पुस्तकें

1. J.Kelly - Organizational Behaviour, Richard D Irwin, Homeward Inc, 1974
2. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour, Prentice Hall, New Delhi, 2007
3. Fred Luthans - Organizational Behaviour, McGraw Hill, 2004

इकाई-6: व्यक्तिगत व्यवहार और सीखना (Personal Behaviour and Learning)

इकाई की रूपरेखा :

6.0 उद्देश्य
6.1 व्यक्तिगत व्यवहार तथा सीखने की रूपरेखा
6.2 सीखने का अर्थ एवं परिभाषा
6.3 व्यक्तिगत व्यवहार और सीखने का उद्देश्य
6.4 सीखने की अनुकूल अवस्थाएं
6.5 सीखने की प्रकृति
6.6 सीखने के प्रकार
6.7 सीखने के सिद्धान्त
6.8 व्यक्तिगत व्यवहार के आधार
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 प्रश्न
6.12 उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- व्यक्तिगत व्यवहार तथा सीखने की रूपरेखा समझ पायेंगे।
- सीखने का अर्थ एवं परिभाषा समझ सकेंगे।
- व्यक्तिगत व्यवहार और सीखने के उद्देश्य एवं सीखने की अनुकूल अवस्थाएँ समझ सकेंगे।
- सीखने की प्रकृति, प्रकार एवं सिद्धान्तों का वर्णन कर सकेंगे।
- व्यक्तिगत व्यवहार के विभिन्न आधारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.1 व्यक्तिगत व्यवहार तथा सीखने की रूपरेखा

प्रत्येक व्यक्ति की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह कार्य हेतु तैयार होता है। मनोविज्ञान व्यवहार की व्याख्या करता है तथा बतलाता है कि मानव व्यवहार के मूल में प्रेरक वृत्ति' विद्‌यमान रहती है और व्यक्ति उससे अभिप्रेरित होकर ही कोई कार्य करता है। प्रेरक वृत्ति से उस आन्तरिक स्थिति का बोध होता है, जो व्यक्ति में क्रिया उत्पन्न करती है तथा उसे तब तक जारी रखती है, जब तक उसके लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो जाती। लक्ष्य की प्राप्ति के साथ ही आवश्यकता की सन्तुष्टि हो जाती है और अभिप्रेरणा की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

'एक व्यक्ति किससे प्रेरित होकर कार्य करता है?' यह एक जटिल प्रक्रिया है, इसकी उत्पत्ति स्वयं मानव के अन्तर्गत निहित कारकों द्‌वारा या पर्यावरणजन्य कारकों के द्‌वारा हो सकती

है। ये दोनों कारक सम्बन्धित व्यक्ति के ऊपर पारस्परिक अन्तर्क्रिया भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, किसी समय विशेष में व्यक्ति के व्यवहार पर अनेक कारणों का प्रभाव पड़ता है, तो कभी-कभी भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार एक ही प्रकार अभिप्रेरित होते हैं। अधिकांशत: व्यक्ति को स्वयं इस बात का ज्ञान नहीं होता है कि कार्य के पीछे कौन-सा प्रेरक छिपा हु आ है। परिणामतः व्यक्ति के व्यवहार को समझने तथा अभिप्रेरित करने में और अधिक जटिलता का समावेश होता है।

'व्यवहार' शब्द को प्राणी' की उन क्रियाओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिन्हें बाहर से देखा जा सकता है या जिनका निरीक्षण किया जा सकता है।

इस परिभाषा से निम्न तीन बातें स्पष्ट होती हैं- (अ) व्यवहार का कारण होता है। (ब) व्यवहार अभिप्रेरित होता है। (स) व्यवहार लक्ष्य-अभिमुखी होता है। परम्परागत रूप से व्यवहार को 'उत्प्रेरक' एवं 'प्रत्युत्तर' के सन्दर्भ में परिभाषित किया जाता है, लेकिन व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति उत्प्रेरक के प्रत्युत्तर में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ या व्यवहार करता है, जो इस बात पर प्रकाश डालता है कि वैयक्तिक भिन्नताएँ व्यवहार में अहम् भूमिका निभाती हैं। विभिन्न मूल्यों, व्यक्तित्वों, अवबोधनों तथा प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति एक ही उत्प्रेरक का विभिन्न तरीके से प्रत्युत्तर दे सकता है। निम्नांकित रेखाचित्र व्यवहार के मॉडल को सरल रूप में प्रस्तुत करता है-

व्यवहार का कारण उत्प्रेरक →	वैयक्तिक भिन्नताएँ →	प्रत्युत्तर व्यवहार →	लक्ष्य
• कार्य दशाएँ	• मूल्य	• बात करना	• मान्यता प्राप्त करना
• भुगतान पद्धति	• व्यक्तित्व	• सख्त परिश्रम करना	• पदोन्नति प्राप्त करना
• साथियों की प्रवृत्ति	• अवबोधन	• तेज घूमना	• समूह में महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाना।
• पारिवारिक स्थितियाँ	• प्रवृत्तियाँ	• सोचना	• बिना नुकसान के दूसरी ओर मुड़ना
• वित्तीय दशाऐं		• सुनना	• समय पर कार्य समाप्त करना।
• प्रबन्धक की शैली		• क्रोध प्रदर्शित करना	
• नियंत्रण पद्धति		• निवेदन की उपेक्षा करना।	
• उपलब्ध समय			
• अपूरित आवश्यकताएँ			

व्यवहार के निवेचन में निम्नलिखित दो तत्व महत्वपूर्ण हैं - (1) व्यवहार का तथ्यात्मक पक्ष, तथा (2) व्यवहार उत्पन्न करने वाली अवस्थाओं का अध्ययन। प्रथम का सम्बन्ध इस बात से है कि व्यक्ति क्या करता है या किस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है. जबकि दूसरे का सम्बन्ध इस बात से है कि व्यक्ति जो भी करता है, क्यों' करता है। व्यवहार का तथ्यात्मक वर्णन व्यवहार के कारणों की खोज के लिए आधार प्रस्तुत करता है। इनके अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर यह जाना जाता है कि व्यक्ति जो करता है, क्यों करता है? तथा उसके व्यवहार को किस प्रकार से परिवर्तित किया जा सकता है। संगठनात्मक व्यवहार के सन्दर्भ में, व्यवहार को किसी लक्ष्य के प्रति निर्देशित क्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो प्राय: दैवीय नहीं होता है तथा जिसमें व्यक्ति विश्वास करता है। चूँकि

संगठनात्मक व्यवहार में व्यक्ति' तथा समूह' का अध्ययन सम्मिलत है, अत: प्रबन्धक के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि व्यक्तिगत तथा समूह व्यवहार के आधार क्या है?

6.2 सीखने का अर्थ एवं परिभाषा

संगठनात्मक व्यवहार में, अभिप्रेरणा के साथ, सीखने की भी केन्द्रीय भूमिका है। जहाँ अभिप्रेरणा की विचारधारा विगत अनेक वर्षो से संगठनात्मक व्यवहार में लोकप्रिय रही है वहीं मनोविज्ञान के क्षेत्र में सीखने की भूमिका प्रभुत्वपूर्ण रही है। **गोलिलियो** का कथन है कि "आप व्यक्ति को कुछ भी लिखा नहीं सकते आप व्यक्ति की इसे स्वंय के भीतर खोजने में केवल उसकी मदद कर सकते हैं।' यह कथन मानवीय व्यवहार में सीखने की केन्द्रीय भूमिका की ओर संकेत करता है। सीखने की क्रिया सार्वभौमिक है। यह न केवल मनोविज्ञान अथवा संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में वरन् सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार में व्याप्त है। **लूथांस** का कथन है कि संगठनात्मक व्यवहार में ऐसा भोज ही भाग होगा जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सीखने की क्रिया से प्रभावित न हो। उदाहरण के लिए, एक श्रमिक का कार्य-कौशल, एक प्रबन्धक की मनोवृत्ति, एक सुपरवाइजर की अभिप्रेरणा, एक सचिव के पोशाक पहनने का ढंग अथवा एक अधिकारी की नेतृत्व शैली आदि सभी कुछ सीखे जाते हैं।

कोस्टेलो एवं जेलकिन्ड निष्कर्ष रूप में बताते हैं कि **"मानवीय व्यवहार का प्रत्येक पहलू सीखने के अनुभवों से जुडा है। वास्तव में ज्ञान, भाषा और कौशल तथा मनोवृतियॉ, मूल्य प्रणालियों और व्यक्तिगत के लक्षण भी सीखने की क्रिया के प्रति अनुक्रियाशील हैं। संगठन में व्यक्ति की सभी क्रियायें- उसकी निष्ठा, स्वामिभक्ति, संगठनात्मक लक्ष्यों के प्रति चेतना, कार्य निष्पादन, यहां तक कि सुरक्षा अभिलेख आदि सभी कुछ सीखे हुए हैं यदि सीखने कीक्रिया को व्यापक रूप में देखे।"**

संगठन में कार्य तकनीक, प्रौद्योगिकी, निष्पादन विधि, सामाजिक कौशल, व्यावसायिक संस्कृति, आवश्यकतायें व अभिकल्पना, लक्ष्य निर्धारण, सम्प्रेषण शैली, समूह संस्कृति, क्रियाशीलता, निर्णयन प्रक्रिया, अर्न्तव्यवहार, व्यवहारात्मक स्व-प्रबन्ध, कैशियर नियोजन, संगठन विकास, मूल्यांकन पद्धति, शक्ति अर्जन व राजनीतिक व्यवहार आदि सभी कुछ सीखकर व्यक्ति व्यवहार करता है। अत: संगठनात्मक व्यवहार में सीखने की भूमिका का महत्व अत्यन्त बढ़ गया है।

सामान्य अर्थ में, सीखने से तात्पर्य व्यवहार में हाने वाले एक स्थाई परिर्वतन से है जो अनुभव के द्वारा प्राप्त होता है। **रोबिन्स** का मत है कि सीखना सभी समयों में घटित होता रहता है। अत: व्यवहार के कारण व्यवहार में परिवर्तन ही सीखना है। व्यवहार में परिवर्तन में परिवर्तन यह संकेत करता है कि सीखने की प्रक्रिया जारी है तथा सीखना व्यवहार में परिवर्तन है। अन्य शब्दों में जब कोई व्यक्ति अपने पूर्व व्यवहार से भिन्न ढंग से अपने अनुभव के फलस्वरूप कोई व्यवहार व प्रक्रिया करता है तो यह कहा जा सकता है कि सीखने की क्रिया हो चुकी है।

स्टियर्स तथा पोर्टर का मत है कि सीखना' व्यवहार सम्भव्यता में तुलनात्मक रूप से एक स्थायी परिवर्तन है जो सम्बन्धित व्यवहार अथवा अनुभव के फलस्वरूप घटित होता है। विद्वानों ने सीखने को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है -

हिलगार्ड के अनुसार, "पूर्व अनुभवों के फलस्वरूप व्यवहार में तुलनात्मक रूप से जो परिवर्तन घटित होता है उसे सीखना कहते है।

जी.डी. बॉँज का मत है कि' ' सीखना एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न आदतें, ज्ञान व दृष्टिकोण सामान्य जीवन की माँगों की पूर्ति के लिए अर्जित करता है।"

कालविन के अनुसार, " पहले से निर्मित व्यवहार में अनुभवों द्वारा परिवर्तन को सीखना कहते है। मैक गोयक के अनुसार" सीखना व्यवहार में सापेक्षिक स्थायी परिवर्तन है जो अभ्यास के फलस्वरूप घटित होता है। जो अभ्यास के फलस्वरूप घटित होता है। यह परिवर्तन दिशा विशेष में होता है जिससे व्यक्ति की विद्यमान प्रेरक अवस्थाओं की सन्तुष्टि होती है।"

एनएल.मन के अनुसार' सीखने से तात्पर्य किसी व्यक्ति के व्यवहार को लगभग स्थायी रूप से रूपान्तरित करने की प्रक्रिया से है। यह रूपान्तरण उस व्यक्ति के कार्य करने एवं उसके कार्यो का परिणाम अथवा उसके अवलोकन का फल होता है।"

प्रो. उदय पारीक के अनुसार. " सीखना वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी किसी परिस्थिति में प्रतिक्रिया के कारण नये प्रकार के व्यवहार को ग्रहण करता है जो किसी सीमा तक प्राणी के सामान्य व्यवहार को बाध्य एवं प्रभावित करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से सीखने की निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं-

1. सीखना क्रिया में परिर्वतन सम्मिलित है।
2. परिवर्तन सापेक्षिक रूप से स्थाई होता है।
3. सीखना व्यवहार का संगठन है। सीखने की प्रक्रिया वही होती है जहाँ क्रियाओं में परिवर्तन होता है।
4. सीखने के लिए अनुभव आवश्यक है।
5. सीखना सार्वभौमिक है।
6. सीखना ही विकास है।

6.3 व्यक्तिगत व्यवहार और सीखने का उद्देश्य

सभी प्रकार के संगठनों में मनुष्य का व्यवहार प्रबन्धकों के लिए एक गम्भीर चुनौती बना हुआ है। मनुष्य एक सामाजिक-आर्थिक प्राणी है तथा वह विभिन्न सामाजिक-आर्थिक सांस्कृतिक घटकों से प्रभावित होकर ही कार्य करता है तथा संगठन में व्यवहार करता है। अत: एक प्रबन्धक के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि व्यक्ति क्यों कार्य करता है तथा व्यक्तिगत व्यवहार के मूल आधार क्या हैं। संगठनात्मक व्यवहार के व्यवस्थित अध्ययन एवं विश्लेषण द्वारा प्रबन्धक इन दोनों मुद्दों का समाधान कर सकता है तथा व्यक्तिगत व्यवहार को बेहतर रूप में समझते हुए उनसे संगठनात्मक हित में अपेक्षित योगदान प्राप्त कर सकता है।

संगठनात्मक व्यवहार में, अभिप्रेरणा के साथ, सीखने की भी केन्द्रीय भूमिका है। जहाँ अभिप्रेरणा की विचारधारा विगत अनेक वर्शो से संगठनात्मक व्यवहार में लोकप्रिय रही है वहीं मनोविज्ञान के क्षेत्र में सीखने की भूमिका प्रभुत्वपूर्ण रही है। लूथांस के अनुसार. 'सीखने की प्रक्रिया संगठन में मानवीय व्यवहार को प्रभावित करती है। ' मानवीय व्यवहार का प्रत्येक पहलू सीखने के अनुभवों से जुड़ा है। वास्तव में ज्ञान, भाषा, कौशल, मनोवृत्ति, मूल्य, प्रणाली और व्यक्तित्व के लक्षण भी सीखने की क्रिया के प्रति प्रत्युत्तर है। यदि सीखने की क्रिया को व्यापक रूप में देखा जावे तो संगठन में व्यक्ति की सभी क्रियाएँ सीखने की क्रिया से ओत-प्रोत ज्ञात होती हैं।

6.4 सीखने की अनुकूल अवस्थाएँ

सीखने की क्रिया विभिन्न अवस्थाओं से प्रभावित होती है। ये अवस्थाएँ सीखने की क्रिया में बाधा या सुलक्षता प्रदान करती हैं। प्रमुख अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं-

(1) **परिपक्वता -** परिपक्वता के बिना सीखना सम्भव नहीं है। विभिन्न शोध अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि चलना-फिरना, काम करना, मनोरंजन आदि क्रियाओं का सीखना बिना परिपक्वता के नहीं हो सकता है।

(2) **शारीरिक अवस्था -** समुचित शारीरिक अवस्था सीखने में सुगमता प्रदान करती है। प्राय: देखा गया है कि शारीरिक तनाव या सक्रियता सीखने में काफी सीमा तक सहायक होती है।

(3) **बुद्धि वैभव -** बुद्धि सीखे जाने वाले विषय में निहित गहन एवं सामान्य तथ्यों को समझने में सहायता प्रदान करती है। अत: सीखने की क्रिया काफी सीमा तक बुद्धि पर निर्भर होती है।

(4) **अभ्यास -** सीखने की प्रक्रिया में अभ्यास अहम् भूमिका निभाता है। बार-बार अभ्यास या पुनरावृत्ति के द्वारा जब एक ही प्रतिक्रिया प्रकट की जाती है, तब अन्त में वह प्रतिक्रिया सीख ली जाती है।

(5) **प्रभाव -** विभिन्न शोध अध्ययनों से यह भी प्रकट हुआ है कि व्यक्ति में सन्तोष प्रदान करने वाली प्रतिक्रिया को अपना लेने तथा असन्तोष प्रदान करने वाली प्रतिक्रिया को त्याग देने की प्रवृत्ति होती है। अत: जिस क्रिया का प्रभाव सन्तोषजनक होता है, उसे वह सहज रूप से अपना लेता है।

(6) **समीपता -** समीपता से आशय मूलत: दो घटनाओं के बीच समय की समीपता से है। सहचर्य तभी स्थापित हो पाता है, जब दो घटनाओं के बीच समयान्तर बहुत कम होता है। कोई श्रमिक कार्य सीखते समय एक क्रिया से सम्बद्ध होकर दूसरी क्रिया में सरलता से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसका कारण समीपता ही है।

(7) **तीव्रता -** सीखने की प्रक्रिया प्रतिक्रिया की शक्ति या तीव्रता पर भी निर्भर होती है। प्रतिक्रिया की शक्ति अभिप्रेरणा से निर्धारित होती है। जब सीखने वाला व्यक्ति प्रबल रूप से अभिप्रेरित होता हे, तब वह उत्तेजनाओं के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट करता है। यही कारण है कि जब उसे सही प्रतिक्रिया के प्रभावी पुरस्कार तथा गलत के लिए कड़ा दण्ड दिया जाता है, तो वह शीघ्र ही अनुप्रेरित होकर उसे सीख जाता है या उसका त्याग कर देता है।

(8) **अभिप्रेरणा -** अभिप्रेरणा से सीखने वाला व्यक्ति क्रियाशील हो जाता है। उसकी यह क्रियाशीलता तब तक जारी रहती है, जब तक कि सीखने की क्रिया सम्पादित नहीं हो जाती।

(9) **संगठन -** जब कोई विषयवस्तु सार्थक रूप से संगठित रहती है, तब वह अतिशीघ्र सीख ली जाती है।

6.5 सीखने की प्रकृति

सीखने की प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं-

1. **सीखना परिवर्तन है -** सीखने का तात्पर्य व्यवहार में परिवर्तन होने से है। संगठन की दृष्टि से यह परिवर्तन अच्छा या बुरा हो सकता है। व्यक्ति नकारात्मक व्यवहार जैसे पक्षपात करना अथवा उत्पादन में बाधा डालना भी सीख सकता है। दूसरी ओर वह सहयोग, निष्ठा, दायित्वों का निर्वाह, चुनौतियों का सामना करना जैसे सकारात्मक व्यवहार भी सीख सकता है। व्यक्ति नई कार्य तकनीकें, नये विचार अथवा दायित्व टालना भी सीख सकता है।

2. **परिवर्तन स्थायी हो -** सीखने के अन्तर्गत होने वाला परिवर्तन अपेक्षाकृत स्थायी होना चाहिए। थोड़े समय के लिए होने वाला परिवर्तन प्रतिक्रियात्मक हो सकता है जो कि सीखना नहीं है। किसी चीज को रटना और कुछ समय बाद भूल जाना सीखना नहीं है। किसी चीज को रटना और कुछ समय बाद भूल जाना सीखना नहीं है। थकान, प्रतिक्रिया अथवा क्षणिक अनुकूलन या समायोजन के कारण व्यवहार में आने वाला परिवर्तन सीखने की श्रेणी में नहीं आता।

3. **परिवर्तन व्यवहार या क्रिया में हो -** सीखने के फलस्वरूप व्यवहार अथवा कार्य में परिवर्तन आना चाहिए। ऐसा परिवर्तन जो केवल व्यक्ति के विचारों या अभिवृत्ति में हो तथा वह उसके व्यवहार में दिखाई न दे, सीखने की श्रेणी में नहीं आता।

4. **सीखने के लिए अनुभव आवश्यक है -** सीखने की क्रिया के लिए किसी न किसी प्रकार का अनुभव जरूरी है जो कि प्रत्यक्ष अवलोकन अथवा अभयास से प्राप्त किया जा सकता है। सीखना अप्रत्यक्ष अनुभव द्वारा जैसे पढ़ने से भी सम्भव है। सीखने की असली कसौटी यह है कि इस अनुभव के फलस्वरूप ही व्यवहार में अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तन होना चाहिए।

5. **प्रबलीकरण -** अनुभव अथवा अभ्यास का सुदृढिकरण (प्रबलन) आवश्यक है। यदि अनुभव या अभ्यास का पुर्नबलन नहीं हुआ तो सीखा हुआ व्यवहार अन्ततः मिट जायेगा। किसी क्रिया के प्रबलीकरण के लिए पुरस्कार, दण्ड या कार्य की आवृति होना आवश्यक है।

6. **निरन्तर चलने वाली क्रिया -** व्यक्ति के जीवन में, चाहे वह घर, समाज या संगठन में रहे, सीखने की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। सीखने का कोई निश्चित समय या उम्र नहीं होती।

7. **सीखना दिखाई नहीं देता -** सीखने की क्रिया आन्तरिक एवं मनोवैज्ञानिक है जो बाद में व्यवहार में बाह्य रूप से प्रकट होती है। अत: सीखना दिखाई नहीं देता। हम केवल परिवर्तन घटते देख सकते हैं, स्वयं सीखने की क्रिया को नहीं वास्तव में सीखने की अवधारणा सैद्धान्तिक है, अत: यह प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन योग्य नहीं है।

8. **विभिन्न प्रारूप -** सीखने की क्रिया के विभिन्न स्वरूप एवं प्रकार हैं। सीखना' प्रत्यक्ष रूप से या अपने आदर्श के अनुसार अथवा स्व-नियन्त्रण द्वारा हो सकता है। इस प्रकार सीखने के विभिन्न सैद्धान्तिक आधार हैं।

6.6 सीखने के प्रकार

मनोवैज्ञानिक तथा शरीर वैज्ञानिकों के द्वारा समय-समय पर सीखने की अनेक विचारधाराओं एवं सिद्धान्तों का विकास किया गया है। सीखने की कोई एक सम्पूर्ण विचारधारा नहीं है। सम्पूर्ण विचारधारा सीखने के विभिन्न पहलुओं जैसे कैसे, कब और क्यों पर प्रकाश डालती हैं, इसका सार्वभौमिक उपयोग होता है तथा यह सीखने की परिस्थितियों का पूर्वानुमान एवं नियन्त्रण करती है।

सीखने की कुछ प्रमुख विचारधारायें निम्नलिखित हैं-

1. सुसंगत या प्रतिक्रियावादी अनुबन्धन विचारधारा।
2. कारक या सक्रिय अनुबन्धन विचारधारा।
3. संज्ञानात्मक विचाराधारायें।
4. सामाजिक सीखना विचारधारा।

इनका वर्णन निम्न प्रकार है-

1. सुसंगत अथवा प्रतिक्रियावादी अनुबन्धन विचारधारा

सीखने की श्रेष्ठ विचारधारायें मनोवैज्ञानिकों द्वारा विकसित की गई हैं। ये विचारधारायें प्राचीन व्यवहारवादियों जैसे पावलोव, वाटसन तथा आधुनिक व्यवहारवादी विशेषत: बी.एफ स्किनर द्वारा प्रतिपादित की गई हैं। प्राचीन अथवा प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त **'उद्दीपन-अनुक्रिया'** सम्बन्ध पर बल देता है जबकि स्किनर हरा प्रतिपादित सिद्धान्त **'अनुक्रिया-उद्दीपन'** सम्बन्ध पर जोर देता है। ये सिद्धान्त दो घटकों में संयोजन व सम्बन्ध दर्शाते हैं। अत: इन सिद्धान्तों (विचारधाराओं) को **सीखने की सम्बन्धनकारी** विचारधारायें भी कहा जाता है।

प्रतिक्रियावादी अनुबन्धन विचारधारा अत्यन्त प्राचीन विचारधारा है जिसका प्रतिपादन 1880 में रूसी शरीर-वैज्ञानिक पावलोव ने किया था। **पावलोव** का कहना है कि "उद्दीपवन-प्रत्युत्तर (अनुक्रिया) प्राणी की मूल प्रवृत्ति का एक भाग है, जिससे वह कई बातें सीखता है। पावलोव के अनुसार सीखने की प्रक्रिया में मूल उद्दीपन के साथ एक नया उद्दीपन दिया जाता है। कुछ समय बाद जब मूल उद्दीपन को हटा लिया जाता है, तब यह देखा जाता है कि नये उद्दीपन से भी वैसी ही प्रतिक्रिया होती हे, जैसी मूल उद्दीपन से होती है। इस प्रकार प्रतिक्रिया नये उद्दीपन के साथ अनुकूलित हो जाती है।

पावलोव के इस सम्बन्ध में कुत्तों के साथ किये गये प्रयोग व्यवहारवादी विज्ञानों के अकेले महत्वपूर्ण, दिलचस्प एवं ऐतिहासिक प्रयोग हैं। पावलोव ने एक प्रयोग में जब एक कुत्ते को माँस का टुकड़ा (गैर-अनुकूलित उद्दीपन) दिखाया तो कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगी। यह लार टपकना कुत्ते की ओर से गैर-अनुकूलित प्रतिक्रिया थी। दूसरी ओर, जब पावलोव ने केवल घन्टी (तटस्थ उद्दीपन) बजाई तो कुत्ते के मुँह से लार नहीं टपकी। अगले चरण में पावलोव ने घन्टी बजाते हुए कुत्ते को माँस का टुकड़ा दिखाया, अर्थात् पावलोव ने घन्टी को माँस के टुकड़े के साथ संयुक्त कर दिया। इस क्रिया को कई बार दोहराने के बाद पावलोव ने कुत्ते के सामने माँस के टुकड़े के बिना घन्टी बजाई तो इस बार **केवल घन्टी की आवाज सुनकर** ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगी। इसका कारण यह था कि कुत्ता अब घन्टी की आवाज

(अनुकूलित उद्दीपन) के लिए सुसंगत ढंग से अनुबन्धित हो गया था। यह ऐतिहासिक प्रयोग सीखने' के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण खोज थी जिससे सीखने की क्रिया के प्रति एक सही समझ उत्पन्न हुई।

पावलोव ने इस **'सरल अनुबन्धन'** के आगे भी अपने प्रयोग किये। उसने अपने प्रयोग में बाद में घन्टी के साथ एक काले चौकोर टुकड़े को संयुक्त किया। इन दोनों को जोड़े से कई बार दिखाने के बाद केवल काला चौकोर टुकड़ा दिखाने पर कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगी। यही मूल अनुकूलित उद्दीपन (अर्थात् घन्टी) नये अनुकूलित उद्दीपन (अर्थात् काला चौकोर टुकड़ा) के लिए एक सम्बलनकारी गैर-अनुकूलित उद्दीपन बन गया था। इस प्रकार जब कुत्तों ने काले चौकोर टुकड़े पर भी प्रत्युत्तर दिया तो वे द्वितीय स्तर पर अनुबन्धित हो गये थे। पावलोव ने कुत्तों को तृतीय स्तर पर भी अनुबन्धित करके देखा। कई व्यवहारवादी वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि ' 'व्यक्ति तृतीय स्तर से भी ज्यादा क्रम तक अनुबन्धित होने की क्षमता रखते हैं। " इस प्रकार व्यक्तियों को उच्च स्तर तक अनुकूलित किया जा सकता है। इसका आशय यह है कि सीखने की क्रिया को मूल अनुबन्धन में प्रयुक्त उद्दीपन के अतिरिक्त कई अन्य उद्दीपनों तक स्थानान्तरित किया जा सकता है। यद्यपि उच्च-क्रम वाले अनुबन्धन में व्यवहार का निश्चित कारण ढूंढ पाना कठिन होता है। उच्च क्रम वाले अनुबन्धन में प्रबलीकरण करना सम्भव होता है। इसमें अनुकूलित उद्दीपन सम्बलनकारी हो जाता है।

सरल अनुबन्धन के प्रयोग 'सीखने की उद्दीपन-प्रत्युत्तर' विचारधाराओं के लिए समर्थन के मुख्य आधार रहे हैं। सरल सुव्यवस्थित अनुबन्धन का सार यह है कि "सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ, व्यक्ति के व्यवहार रंगपटल में किसी भी प्रत्युत्तर को अनुबन्धित किया जा सकता है यदि कोई गैर-अनुकूलित उद्दीपन पाया जा सकता है जो नियमित रूप से प्रत्युत्तर देता है तथा यदि इस गैर-अनुकूलित उद्दीपन को प्रशिक्षण द्वारा अनुकूलित उद्दीपन के साथ जोड़ा जा सकता है।

2. सक्रिय अनुबन्धन विचारधारा

इस विचारधारा में सीखने की क्रिया व्यवहार के परिणाम से जुड़ी है। यह मानती है कि सीखना व्यवहार के नतीजे के रूप में होता है। यह सुगम अनुबन्धन की भांति व्यवहार के कारणों को निकालने से सम्बन्धित नहीं है।

'**सुगम अनुबन्धन'** तथा **'सक्रिय अनुबन्धन'** में विशिष्ट अन्तर निम्न प्रकार हैं-

(1) सुगम अनुबन्धन में उद्दीपन में परिवर्तन करके विशिष्ट प्रत्युत्तर प्राप्त किया जा सकता है। दूसरी ओर, सक्रिय अनुबन्धन में एक ही हुई उद्दीपन स्थिति में कई सम्भावित प्रत्युतरों में से एक विशिष्ट प्रत्युत्तर घटित होता है। सक्रिय अनुबन्धन में उद्दीपन स्थिति एक संकेत या इंगित की भांति कार्य करता है। यह प्रत्युत्तर नहीं प्राप्त करती, वरन् एक व्यक्ति के लिए प्रत्युत्तर निकालने के आधार के रूप में कार्य करती है। सक्रिय अनुबन्धन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह देखना है कि - 'प्रत्युत्तर के परिणाम के रूप में क्या घटित होता है'।

(2) सुगम अनुबन्धन में **वातावरणीय घटना व्यवहार से पूर्व घटती है**। सक्रिय अनुबन्धन में वातावरणीय घटना व्यवहार का अनुगमन करती है।

(3) सुगम अनुबन्धन के दौरान गैर-अनुकूलित उद्दीपन, जो कि पुरस्कार के रूप में कार्य करता है, प्रत्येक बार प्रस्तुत किया जाता है। सक्रिय अनुबन्धन में पुरस्कार तभी घटित होगा जबकि व्यक्ति सही प्रत्युत्तर प्रदान करता है। यहाँ पुरस्कार प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को वातावरण पर कार्य करना चाहिए। प्रत्युत्तर पुरस्कार प्राप्त करने में सहायक होता है।

(4) सुगम अनुबन्धन में प्रत्युत्तर उद्दीपन से जुड़े होते हैं। व्यक्ति को प्रत्युत्तर चुनने का कोई अवसर नहीं होता। सक्रिय अनुबन्धन में, प्रत्युत्तर प्रकार व मात्रा में बदलते रहते हैं। इसमें व्यक्ति को चयन का अवसर मिलता है।

(5) सुगम अनुबन्धन में अनुकूलित उद्दीपन एक आवाज, वस्तु अथवा एक व्यक्ति के रूप में होता है जबकि सक्रिय अनुबन्धन में अनुकूलित उद्दीपन एक 'स्थिति जैसे एक कार्यालय, एक सामाजिक परिवेश, परिस्थितियों का एक विशिष्ट समूह आदि के रूप में होता है।

(6) सुगम अनुबन्धन में **पुर्नबलन** अपनी इच्छा से प्राप्त नहीं किया जाता। सक्रिय अनुबन्धन में व्यक्ति 'पुर्नबलन' प्राप्त करने में वातावरण में कार्यशील होते हुए सहायक होता है।

सक्रिय अनुबन्धन को 'पुर्नबलन विचारधारा' भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त पर मुख्य रूप से **बी.एफ स्किनर** ने कार्य किया है। इसका मुख्य सार यह है कि **"व्यवहार इसके परिणामों से संचालित अथवा निर्धारित होता है**। इस प्रकार जिस व्यवहार के परिणाम सुखद होते हैं, उसकी पुनरावृत्ति की सम्भावना अधिक रहती है तथा जिस व्यवहार के नतीजे दुखद होते हैं उसके दोहराये जाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

यह विचारधारा आगे बताती है कि व्यक्ति एक दी हुई परिस्थिति में विविध सम्भावित व्यवहारों की छानबीन करेंगे। भावी व्यवहारात्मक चुनाव पूर्व व्यवहारों के परिणामों से प्रभावित होते हैं। यही व्यक्ति के संज्ञान की भी विशेष भूमिका होती है। यह विचारधारा बतलाती है कि व्यक्ति यांत्रिक उद्दीपन-प्रत्युत्तर सम्बन्ध से संचालित नहीं होते, वरन् व्यक्ति चेतनापूर्वक विभिन्न व्यवहारों की छानबीन करके उनमें से व्यवस्थित रूप से उन व्यवहारों का चयन करते हैं जिनके परिणाम अत्यधिक वांछनीय होते हैं।

'सक्रिय' से तात्पर्य उस व्यवहार से है जो प्रभाव उत्पन्न करता है। अत: इसे कारगर प्रभाव भी कहते हैं। 'सक्रिय व्यवहार' ऐच्छिक अथवा सीखा हुआ व्यवहार होता है। सक्रिय अनुबन्धन में यह व्यवहार उसके परिणामों से निर्धारित, संचालित एवं नियन्त्रित होता है। इस विचारधारा के अनुसार **व्यक्ति अपनी वांछित वस्तु को प्राप्त करने का व्यवहार करना सीखते हैं और जिस वस्तु को वे पसन्द नहीं करते, उससे बचने व दूर रहने का व्यवहार करना सीखते हैं**। परिणाम अच्छे व अनुकूल होने पर व्यवहार के दोहराये जाने की सम्भावना रहती है, किन्तु प्रतिकूल होने पर व्यवहार की आवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार **व्यवहार एवं इसके परिणामों में सम्बन्ध सक्रिय अनुबन्धन का सार तत्व है।** यहाँ 'सक्रिय' शब्द का तात्पर्य यह है कि प्राणी परिणाम उत्पन्न करने के लिए अपने वातावरण में क्रियाशील होता है। 'परिणामों और प्रत्युत्तर में सम्बन्ध' सम्पूर्ण सीखने की प्रक्रिया का सार है जिसमें व्यक्ति अपने विगत अनुभवों के आधार पर अपना व्यवहार परिवर्तित करता है। **'व्यवहार के परिणामों' को पुर्नबलन कहा जाता है।**

'पुर्नबलन' व्यवहार को सुदृढ़ करता है जिससे व्यवहार के दोहराये जाने की सम्भावना बढ़ जाती है। 'पुर्नबलन' सक्रिय अनुबन्धन का सार तत्व है।

सक्रिय अनुबन्धन के उदाहरण दैनिक जीवन में सरलता से देखे जा सकते हैं। हम गर्म स्टोव या विद्युत को नहीं छूते, क्योंकि हम उनके परिणाम जानते हैं। माता-पिता बच्चों को अच्छे व्यवहार के लिए पुरस्कार देते हैं तथा आपत्तिजनक व्यवहार के लिए दण्डित करते हैं। इसी प्रकार शिक्षा में 'प्रभाव के सिद्धान्त' अर्थात् परिणामों के आधार पर छात्रों को विभिन्न ग्रेड दिये जाते हैं। इस प्रकार हम वातावरणात्मक उद्दीपनों तथा उनके सम्भावित प्रत्युतरों को स्वीकारना सीखते हैं।

3. सीखने की संज्ञानात्मक विचारधाराएँ

एडवर्ड टोलमैन सीखने की संज्ञानात्मक विचारधारा के अग्रगामी विचारक हैं। उनके अनुसार **'सीखना' संज्ञानात्मक वातावरणात्मक इंगितों तथा प्रत्याशा के बीच एक सम्बन्ध है।** टोलमेन ने इस विचारधारा के परीक्षण के लिए चूहों पर अनेक नियंत्रित प्रयोग किये थे। टोलमेन ने अपने प्रयोगों में पाया कि चूहे अपने संज्ञान का प्रयोग करते हुए लक्ष्य (भोजन) की ओर दिशा साधते हुए पेचीदा भूलभुलैया में दौड़ना सीख जाते हैं। टोलमेन ने यह भी पाया कि भूलभुलैया में प्रत्येक चुनाव बिन्दु पर प्रत्याशायें स्थापित हुई। दूसरे शब्दों में, चूहों ने यह आशा करना भी सीखा कि अपने संज्ञानात्मक संकेतों को चुनाव बिन्दुओं के साथ संयुक्त करके वे अन्ततः अपने भोजन तक पहुंच सकते हैं। यदि चूहे को भोजन वास्तव में प्राप्त हो जाता है तो इससे प्रत्याशा और संकेत के मध्य सम्बन्ध दृढ़ होता है, और सीखने की क्रिया घटती है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण में S-R तथा R-S सीखने के सिद्धान्तों के विपरीत, टोलमेन की विचारधारा को S-S सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। टोलमेन ने अपने प्रयोगों में यह भी पाया कि चूहे का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है। अर्थात् चूहे ने अपना संज्ञानात्मक मानचित्र तैयार करके यह कल्पना कर ली कि भोजन कैसे प्राप्त करना है। टोलमेन ने यह निष्कर्ष निकाला कि सीखने के लिए पुर्नबलन एक पूर्व शर्त नहीं थी। एक उद्दीपन दूसरे उद्दीपन को रास्ता दिखा देता है। यद्यपि टोलमेन के प्रयोगों की कुछ आलोचना भी हुई है किन्तु फिर भी उसके प्रयोगों ने सीखने की विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान की है। उसने इस बात पर बल दिया कि व्यवहार की जटिल व्याख्यायें खोजी जानी चाहिए तथा **उसके उद्दीपक, वातावरण तथा व्यवहार के मध्य 'संज्ञान' की कम से कम एक सम्भावित मध्यस्थकारी भूमिका पर विचार करने पर जोर दिया।** टोलमेन के इस विचार ने सीखने के क्षेत्र में एक संक्रमण तथा एकीकरण प्रक्रम के रूप में योगदान दिया है। टोलमेन की उद्दीपन-उद्दीपन संज्ञानात्मक विचारधारा' का सामाजिक अधिगम तथा प्रारम्भिक मानवीय सम्बन्ध आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। 1940 व 1950 में उद्योगों में चलाये गये प्रशिक्षण कार्यक्रम टोलमेन के विचारों पर ही आधारित थे। ये प्रशिक्षण कार्यक्रम संज्ञानात्मक मनोभाव (पर्यवेक्षण, संगठनात्मक कार्यपद्धतियाँ) तथा श्रमिक प्रत्याशाओं (अच्छे निष्पादन के लिए प्रेरणात्मक भुगतान) के मध्य सम्बन्ध को सुदृढ़ करते हैं। यह विचारधारा बतलाती है कि आदेश लेने अथवा निर्देशों का पालन करने तथा इस प्रयास

के लिए मौद्रिक आशायें रखने के बीच सम्बन्ध जोड़कर श्रमिक उत्पादन-कुशल होना सीखता है।

संज्ञान से तात्पर्य व्यक्ति के विचारों, चिन्तन, ज्ञान, व्याख्याओं, समझ आदि से है जो स्वयं के अथवा वातावरण के बारे में हो सकते हैं। संज्ञानात्मक विचारधारा यह मानती है कि प्राणी कई चीजों और घटनाओं के अर्थ सीखता है तथा सीखे गये प्रत्युत्तर उद्दीपनों को दिये गये अर्थ पर निर्भर करते हैं। संज्ञान विचारकों के अनुसार सीखने वाला पहले अपनी स्मृति में एक संज्ञान संरचना निर्मित करता है जो कि उन विभिन्न घटनाओं के बारे में सूचनाओं को संगठित करती तथा सुरक्षित रखती हैं जो सीखने की स्थिति में घटती है। संक्षेप में, संज्ञानात्मक सीखना घटनाओं तथा वैयक्तिक लक्ष्यों व प्रत्याशाओं के मध्य अवबोधित सम्बन्ध के बारे में सोचने से सम्भव होता है।

चयनात्मक सीखना - चयनात्मक सीखने में व्यक्ति को केवल उद्दीपन एवं प्रत्युत्तर तथा प्रत्युत्तर व परिणाम अनुभवों में ही सम्बन्ध नहीं जोड़ना होता है वरन् उसे यह भी निर्णय करना चाहिए कि मस्तिष्क में कौन सी चीजों को जोड़ना है। इस चयनात्मक सीखने में व्यक्ति को सम्भावित सीखने की प्रक्रियाओं के व्यापक प्रकारों में से एक का चयन करना होता है। उसका चयन सरल नहीं होता, वरन् चयनात्मक सीखने में उसे अपनी अभिप्रेरणा, चिन्तन, भावना, संवेग एवं अवबोध आदि के जटिल अन्र्तव्यवहार के माध्यम से चयन करना होता है। इस सीखने को अन्य नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे- **'अंतर्दृष्टियुक्त सीखना' 'अवबोधात्मक सीखना'** आदि। संगठन में समस्याओं के समाधान, निर्णयन, मतभेद की स्थितियों, नये कौशल सीखने, कार्यालय पद्धतियों के निर्धारण आदि में चयनात्मक सीखने का प्रभावपूर्ण उपयोग किया जा सकता है।

4. सामाजिक सीखना विचारधारा

सीखने की संज्ञानात्मक विचारधारायें अत्यधिक **बुद्धिवादी एवं मानसिक** होने के कारण आलोचना की शिकार हुई। आलोचकों ने सीखने के व्यवहारवादी दृष्टिकोण को भी अत्यधिक नियतिवादी माना। सामाजिक सीखने की विचारधारा उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के योगदान का एकीकरण करके एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह विचारधारा एक व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाती है। यह **'व्यवहार'** को विश्लेषण की एक उपयुक्त इकाई मानती है। सामाजिक सीखना दृष्टिकोण के प्रतिनिधि विचारक **एलबर्ट बण्डुरा** रहे हैं।

एलबर्ट बण्डुरा का मत है कि संज्ञानात्मक, व्यवहारात्मक तथा वातावरणात्मक निर्धारकों के मध्य निरन्तर आपसी अन्तर्क्रिया के द्‌वारा ही 'व्यवहार' को श्रेष्ठ ढंग से समझा जा सकता है। 'व्यक्ति' तथा वातावरणीय स्थिति' स्वतन्त्र इकाइयों की तरह कार्य नहीं करते हैं, वरन् स्वयं व्यवहार के संयोजन में अन्तर्क्रिया करके 'व्यवहार' को निर्धारित करते हैं। वस्तुत सामाजिक सीखने के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "व्यक्ति ज्यादातर अपनी क्रियाओं से ही वातावरणात्मक दशायें उत्पन्न करते हैं जो पारस्परिक ढंग से उनके व्यवहार को प्रभावित करती हैं। व्यवहार से उत्पन्न अनुभव भी आंशिक रूप से यह निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति क्या हो जाता है तथा क्या कर सकता है जो बाद में उसके आगामी व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक सीखना की विचारधारा मुख्य रूप से एक **व्यवहारवादी दृष्टिकोण** है तथा सुगम व सक्रिय अनुबन्धन के सिद्धान्तों पर आधारित है। किन्तु इसके बावजूद यह दृष्टिकोण सुगम व सक्रिय अनुबन्धन से आगे निकलकर यह मानता है कि सीखना केवल प्रत्यक्ष ही नहीं है, वरन् सीखना **पूर्ववर्ती उद्दीपनों** तथा **सांयोगिक परिणामों** के माध्यम से भी होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक सीख विचारधारा यह मानती है कि सीखना' प्रतिनिधिक, स्थानापन्न अथवा आदर्श (मॉडल) के माध्यम से तथा स्व-नियन्त्रण प्रक्रियाओं के माध्यम से भी हो सकता है। इस प्रकार यह विचारधारा सुगम तथा सक्रिय अनुबन्धन को स्वीकार करती है किन्तु उनकी भूमिका सीमित मानती है।

दूसरे शब्दों में, सामाजिक सीखना दृष्टिकोण के प्रमुख अंग अथवा **विशिष्टताएँ** निम्नलिखित हैं.

(i) प्रतिनिधिक अथवा मॉडलिंग प्रक्रियायें

(ii) संज्ञानात्मक मध्यस्थकारी प्रक्रियायें

(iii) स्व-नियन्त्रण कार्यपद्धतियाँ

सामाजिक सीखना दृष्टिकोण की प्रकृति न केवल व्यापक वरन् अन्र्तक्रियात्मक भी है। यह संगठनात्मक व्यवहार के संचालन हेतु एक उत्कृष्ट सैद्धान्तिक ढाँचा प्रस्तुत करता है।

6.7 सीखने के सिद्धान्त

सीखना मानव व्यवहार का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यद्‌यपि सीखने की संज्ञानात्मक एवं सामाजिक विचारधारायें अत्यन्त महत्वपूर्ण होती जा रही हैं, किन्तु फिर भी सीखने की प्रक्रिया के अधिकतर सिद्धान्त सुगम व सक्रिय अनुबन्धन विचारधाराओं से विकसित हुए हैं। सीखने के कुछ प्रमुख सिद्धान्त अग्रलिखित हैं-

1. **सीखना-अर्जन वक्र सिद्धान्त -** सीखने की प्रक्रिया में यह सिद्धान्त बतलाता है कि "प्रत्येक पुनरावृत्त प्रयास के लिए प्रत्युत्तर की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। यह सिद्धान्त मुख्य रूप से सुगम व्यवस्थित अनुबन्धन दृष्टिकोण में लागू होता है किन्तु सक्रिय अनुबन्धन में भी इसका प्रयोग होता है। अर्जन वक्र एक सीखना वक्र' है जिसमें शीर्ष धुरी पर मापित निष्पादन तथा क्षैतिज धुरी पर अभ्यास या अनुभव की मात्रा (जो कि प्राय: समय अथवा प्रयासों की संख्या में अभिव्यक्त होता है) को दर्शाया जाता है।

सीखना वक्र सामान्य रूप से प्राप्ति के प्रारूप को दर्शाता है। इसके कुछ सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार है -

(अ) सीखा जाने वाला कार्य जितना अपरिचित होगा, उसे सीखने की गति प्रारम्भ में उतनी ही धीमी होगी, किन्तु बाद में बढ़ती जायेगी।

(ब) जटिल कौशल को सीखने में कम से कम एक समयावधि चाहे लम्बी हो या छोटी ऐसी अवश्य आयेगी जिसमें प्रत्येक नया प्रयास समान आकार का सुधार लायेगा।

(स) जब हम सीखने की अन्तिम सीमा पर पहुँचते हैं, प्रगति धीमी हो जाती है, तथा छोटा सा सुधार करने में भी कई कोशिश करनी पड़ जाती हैं।

2. **विलोप का सिद्धान्त -** विलोप का सिद्धान्त गहन रूप से पुर्नबलन से जुड़ा हुआ है। सरल अनुबन्धन में, यदि अनुकूलित उद्दीपन को गैर-अनुकूलित उद्दीपन द्वारा पुर्नबलित नहीं किया जाता है, तो अनुकूलित प्रत्युत्तर कमजोर पड़ जायेगा और अन्ततः लुप्त हो जायेगा। उदाहरण के लिए, पावलोव के प्रयोग में, यदि जब घंटी बजाई जाती है तब यदि मीट का टुकड़ा कुत्ते को नहीं दिखाया जाये तो कुत्ते की लार टपकनी धीरे-धीरे कम होती जायेगी और अन्ततः यह विलुप्त हो जायेगी। फिर घण्टी के साथ लार नहीं टपकेगी। इसी प्रकार सक्रिय अनुबन्धन में, यदि प्रत्युत्तर को इसके परिणाम द्वारा पुर्नबलित नहीं किया जाता है, तो प्रत्युतर का विलोप हो जायेगा। मानव व्यवहार को नियन्त्रित करने में इस सिद्धान्त का अत्यन्त महत्व है। उदाहरण के लिए, प्रशिक्षण कार्यक्रमों में नये कौशल एवं योग्यता को सीखने के लिए श्रमिकों को बोनस एवं प्रशंसा के द्वारा लगातार पुरस्कृत एवं अभिप्रेरित (अर्थात् पुर्नबलित) किया जाना चाहिए अन्यथा श्रमिकों की सीखने की तत्परता व प्रयास (प्रत्युत्तर) मन्द होकर अन्ततः समाप्त हो जायेंगे। इस सिद्धान्त का उपयोग एक प्रभावी व्यूहरचना के रूप में अनावश्यक एवं आपत्तिजनक व्यवहारों को समाप्त करने के लिए भी किया जा सकता है। जब किसी अवांछनीय व्यवहार के लिए किसी प्रेरक, लाभ या उत्प्रेरक का उपयोग नहीं किया जायेगा तो वह धीरे-धीरे लुप्त हो जायेगा। किसी व्यवहार को पुर्नबलित या सुदृढ़ न करने का आशय व्यवहार को दण्डित करना या उसकी उपेक्षा करना नहीं है वरन् उसे केवल संबल (मान्यता) या लाभ प्रदान नहीं करना है। इस विलोपन व्यूहरचना से संगठन में कोई पार्श्व प्रभाव समस्यायें उत्पन्न नहीं होतीं जैसा कि ये दण्ड-व्यवस्था के साथ उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, विलोपन का व्यवहार पर वही प्रभाव होता है जो दण्ड व्यवस्था का होता है, किन्तु इसमें दण्ड से उत्पन्न हो सकने वाली समस्यायें नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, एक सुपरवाइजर अपने अधीनस्थों से आने वाली शिकायतों की संख्या को घटाना चाहता है तो जब कोई अधीनस्थ शिकायत लेकर आता है तो सुपरवाईजर निम्न में से कोई एक तरीका अपना सकता :

(अ) शिकायत पर ध्यान देना और उसे सावधानीपूर्वक सुनना। यह पुरस्कृत करने वाली विधि है।

(ब) अधीनस्थ को हमेशा शिकायत लाते रहने के लिए खरी-खोटी सुनाकर बाहर निकाल देना। यह दण्डकारी विधि है। इससे अन्य समस्यायें जन्म ले सकती हैं।

(स) अधीनस्थ पर ध्यान न देना, न उसकी शिकायत सुनना। यह 'विलोपन व्यूहरचना' है जो लक्ष्य पूर्ति में अधिक प्रभावी हो सकती है। इससे अधीनस्थ का शिकायत लाने वाला व्यवहार धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा।

किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि दण्ड एवं विलोपन व्यूहरचना में बहुत कम अन्तर है। अतः इसका उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

3. **सहज या स्वतः समुत्थान -** सीखने का यह सिद्धान्त बतलाता है कि जब व्यक्ति असमर्थित व असंबलित अनुकूलित प्रत्युत्तरों के एक अनुक्रम का अनुभव करते हैं तथा विश्राम ले लेते हैं तो उसके तुरन्त बाद वे अनुकूलित प्रत्युत्तर के अत्यधिक तीव्र स्तर पर लौट आयेंगे भले ही वही कोई पुर्नबलन नहीं हुआ हो। विश्राम के बाद प्रत्युत्तर शक्ति में यह उछाल ही स्वतः प्रवर्तित समुत्थान' का सिद्धान्त कहलाता है।

यह सिद्धान्त बतलाता है कि विलोपन की दशा में अनुकूलित प्रत्युत्तर पूर्णत: समाप्त नहीं हो जाता है। वरन् वह दब जाता है अथवा अवरोधित हो जाता है। उदाहरण के लिए, संगठन में किसी कर्मचारी के छुट्टी से लौटने या मंदी में अस्थाई छँटनी के बाद काम पर आने पर उसके कार्य निष्पादन की गति बहु त तेज हो जाती है। प्रबन्धक इस सिद्धान्त का उपयोग करके कर्मचारियों की कार्यकुशलता की गति को बनाये रख सकते हैं। प्रबन्धक विश्राम के बाद कर्मचारियों के कार्य निष्पादन में उत्पन्न होने वाली तीव्र गति का, सकारात्मक प्रत्युत्तरों को सम्बलित करके तथा ऋणात्मक प्रत्युत्तरों को असम्बलित करके, लाभ ले सकते हैं।

4. **सामान्यीकरण सिद्धान्त -** सीखने की प्रक्रिया में सामान्यीकरण सिद्धान्त यह बतलाता है कि "एक नया, किन्तु एक जैसा, उद्दीपन या उद्दीपन स्थिति एक ऐसे प्रत्युतर को जन्म देगी जो ठीक वैसा ही होगा जैसा कि मूल उद्दीपन द्वारा उत्पन्न किया जाता है। नया उद्दीपन, जितना अनुकूलित उद्दीपन जैसा होगा, उतनी ही अधिक यह सम्भावना होगी कि नया उद्दीपन वही अनुकूलित प्रत्युत्तर उत्पन्न करेगा।

इस सिद्धान्त का मानव शिक्षण में अत्यन्त महत्व है। सामान्यीकरण के बिना, एक व्यक्ति नई परिस्थिति के साथ अनुकूलन व समायोजन करने में कठिनाई अनुभव करेगा। सामान्यीकरण के कारण व्यक्तियों को प्रत्येक नई स्थितियों व कार्यो में, जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है, पुन: सीखना नहीं पड़ता है। व्यक्ति नई सीखने वाली स्थितियों में, अपने पुराने अनुभवों का सहारा लेकर, सुगमतापूर्वक समायोजन कर सकते हैं। किन्तु कभी-कभी सामान्यीकरण की प्रवृत्ति व्यक्ति को उत्पादक-विरोधी व्यवहार करने के लिए प्रेरित कर सकती है। कभी-कभी प्रबन्धक अपने एक या कुछ खराब अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण करके समस्त कर्मचारियों को प्रशिक्षण के अयोग्य एवं निकृष्ट जोखिम मान सकते हैं।

5. **विभेदीकरण का सिद्धान्त -** सीखने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विभेदीकरण का सिद्धान्त सामान्यीकरण से बिल्कुल विपरीत है। सामान्यीकरण' उद्दीपनों या प्रत्युतरों की समानता के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया है, जबकि विभेदीकरण अन्तरों के प्रति प्रतिक्रिया है। इस सिद्धान्त को पावलोव के प्रयोग के उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि यह प्रयोग किया जाये कि कुत्ते को तभी भोजन मिलेगा जबकि घन्टी बजे और साथ ही लाइट भी जले और उसे तब भोजन नहीं दिया जाये जब घन्टी तो बजे किन्तु लाइट बन्द हो तो कुत्ता शीघ्र ही दोनों उद्दीपकों में भेद करना सीख लेगा। कुत्ता तभी प्रत्युत्तर देगा जबकि दोनों उद्दीपकों में भेद करना सीख लेगा। कुत्ता तभी प्रत्युतर देगा जबकि दोनों उद्दीपक (घन्टी व लाइट) प्रस्तुत किये जायें। एक उद्दीपक प्रस्तुत करने पर कुत्ता प्रत्युतर (लार टपकाना) नहीं देगा। विभेदीकरण के सिद्धान्त को संगठनात्मक व्यवहार की स्थिति में भी समझा जा सकता है। एक सुपरवाइजर अपने श्रमिकों में भेद करना सीख सकता है। दो उच्च निष्पादन वाले श्रमिकों में रो एक श्रमिक उत्पाद की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं देता है तथा अस्वीकृत इकाइयाँ भी ज्यादा निकालता है। दूसरे श्रमिक की उत्पादन क्षमता भी प्रथम श्रमिक के बराबर रखता है। पहले सुपरवाइजर दोनों श्रमिकों के प्रति सकारात्मक प्रत्युत्तर रख सकता है किन्तु दोनों में विभेद करने के बाद वह अपना सकारात्मक प्रत्युतर केवल उस श्रमिक को देगा जो माल की किस्म पर भी ध्यान देता

है। सुपरवाइजर के विभेद करने के कारण गुणवत्ता पर ध्यान न देने वाला श्रमिक भी अपने व्यवहार में सुधार कर सकता है।

6. **तत्परता का नियम -** सीखने के इस नियम का सम्बन्ध प्रभाव तथा अभ्यास से है जो इस बात पर बल देता है कि जब व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक रूप से तैयार होता है, तभी वह किसी कार्य को सफलतापूर्वक सीख सकता है।

7. **अभ्यास का नियम -** अभ्यास का नियम कार्य की बारम्बारता पर बल देता है। प्राय: जिस कार्य को हम बार-बार करते हैं। उसके चिन्ह हमारे मस्तिष्क में दृढ़ हो जाते हैं। थॉर्नडाइक के अनुसार -

(1) जब एक परिवर्तनीय संयोग एक स्थिति और अनुक्रिया के बीच बनता है तो अन्य बातें समान होने पर उस संयोग की शक्ति बढ़ जाती है।

(2) जब कुछ समय तक स्थिति और अनुक्रिया के बीच एक परिवर्तनीय संयोग नहीं बनता है तो उस संयोग की शक्ति घट जाती है।

6.8 व्यक्तिगत व्यवहार के आधार

औद्योगिक संगठन एक जटिल संगठन होता है। इसमें कार्यरत व्यक्तियों के आन्तरिक एवं बाद वातावरण में होने वाली अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। संगठन में कार्यरत व्यक्ति का व्यवहार मूलत दो कारकों द्वारा प्रभावित होता है-

शारीरिक कारक एवं मनोवैज्ञानिक कारक

यद्यपि व्यक्ति की शारीरिक बनावट उसके व्यवहार को प्रभावित करती है। फिर भी मानवीय व्यवहार अत्यधिक जटिल होता है तथा उस पर दूसरे अन्य कारणों का भी प्रभाव पडता है। जिसमें व्यक्तित्व दबाव अवबोधन, अभिप्रेरणा सीखना आदि सम्मिलित हैं। अनुमानित रूप से मानवीय व्यवहार के कुछ कारण होते हैं जो लक्ष्य उन्मुख होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी व्यक्ति को कार्य हेतु अभिप्रेरित करते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि व्यक्ति का व्यवहार आकस्मिक रूप से परिचालित नहीं होता है, वरन् वह कुछ लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु उन्मुख होता है। व्यक्ति का व्यवहार कुछ सूचनाओं पर आश्रित होता है जो उसके कार्य परिवेश से आता है। बिना किसी उत्तेजक के कोई निवेश नहीं होता है। उत्तेजक के द्वारा जो प्रतिक्रिया की जाती है उसे ही व्यवहार कहा जाता है। लूथांस का मत है कि उत्तेजक एवं प्रतिक्रिया के मध्य निरन्तरता का एक क्रम जारी रहता है जिसके मद्देनजर व्यक्ति अपने कार्य परिवेश का विवेचन करता है अपने क्रिया-कलापों का नियन्त्रण करता है तथा कुछ स्थितियों की प्राप्ति हेतु एवं कुछ स्थितियों से वंचित रहने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। सरल शब्दों में इसका आशय यह है कि उत्तेजक एवं प्रतिक्रिया के साथ भौतिक एवं सामाजिक परिवेश तथा परिस्थिति भी व्यक्ति के व्यवहार को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है जिसमें केवल शारीरिक परिवेश ही नहीं वरन् व्यक्तित्व एवं मानसिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। यद्यपि यह प्रक्रिया काफी जटिल है. फिर भी इनकी अर्न्तक्रियाओं के द्वारा मानवीय व्यवहारों की उत्पत्ति होती है। कोलास ने व्यवहार को इनपुट-आउटपुट सिस्टम के परिप्रेक्ष्य में बताने का प्रयास किया है, जिसमें एक केन्द्रीय प्रक्रिया (अवबोधन, चिन्तन, तर्क, निर्णय आदि) की विशिष्ट भूमिका के विश्लेषण द्वारा व्यवहार को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

रोबिन्स का मत है कि एक व्यक्ति का समग्र व्यवहार उसके व्यक्तित्व एवं सीखने के अनुभव के द्वारा प्रभावित होता है। जीवन सम्बन्धी विशेषताएं (उम्र लिंग वैवाहिक स्थिति) व्यवहार को प्रत्यक्षत: प्रभावित करती है। उम्र बढने के साथ व्यवहार शैली भी परिवर्तित हो जाती है. जिसका सन्तुष्टि तथा कार्य निष्पादन पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार पुरूष तथा महिला कर्मचारी के व्यवहार में अन्तर देखा जा सकता है। व्यक्ति विवाहित है या अविवाहित, इसका भी उस के द्वारा किये जाने वाले व्यवहार से काफी सीमा तक सम्बन्ध होता है। एक व्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक योग्यताएँ भी उसके व्यवहार की दिशा को तय करने में अहम् भूमिका निभाती हैं। **इवासंविच** तथा अन्य का मत है कि एक व्यक्ति का व्यवहार उसकी मूल्य व्यवस्था द्वारा प्रभावित होता है। मूल्य व्यवस्था दृढ़ धारणाओं का वह समूह है, जो एक व्यक्ति विशिष्ट आचरण के बारे में धारण करता है तथा जिसका एक व्यक्ति के लिए विशेष महत्व होता है। यह मूल्य व्यवस्था एक व्यक्ति के व्यक्तित्व अवबोधन तथा मनोवृत्ति को समझने में आधारभूत तथ्य प्रदान करती है।

व्यक्तिगत व्यवहार के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं-

1. व्यक्तित्व
2. दबाव
3. अवबोधन
4. अभिप्रेरणा
5. सीखना
6. संगठनात्मक व्यवहार संशोधन

6.9 सारांश

व्यवहार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। कोई भी व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है वैसा ही उसका व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रत्येक संगठन कर्मचारियों के व्यक्तित्व के विकास में रूचि लेता है। व्यक्तित्व का समुचित विकास योग्यता एवं समायोजन की क्षमता को पुष्ट करता है तथा नियोक्ता एवं कर्मचारी के मध्य बेहतर सम्बन्धों की स्थापना करता है। व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। प्रबन्धक के लिए व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक होता है क्योंकि मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक कारकों से निर्मित होता है और इसके द्वारा परिवर्तन की एक प्रक्रिया का बोध होता है। व्यक्तित्व से किसी व्यक्ति के अस्तित्व का बोध होता है। इसके द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक गुणों में एकीकरण का बोध होता है जिसके आधार पर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न किया जा सकता है। इस इकाई में व्यक्तिगत व्यवहार तथा सीखने की अवधारणाओं तथा आवश्यकताओं को भी स्पष्ट किया गया है।

6.10 शब्दावली

(1) वैयक्तिक	-	व्यक्तिगत
(2) प्रबलीकरण	-	सुदृढ़ीकरण
(3) समीपता	-	निकटता

(4) अभिप्रेरणा - प्रेरित करना

6.11 स्वपरख प्रश्न

1. व्यक्तिगत भिन्नताओं से क्या अभिप्राय है? व्यक्तिगत व्यवहार के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए।
2. व्यक्तिगत व्यवहार की रूपरेखा को संक्षिप्त में लिखिए।
3. सीखना क्या है? इसके प्रमुख प्रकारों की विवेचना कीजिए।
4. संगठनात्मक व्यवहार में सीखने के महत्व की विवेचना कीजिए।
5. सीखने के सिद्धान्त बताइए।
6. सीखने की प्रकृति एवं लक्षणों का वर्णन कीजिए।
7. सीखने की तकनीकें कौन-कौन सी हैं?
8. आप किसी संगठन में प्रबन्धक के पद पर कार्यरत हैं उस स्थिति में आपके व्यक्तिगत व्यवहार का संगठन पर किस तरह से प्रभाव पड़ेगा?

6.12 उपयोगी पुस्तकें

1. J Kelly - Organizational behaviour, Richard D Irwin, Homeward Inc., 1974
2. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour, Prentice Hall, New Delhi 2007
3. Fred Luthans - Organizational Behaviour, Mc Graw Hill 2004

इकाई-7: अवबोध (Perception)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 अवबोध का अर्थ
7.2 अवबोध की परिभाषा
7.3 अवबोध का उद्देश्य
7.4 अवबोध की प्रकृति एवं लक्षण
7.5 अवबोध की प्रक्रिया
7.6 अवबोध के सिद्धान्त
7.7 अवबोधक के लक्षण
7.8 अवबोधी के लक्षण
7.9 सारांश
7.10 व्यावहारिक प्रश्न
7.11 उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

– अवबोध का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।
– अवबोध की प्रकृति एवं कण और उद्देश्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
– अवबोध की प्रक्रिया का वर्णन कर पायेंगे।
– अवबोध के विभिन्न सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
– अवबोधक एवं अवबोधी के विभिन्न लक्षणों का वर्णन कर पायेंगे।

7.1 अवबोध का अर्थ

संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा मनुष्य सूचनाओं का प्रविधियन एवं विवेचन करता है। इनमें मुख्य रूप से परिकल्पना अवबोधन एवं चिन्तन शामिल है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि अवबोध की प्रक्रिया सम्पूर्ण संज्ञानात्मक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। सरल रूप में अवबोध प्राथमिक तौर पर **चिन्तन या संज्ञान की प्रक्रिया** है जिसके द्वारा मानव उद्दीपकों व वातावरणीय घटकों का चयन, संगठन एवं विवेचन करता है।

अवबोध में वातावरण स्थिति की व्याख्या व विवेचन किया जाता है। यह स्थिति किसी स्थिति की हूबहू 'अभिलेखन नहीं है। यह किसी स्थिति या वातावरण का छायाचित्र लेना नहीं है **वरन् व्यक्तिगत ढंग से स्थिति का अर्थ लगाना है। यह वास्तविक जगत का व्यक्तिगत नजरिया है।** यह आशिक व्यक्तिगत संरचना है जिसमें व्यक्ति अपनी मुख्य भूमिका (व्यवहार) के लिए कुछ चीजों (अर्थ निर्णय) का चयन व्यक्तिगत ढंग से करता है। अत: इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का **बोधात्मक जगत** उसके वास्तविक जगत से बिल्कुल भिन्न हो सकता

है। हेरोल्ड लीविट कहते हैं कि, 'एक प्रबन्धक का बोधात्मक जगत उसके अधीनस्थ कर्मचारी के बोधात्मक जगत से पूर्णत: भिन्न होता है तथा दोनों के जगत का चित्र वास्तविक जगत से बिल्कुल विपरीत हो सकता है। "संक्षेप में, 'अवबोध' वास्तविक जगत, वातावरण व उद्दीपको को चयनित रूप से ग्रहण करने, संगठित करने तथा अपनी भूमिका के निष्पादन एवं व्यवहार के लिए उस स्थिति की व्यक्तिगत ढंग से व्याख्या करना है। स्थिति की व्याख्या व विवेचन करते समय व्यक्ति स्वयं के दृष्टिकोण व विचारों, वस्तु एवं वातावरणीय घटको से प्रभावित होता है।

7.2 अवबोध की परिभाषा

अवबोध की कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार हैं -

वोन हेलर गिलमर के अनुसार 'अवबोध स्थितियों के प्रति जागरूक होने की तथा संवेदनाओं के साथ अर्थपूर्ण सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया है।

उदय पारीक के शब्दों में, अवबोध संवेदी उद्दीपकों अथवा समंको को प्राप्त करने, चयन करने, संगठित करने, अर्थ प्रतिपादित करने जाँचने तथा उनके प्रति प्रतिक्रिया करने की प्रक्रिया है।"

स्टेफेन पी रोबिन्स के शब्दों में, "अवबोधन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्‌वारा व्यक्ति अपने वातावरण का अर्थ प्रदान करने के लिए संवेदी प्रभावों को संयोजित एवं विवेचित करते हैं।"

रिक्की ग्रिफिन के शब्दों में, "अवबोधन विभिन्न प्रक्रियाओं का समूह है जिनके द्‌वारा एक व्यक्ति वातावरण के प्रति सजग होता है तथा वातावरण की सूचनाओं से अर्थ-व्याख्या करता है।"

7.3 अवबोध का उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य अद्‌वितीय है। उसका सोच, दृष्टिकोण प्रत्यक्ष बोध, ज्ञान कुछ भी समान नहीं होता। मनुष्य की इन्द्रियगोचर एवं अनुभूति क्षमता भी असीम है। मनुष्य वातावरण में निरन्तर अनेक प्रेरकों उत्तेजकों उद्दीपको से घिरा रहता है। वह उन्हें चयन करते हुए ग्रहण करता है, उनकी अपने संज्ञान के अनुरूप विवेचना करता है व्याख्या करता है तथा अपने अवबोध के अनुसार प्रतिक्रिया एवं व्यवहार करता है।

मूरहैड एवं ग्रिफिन कहते हैं कि "**यदि प्रत्येक व्यक्ति हर एक चीज को एक ही दृष्टि से देखता तो सब चीजें बहुत आसान बन जातीं।"** किन्तु वास्तविक जगत में ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चीजों को अपने अलग ढंग से देखता समझता महसूस करता और व्याख्या करता है। **वास्तविकता का नजरिया** सबका भिन्न-भिन्न है। यहीं अवबोध है।

'अवबोध' मानव की एक सुदृढ मनोवैज्ञानिक रचना एवं शक्ति है। अवबोध के द्‌वारा ही व्यक्ति अपने अनुपम संसार की रचना करता है एवं अपने जगत् को सीमित कर लेता है। अवबोध से ही वह किसी पर ध्यान देता है किसी की उपेक्षा करता है अथवा किसी को अमान्य कर देता है। जगत वास्तव में क्या है इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति जगत को कैसे देखता है। यही कारण है कि मानव व्यवहार अवबोध से गहन रूप में प्रभावित होता है। संगठनात्मक व्यवहार के सही अध्ययन समझ एवं वयाख्या के लिए प्रबन्ध में सही बोधात्मक कौशल का

होना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। एन्थनी एवं कोफे के अनुसार 'व्यवहार मुख्य रूप से इस बात का प्रतिफलन है कि व्यक्ति एक निश्चित क्षण में अपने आपस के जगत का कैसे अवबोध करते है।"

7.4 अवबोध की प्रकृति एवं लक्षण अ

अवबोध की प्रकृति को निम्न बिन्दुओं के द्वारा समझा जा सकता है -

1. **बौद्धिक प्रक्रिया -** अवबोधन विचार चिन्तर तर्क एवं कल्पना से जुडी प्रक्रिया है। इसमे व्यक्ति विचारपूर्वक वातावरण से सूचनाओं को प्राप्त करके उन्हें संयोजित करता है तथा विचारों के आधार पर उनके अर्थ प्रतिपादित करता है।

2. **संज्ञानात्मक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया -** अवबोध की प्रक्रिया में व्यक्ति के विचार, मनोवेग, भाव, आवेग, उद्वेग परिकल्पना, अभिप्रेरण, अवलोकन, तर्क बुद्धि, दूर दृष्टि आदि मानसिक क्रियायें सक्रिय हो जाती हैं। इनके द्वारा ही वह स्थिति व वातावरणीय प्रभावों का मूल्यांकन करते हुए अपने वैकक्तिक 'अर्थ' की संरचना करता है।

3. **व्यक्तिनिष्ठ प्रक्रिया -** 'अवबोधन' वातावरण या स्थिति को अपने व्यक्तिगत नजरिये से देखने व समझने की प्रक्रिया है। यह व्यक्ति के अपने लक्ष्यों स्वार्थो, दृष्टिकोण, ज्ञान, उसकी अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं जरूरतों से प्रभावित होती है यही कारण है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही चीज को अलग-अलग नजरिये से देखते, समझते एवं अर्थ लगाते हैं। अवबोध की प्रक्रिया व्यक्ति के पास संग्रहित सूचनाओं, स्थिति की विशिष्ट पहलुओं, उनकी व्याख्या के ढंग तथा उन पर व्यक्ति की समझ व पकड़ से भी प्रभावित होती है। व्यक्तिनिष्ठता के कारण ही एक सत्य अथवा एक यर्थाथ भिन्न-भिन्न लोगो को अलग-अलग रूपों में नजर आता है।

4. **स्थिति का विवेचन, अभिलेखन नहीं -** अवबोध के अन्तर्गत व्यक्ति वास्तविक स्थिति को अपना अर्थ एवं व्याख्या प्रदान करता है, स्थिति को ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं करता। यह छायाचित्र लेना नहीं वरन् वास्तविक जगत को अपनी समझ से चित्रित करना है। यह चित्र सबका भिन्न-भिन्न, अपूर्ण-आंशिक एवं गलत हो सकता है।

5. **संवेदना या उत्तेजना से अधिक जटिल एवं व्यापक -** संवेदना एवं अवबोधन को कई बार समान मान लिया जाता है, जबकि ऐसा नहीं है। संवेदना से आशय शारीरिक उत्तेजना अंगो के प्रतयुत्तर से है। मनुष्य की पाँच शारीरिक इन्द्रियॉ-दृष्टि, श्रवण, स्वाद, गंध एवं स्पर्श हैं जिन पर बाहर एवं भीतर से उत्पन्न होने वाले अनेक उदीपकों का निरन्तर प्रभाव पड़ता है। इससे संवेदन उत्पन्न होता है। संवेदन का मुख्य सम्बन्ध प्राथमिक व्यवहार से है जो अधिकांशत: शारीरिक क्रिया से निर्धारित होता है। संक्षेप में, वातावरण से सूचनायें प्राप्त करने की शारीरिक प्रक्रिया से निर्धारित होता है। संक्षेप में, वातावरण से सूचनायें प्राप्त करने की शारीरिक प्रक्रिया को ही संवेदना कहा जाता है। किन्तु अवबोधन संवेदना से अधिक जटिल एवं व्यापक प्रक्रिया है। बोधात्मक प्रक्रिया में सूचनाओं के चयन, संयोजन एवं विवेचन के अन्तर्व्यवहार की जटिल प्रक्रिया शामिल हैं। यद्यपि अवबोधन प्राथमिक सूचनाओं, संकेतों व प्रभावों के लिए अधिकांशत: भौतिक इन्द्रियों एवं उनके उत्तेजन पर ही निर्भर होता है किन्तु मस्तिष्क में चलने वाली

संज्ञानात्मक प्रक्रिया इन प्राथमिक सूचनाओं को शुद्ध, परिष्कृत, संशोधित अथवा पूर्णत: परिवर्तित कर सकती हैं दूसरे शब्दों में, बोधात्मक प्रक्रिया 'वास्तविक' संवेदी दुनिया में कुछ जोडती है एवं कुछ घटाती है उदाहरण के लिए, एक अधीनस्थ कर्मचारी का उत्तर, वह जो अपने अधिकारी को सुनता है, उस पर निर्भर है, न कि अपने अधिकारी द्वारा वास्तव में कही गई बात पर। इसी प्रकार एक ही श्रमिक का एक पर्यवेक्षक अच्छा मानता है, किन्तु दूसरा पर्यवेक्षक उसे निकृष्ट मानता है, यह अन्तर अवबोध के कारण है।

6. अवबोध के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन एवं अनुभवों को **अर्थ प्रदान** करते है।
7. अवबोध पाँच **मानवीय इन्द्रियों** - देखना सूनना, अनुभव करना, गंध लेना एवं स्वाद तथा चेतना के साथ शुरू होता है।
8. अवबोध की प्रक्रिया अनेक निहित अवरोधों के कारण सदैव प्रभावी नहीं होती है।
9. **असन्तुष्ट आवश्यकताओं** का व्यक्ति के अवबोध पर अत्यन्त **गहरा प्रभाव** पडता है।

7.5 अवबोध की प्रक्रिया

अवबोध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति वातावरण से सूचनाओं व उत्तेजकों को ग्रहण करके उनका चयन, संयोजन एवं विवर्चन करते हैं। अवबोध के द्वारा ही चयनित सूचनाओं, ज्ञान एवं तथ्यों का विचारपूर्वक प्रविधियन करके उनसे निर्णय लेते हैं तथा व्यवहार करते हैं। अवबोध आपने बारे में दूसरों के बारे में तथा दैनिक जीवन अनुभव के बारे में धारणा निर्मित करने का ढंग है। यह वह पर्दा या फिल्टर है जिससे सूचनायें लोगों पर प्रभाव डालने के पूर्व होकर गुजरती है। अवबोधन के निर्मित होने की एक निश्चित प्रणाली है। इसमें अनेक उप-क्रियायें सम्मिलित होती हैं जो एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करती है। इन उप-क्रियाओं पर वातावरण एवं अवबोधक के चिन्तन, दृष्टिकोण एवं अभिप्रेरण का भी प्रभाव पड़ता है।

सम्पूर्ण अवबोधन प्रक्रिया को निम्नलिखित तत्वों में बाँटा जा सकता है-

1. बाह्य वातावरण
2. प्रेरणायें, उद्दीपन एवं सामना
3. अवबोध प्रणाली
4. निर्णय एवं व्यवहार
5. परिणाम

इनका वर्णन निम्न प्रकार है -

1. **बाह्य वातावरण -** व्यक्ति का बाह्य वातावरण उसके आस-पास के परिवेश, भौतिक दशाओं, जलवायु, परिसर, अड़ोस-पड़ोस से मिलकर बनता है। इसके अतिरिक्त, समाज की संस्कृति, सामाजिक दशायें, मूल्य, परम्परायें, प्रथायें शिक्षा प्रणाली, नैतिक एवं धार्मिक मानदण्ड आदि घटक भी वातावरण का निर्माण करते है। जो व्यक्ति के चिन्तन एवं दृष्टिकोण के माध्यम से उसके अवबोध को प्रभावित करते है। वातावरण से ही प्रेरणायें, उत्तेजनायें एवं विभिन्न प्रकार के उद्दीपक उत्पन्न होते है।

2. **प्रेरणायें, उद्दीपन एवं सामना -** उद्दीपन एवं प्रेरक घटक व्यक्ति के सोच व विचारों को प्रोत्साहित करते हैं एवं प्रेरणा देते है। जब एक व्यक्ति वातावरण से उत्पन्न होने वाले प्रेरकों या विभिन्न परिस्थितियों का सामना करता है तो उसके अवबोध की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। व्यक्ति का यह सामना उसकी तात्कालिक ऐन्द्रिक उत्तेजनाओं अथवा सम्पूर्ण भौतिक व सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण के साथ हो सकता है। उदाहरण के लिए, एक कर्मचारी को प्रत्येक दिन अपने सुपरवाइजर अथवा सम्पूर्ण औपचारिक संगठनात्मक वातावरण का सामना करना पड़ता है। इन उद्दीपकों में वस्तुएँ घटनायें तथा व्यक्ति शामिल हैं जो अवबोधक के विचारों को उत्प्रेरित करते हैं।

3. **अवबोध क्रियाविधि -** अवबोध की क्रियाविधि का मुख्य भाग सूचनाओं के चयन, संयोजन, विवेचन एवं प्रतिपुष्टि से मिलकर बनता है। इनका संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है -

अ. चयन - वातावरण में अनेक चीजें एक साथ घटित हो रही होती है। किन्तु व्यक्ति सभी पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता, न यह उसके लिए आवश्यक होता हैं अत: उसे सबसे पहले कुछ ज्यादा जरूरी चीजों पर ध्यान देना होता है। व्यक्ति चयनित चीजों पर ध्यान देकर ही अपने जीवन को प्रभावपूर्ण ढंग से चला सकता है।

ब. संयोजन - व्यक्ति की अवबोध की प्रक्रिया में संयोजन से तात्पर्य ग्रहण की गई सूचनाओं को 'अर्थपूर्ण सम्पूर्णता' में बदलना है ताकि वह उपयोगी एवं मार्गदर्शक बन सके। इस क्रिया को संरूपण प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। अर्थ संयोजन के कई ढंग है, जैसे समूहीकरण करके, सरलीकरण के द्वारा अथवा रिक्त अन्तराल को पूरा करके।

स. व्याख्या करना - अवबोधक प्राप्त सूचना एवं सामग्री, जिसको उपयुक्त आधारों पर संगठित कर लिया जाता है, की व्याख्या करके सम्पूर्ण स्थिति से 'अर्थ' निकालता है। व्यक्ति अपने ढंग से चीजों की व्याख्या करता हैं इसमें वह अपनी धारणाओं का सहारा लेता है। विवेचन करते समय अवबोधक कुछ प्रतीकों, विशेषणों का प्रयोग करता है। वह सूचनाओं को विकृत भी कर सकता है तथा वह अपनी स्वयं की भावनाओं, मतों, संवेगों, विश्वासों से संचालित होकर निर्णय लेता है। वह अपने पक्षपातों के अनुरूप ही अपने अर्थ को प्रकट कर सकता है। यदि अवबोधक विवेकशील नहीं है तो वह सूचनाओं को विकृत करके गलत व्याख्या कर सकता है। व्याख्या करने की अवस्था में अवबोधक निर्णायक होने का प्रयास करता है। वह दूसरों के बारे में अच्छा-बुरा, सही-गलत, बुद्धिमान-मूर्ख आदि होने का निर्णय तुरन्त ले लेता है। अवबोधन में व्यक्ति न केवल सूचनाओं को विकृत कर लेता है वरन् कई बार वह उन सूचनाओं की उपेक्षा की कर लेता है जो उसके लिए अहितकर होती है। व्यक्ति के पक्षपात, व्यक्तिपरकता, निर्णयात्मक अभिवृत्ति आदि के कारण वह चीजों की सही व्याख्या नहीं कर पाता है। वह यथार्थ को न देखकर केवल अपनी ज्ञानात्मक पसन्द व वरीयताओं को अधिक महत्व देता है। यही कारण कि अवबोध में व्यक्ति वास्तविक स्थिति से दूर हट जाता है।

द. प्रतिपुष्टि - अगली उप - क्रिया प्रतिपुष्टि है। **किम्बल एवं गारमेजी** लिखते हैं कि "अधिकांश बोधात्मक क्रियायें उत्तेजनाएँ -उत्पन्न करती हैं जिनके द्वारा बोधात्मक घटना की व्याख्या करने में सहायता मिलती है।" इसका एक उदाहरण गति-संवेदन प्रतिपुष्टि है। इसमें

माँस-पेशियो से संवेदी प्रभाव व सूचनायें प्रकट होने लगती हैं जिनसे एक श्रमिक उसके द्वारा ढोये जाने या माल की गति का अवबोध कर सकता हैं। एक अन्य उदाहरण **मनोवैज्ञानिक प्रतिपुष्टि** का है जो एक कर्मचारी के अवबोध को प्रभावित कर सकती है। यह है कर्मचारी के सुपरवाइजर द्वारा भौहें टेढ़ी करना अथवा उसके द्वारा सुर परिर्वतन करना अर्थात तेजी या नरमी से पेश आना। प्रतिपुष्टि के द्वारा प्राप्त सूचनाओं से व्यक्ति का अवबोध प्रभावित होता है।

4. **निर्णय एवं व्यवहार -** अवबोध की अभिव्यक्ति व्यवहार एवं निर्णय के अन्तर्गत होती हैं यह व्यवहार बाह्य या प्रकट अथवा गुप्त हो सकता है। वस्तुत: व्यक्ति का अवबोध एक व्यवहारात्मक घटना है तथा यह संगठनात्मक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण भाग हैं अवबोध के फलस्वरूप. एक कर्मचारी तेजी से धीमे कार्य कर सकता है. यह उसका खुला व्यवहार है अथवा वह अपने मस्तिष्क में किसी अभिवृति का निर्माण कर सकता है। यह उसका अप्रकट व्यवहार है।

5. **परिणाम -** यह वातावरण से जुड़ा घटक है। अवबोध निर्मित हो जाने के बाद व्यक्ति को वातावरण में कार्य करना चाहिए ताकि वह एक निश्चित परिणाम प्राप्त कर सकें इसके अन्तर्गत यदि परिणाम उसके अवबोध के अनुकूल होता है तो उसे अपने निर्णय व व्यवहार को सुद्दढ करने अथवा उसके पुर्नबलन की प्रेरणा मिलती है। किन्तु यदि परिणाम उसके अवबोधित निर्णय व व्यवहार के अनुकूल नहीं होता हैं तो वह दण्ड के लिए प्रेरित होता है। अवबोध का यह पहलू संगठनात्मक परिणाम से भी जुड़ा है।

6. **स्थिति एवं अवबोधक के लक्षण -** अवबोध प्रणाली पर स्थिति के अनेक, घटकों का भी प्रभाव पड़ता है। संगठनात्मक स्थिति व भूमिका व्यक्ति के अवबोध को प्रभावित करती है। इसी प्रकार अवबोधक के अनेक लक्षण जैसे उसकी आवश्यकतायें, प्रेरक, स्व-धारणा विगत अनुभव मनोवैज्ञानिक दशा आदि भी सम्पूर्ण अवबोध प्रणाली को प्रभावित करते है।

7.6 अवबोध के सिद्धान्त

अवबोध की क्रिया 'व्यक्ति' और 'वास्तविकता' के बीच निरन्तर चलती रहती है। अवबोध की क्रियाविधि के तीन प्रमुख घटक हैं - **चयन (Selection), संगठन (organisation)** तथा **विवेचन (Interpretation)**। इन्हीं से व्यक्ति का व्यवहार प्रकट होता है। इनका विस्तृत वर्णन तथा इन्हें प्रभावित करने वाले घटक निम्न प्रकार हैं-

1. **चयन (Selection) -** वातावरण में कार्यशील अनेक उद्दीपक एवं उत्तेजनाएँ निरन्तर प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित कर रही होती हैं। किन्तु वह इनमें से कुछ ही उद्दीपकों पर ध्यान देने के लिए उनका चयन करता है। व्यक्ति समस्त सूचनाओं को ग्रहण न करके केवल चयनित सूचनाओं को ही प्राप्त करता है। एक व्यक्ति एक निश्चित समय पर केवल कुछ उद्दीपकों का ही क्यों और कैसे चयन करता है, इस सम्बन्ध में उसके बोधात्मक चयन से जुड़े कुछ सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं जो व्यक्ति के बोधात्मक चयन को प्रभावित करते हैं। ये बहुत से बाह्य एवं आन्तरिक घटक हैं जो निम्नानुसार हैं -

(अ) **बाह्य ध्यानाकर्षण घटक -** ये घटक बाह्य वातावरण से जुड़े होते हैं जो व्यक्ति की चयनात्मकता को प्रभावित करते हैं-

(i) **तीव्रता -** बाह्य उद्दीपक जितना अधिक तीव्र या प्रबल होगा, उसका अवबोध उतना ही प्रगाढ़ होगा। विज्ञापनकर्ता उपभोक्ता का ध्यान आकर्षित करने में इस सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। चमकीले पैकेजिंग, उच्च स्वर में टीवी, विज्ञापन, सुपरवाइजर का जोर से बोलना, तीव्र गंध या प्रकाश आदि तीव्रता के प्रयोग के उदाहरण हैं।

(ii) **आकार -** इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का आकार जितना बड़ा होगा, इसका अवबोध होने की संभावना उतनी ही अधिक होगी। अनुरक्षण इंजीनियरिंग कर्मचारी बड़े आकार की मशीनों व यंत्रों पर अधिक ध्यान देते हैं। कुछ लाइनों की अपेक्षा पूरे पृष्ठ का विज्ञापन अधिक प्रभावी होता है।

(iii) **विषमता -** यह सिद्धान्त बताता है कि किसी चीज का प्रभाव या आकर्षण उसकी पृष्ठभूमि या वैषम्य स्थिति से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, जब संयंत्र सुरक्षा के चिन्ह पीले रंग की पृष्ठभूमि में काले अक्षरों से अथवा लाल पृष्ठभूमि पर सफेद रंग के अक्षरों से अंकित किये जाते हैं तो वे विषय पृष्ठभूमि के कारण अधिक प्रभावी होते हैं। इस सिद्धान्त को निम्न चित्र के द्वारा समझा जा सकता है-

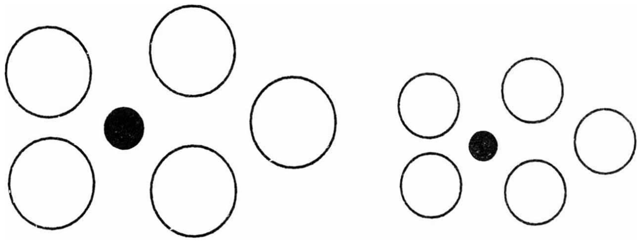

उपरोक्त चित्रों में दोनों काले वृत समान आकार के हैं, यद्यपि अपनी विषम पृष्ठभूमि के कारण दाहिने चित्र का काला वृत बायीं ओर के काले वृत्त से अधिक बड़ा दिखाई देता है।

(iv) **पुनरावृत्ति -** इस सिद्धान्त के अनुसार बार-बार दोहराई गई बात या उद्दीपक पर ज्यादा ध्यान आकर्षित होता है। इस कारण यह है कि पुनरावृत्ति से उद्दीपक के प्रति हमारी संचेतना बढ़ जाती है तथा जब भी हमारे ध्यान में कमी आने लगती है, पुनरुक्ति से ध्यान वापस लौट आता है। यही कारण है कि विज्ञापनदाता अपने उत्पाद संदेश को बार-बार दोहराते हैं, सुपरवाइजर अपने श्रमिकों को बार-बार कार्य निर्देश प्रदान करते हैं।

(v) **गति -** यह सिद्धान्त बतलाता है कि दृष्टि जगत में रुकी हुई चीजों की अपेक्षा गतिशील चीजें अधिक ध्यान आकर्षित करती हैं। एक स्थायी मशीन की तुलना में श्रमिक कनवेयर बेल्ट पर चलती सामग्री पर अधिक ध्यान देंगे। यही कारण है कि विज्ञापनदाता गतिशील अक्षरों वाले (जैसे रेलवे द्वारा गाड़ियों की सूचना का इलेक्ट्रॉनिक विज्ञापन देना) विज्ञापन करने लगे है।

(vi) **अनूठापन एवं सुपरिचितता -** कोई भी नवीन, अनूठी या सुपरिचित बाह्य स्थिति भी व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करती है। परिचित वातावरण में नई चीजें अथवा नये वातावरण

में सुपरिचित चीजें अवबोधक का शीघ्र ही ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। नवीन कार्य दशायें, प्रशिक्षण योजना, कार्य आवर्तन आदि उनके अनूठेपन एवं नवीनता के कारण ध्यान आकर्षित करते हैं।

(ब) **आन्तरिक ध्यानाकर्षण घटक -** बोधात्मक चयन आन्तरिक घटकों से भी प्रभावित होता है। इसमें व्यक्ति की जटिल **मनोवैज्ञानिक संरचना** शामिल होती है। व्यक्ति वातावरण से उन उद्दीपकों या स्थिति का चयन करते हैं जो उनके व्यक्तित्व, ज्ञान एवं अभिप्रेरण के अनुकूल होती है। इनका वर्णन निम्न प्रकार है :

(i) **सीखना एवं अवबोध -** यद्यपि सीखने की अवधारणा अभिप्रेरण एवं व्यक्तित्व से जुड़ी है, किन्तु बोधात्मक समूह के विकास में इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए, नीचे त्रिभुज में दिए गए वाक्यांश को पढ़िए।

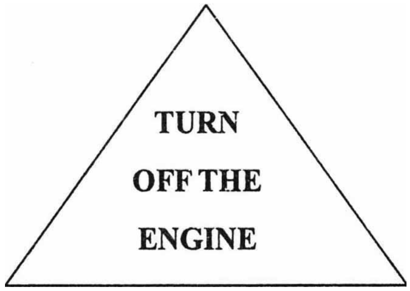

यह जानने में कि इस वाक्यांश में कुछ गलत है काफी समय लग सकता है। इसका कारण यह है कि वाक्यांश से पूर्व परिचय एवं शिक्षण होने की वजह से व्यक्ति उसे इसी रूप में "Turn Off The Engine" पढ़ने व बोध करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सीखने की प्रवृत्ति एक प्रत्याशा उत्पन्न करके एक निश्चित ढंग से अवबोध करने के लिए प्रेरित करती है। यह 'प्रत्याशा व्यवहार की अवबोधात्मक व्याख्या करने में एक महत्वपूर्ण तत्व की भूमिका निभाती है। दूसरे शब्दों में, यह दृष्टिकोण बतलाता है कि ' 'व्यक्ति जो देखने व सुनने की आशा रखते हैं, वही देख व सुन लेते हैं। " व्यक्ति का सीखा हुआ अनुभव उसके द्वारा सूचनाओं(उद्दीपकों) के चयन में सहायक होता है। व्यक्ति सीखने के अनुभव की पृष्ठभूमि में ही आगे की कार्यवाही का चयन करता है।

2. **बोधात्मक संयोजन अथवा संगठन (Perceptual Organisation) -** बोधात्मक चयन का सम्बन्ध व्यक्ति के ध्यान को आकर्षित करने वाले बाहय एवं आन्तरिक घटकों से है। बोधात्मक संयोजन इस बात पर बल देता है कि वातावरण से सूचना प्राप्त करने के बाद बोधात्मक प्रक्रिया में क्या होता है। एक व्यक्ति रंग, प्रकाश अथवा ध्वनि के संयोजन अथवा जोडजाड़ का शायद ही अवबोध करता है। बल्कि इसके स्थान पर वह उद्दीपकों के संगठित प्रारूपों एवं पहचान योग्य सम्पूर्ण चीजों का अवबोध करेगा। दूसरे शब्दों में, **एक व्यक्ति बोधात्मक प्रक्रिया के द्वारा ही अपने मस्तिष्क में प्राप्त सूचनाओं को एक 'अर्थपूर्ण समग्रता' में संघटित करता है। बोधात्मक संयोजन के कुछ सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं-**

(1) आकृति आधार - 'आकृति आधार का सिद्धान्त बोधात्मक संगठन का अत्यधिक मूल स्वरूप है। इसका आशय यह है कि अवबोधित वस्तुओं को उनकी सामान्य पृष्ठभूमि से पृथक्करणीय के रूप में देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति पुस्तक से जब कुछ पंक्तियाँ पढ़ रहा होता है तो वह काले और सफेद का अनियमित आकार में कोई जोड़-तोड़ का स्वरूप देखता है। किन्तु इसके बावजूद वह सफेद पृष्ठभूमि पर काले आकार में अंकित कुछ अक्षरों, शब्दों व वाक्यों का अवबोध कर सकता है। अर्थात् पाठक प्राप्त सूचनाओं (उद्दीपकों) को पहचान योग्य आकृतियों (शब्दों) में बोधात्मक रूप से संयोजित कर सकता है।

(2) बोधात्मक समूहीकरण - बोधात्मक संयोजन का समूहीकरण सिद्धान्त यह बतलाता है कि व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे कई उद्दीपकों का एक साथ पहचान योग्य प्रारूप में समूहीकरण कर लेते हैं। यह बहुत मौलिक सिद्धान्त है तथा व्यक्तियों में कृत् रूप से जन्मजात पाया जाता है। समूहीकरण में कुछ समानताओं को आधार बनाया जाता है। जब व्यक्तियों के समक्ष उद्दीपकों के सरल पुंज प्रस्तुत किये जाते हैं तो वे उन्हें समापन, निरन्तरता, निकटता या समानता के आधार पर समूहों में बदल लेते हैं।

समूहीकरण के कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(i) पूर्ण करना - 'पूर्ण करने' का सिद्धान्त संरूपण मनोविज्ञान से जुड़ा है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति किसी सम्पूर्ण स्वरूप का अवबोध कर लेता है जबकि वास्तव में यह स्वरूप वहाँ विद्यमान नहीं होता। वास्तव में, व्यक्ति अपनी बोधात्मक प्रक्रिया के द्वारा उन खाली स्थानों को भरके एक सम्पूर्ण आकृति का अवबोध कर लेता है जो ऐन्द्रिक सूचनाओं द्वारा नहीं भरे जा सके हैं। औपचारिक संगठनों में कर्मचारी या तो एक सम्पूर्ण' का अवबोध कर लेते हैं जबकि वास्तव में वह विद्यमान नहीं होता अथवा जो विभिन्न भाग वहां विद्यमान होते हैं, उन्हें वह साथ जोड़कर सम्पूर्ण' का निर्माण नहीं कर पाते। वे विभिन्न भागों का आपसी सम्बन्ध जोड़कर सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं देख पाते हैं।

(ii) निरन्तरता - पूर्ति करने का सिद्धान्त अनुपस्थित उद्दीपकों को उपलब्ध कराता है जबकि निरन्तरता के सिद्धान्त के अनुसार व्याक्ति निरन्तर रेखाओं या प्रारूपों का अवबोध करने की प्रवृत्ति रखता है। इस प्रकार की निरन्तरता से संगठन कर्मचारियों में अलोचपूर्ण या सृजनात्मक चिन्तन उत्पन्न हो सकता है। व्यक्ति अपने अवबोध से स्पष्ट, निरन्तर प्रारूप या सम्बन्धों की रचना कर सकता है। निरन्तरता के सिद्धान्त से संगठनात्मक संरचना का प्रणाली परिरूप निर्धारित किया जा सकता है।

(iii) समीपता - यह सिद्धान्त बताता है कि उन उद्दीपकों, जो आपस में निकट हैं, का समूह आपस में सम्बन्धित भागों से एक 'सम्पूर्ण स्वरूप' का अवबोध करने में सहायक हो सकता है। उदाहरणार्थ एक संगठन में कार्यरत हजारों कर्मचारियों को भौतिक निकटता के कारण एक समूह के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार किसी विशिष्ट मशीन या संयंत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों का 'एकल सम्पूर्णता के रूप में अवबोध किया जा सकता है।

(iv) समानता - इस सिद्धान्त के अनुसार उद्दीपकों में जितनी समानता होगी, उतनी ही उनका एक सामान्य समूह के रूप में अवबोध करने की प्रवृत्ति अधिक होगी। समानता यद्यपि

अवधारणात्मक रूप से समीपता से सम्बन्धित है किन्तु अधिकांश मामलों में यह समीपता से अधिक सुदृढ़ है। श्रमिकों की एक सी युनिफार्म उन्हें एक सामान्य समूह की पहचान देती है जबकि प्रत्येक श्रमिक एक अद्भुत व्यक्ति होता है। समानता का विचार अल्पसंख्यकों तथा महिला कर्मचारियों को भी एकल समूह का स्वरूप देता है।

(3) बोधात्मक स्थायित्व - स्थायित्व बोधात्मक संयोजन का एक परिष्कृत स्वरूप है। स्थायित्व के अवबोध से व्यक्ति उद्दीपकों की गतिशीलता एवं परिवर्तन योग्यता को इस ढंग से देखता है कि ये उद्दीपक वास्तविक जगत के स्थायित्व का बोध कराने लगते हैं- जिसमें वस्तुओं व व्यक्तियों के स्थायित्व एवं अपरिवर्तनशीलता का अवबोध किया जा सकता है क्योंकि अगर, उदाहरण के लिए, कार्य स्थल पर स्थायित्व नहीं होता तो व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण कार्यस्थल अव्यवस्थित एवं असंगठित हो जाता। स्थायित्व के कारण ही एक श्रमिक विविध एवं वृहद् सामग्रियों एवं यंत्रों के ढेर से कोई एक विशिष्ट उपकरण एवं सामग्री का चुनाव कर पाता है। बिना बोधात्मक स्थायित्व के एक श्रमिक के लिए वस्तुओं के इतने विविध आकारों, प्रकारों एवं रंगों में से चयन कर पाना लगभग असंभव होता है। यह सिद्धान्त बताता है कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के बावजूद, एक वस्तु का आकार, स्वरूप, रंग, चमक, डिजाइन एवं स्थान आदि अच्छे ढंग से स्थाई हो सकता है। यह उल्लेखनीय है कि बोधात्मक स्थायित्व किसी संकेत की उपेक्षा करने के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होता, वरन् यह संकेतों के प्रारूप' के प्रति प्रत्युत्तर देने के फलस्वरूप घटित होता है।

(4) बोधात्मक सुरक्षा - सह सिद्धान्त संदर्भ के विचार से भी जुड़ा है। इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति ऐसे उद्दीपकों अथवा परिस्थितिगत घटनाओं के विरुद्ध एक सुरक्षात्मक घेरा तैयार कर लेता है अथवा उन्हें पहचानने से इन्कार कर देता है जो व्यक्तिगत रूप से अथवा सांस्कृतिक रूप से अस्वीकार्य या धमकाने वाली होती हैं। इस प्रकार श्रम-प्रबन्ध अथवा सुपरवाइजर-अधीनस्थ सम्बन्धों को समझने में बोधात्मक सुरक्षा के सिद्धान्त की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बुनर एवं पोस्टमैन तथा मैकगिन्निज़ द्वारा किए गए शोध-कार्यो से बोधात्मक सुरक्षा सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हुई है। हेयर एवं ग्रुन्स द्वारा किये गये अनुसंधान से यह स्पष्ट हुआ है कि 'व्यक्ति वातावरण या संदर्भ के कुछ मतभेद वाले, धमकाने वाले अथवा अस्वीकार्य पहलुओं के अवबोध से बचने की प्रवृत्ति सीख सकते हैं।' इस अध्ययन एवं दूसरे सुसंगत प्रयोगों से यह पूर्णत: स्पष्ट हो गया है कि भावनात्मक रूप से व्याकुल कर देने वाली सूचनाओं का अवबोध तुरन्त नहीं किया जाता है। इन अध्ययनों से यह भी प्रकट हुआ कि कुछ व्यक्ति विशेषकर सुपरवाइजर एवं अधीनस्थ कुछ घटनाओं एवं स्थितियों को बिल्कुल नहीं देखते हैं अथवा वे अविरोधी रूप से उनकी गलत व्याख्या करते हैं। बोधात्मक संदर्भ एवं सुरक्षा के सिद्धान्त 'सामाजिक अवबोध से अधिक जुड़े हुए हैं

3. व्याख्या या अर्थ प्रतिपादन (Interpretation) - अवबोध क्रियाविधि का तीसरा और अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग 'अर्थ प्रतिपादित करना है। अवबोधित घटनाओं एवं अवबोधित जगत की व्याख्या के बिना सब कुछ व्यर्थ है। व्याख्या करना एक व्यक्तिमूलक एवं निर्णयात्मक प्रक्रिया

है। संगठनात्मक जीवन में अर्थ प्रतिपादित करने का कार्य कई घटकों से प्रभावित होता है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं-

(1) आरोपण - आरोपण के अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं के एवं दूसरे के व्यवहार के कारण ही व्याख्या करता है। सामाजिक अवबोध में आरोपण से तात्पर्य दूसरे व्यक्तियों तथा स्वयं के व्यवहार की व्याख्या करने में कारणों (आरोपो) की खोज करना है। उदाहरण के लिए, अपने अधीनस्थ के व्यवहार के लिए एक प्रबन्धक जिस कारण का आरोपण करता है उसका प्रभाव प्रबन्धक द्वारा अपने अधीनस्थ का अवबोधन करने तथा अधीनस्थ के प्रति व्यवहार करने पर भी पड़ता है। उल्लेखनीय है कि अधीनस्थ कर्मचारी के उत्कृष्ट निष्पादन का कारण यदि नई मशीन या इंजीनियरिंग कार्य प्रणाली है तो ऐसी स्थिति में अधीनस्थ कर्मचारी के प्रति व्यवहार एवं उसका अवबोध उससे भिन्न होगा जबकि उच्च निष्पादन का कारण अधीनस्थ योग्यता एवं स्वप्रेरणा रहा हो। अवबोध एवं व्यवहार की स्थिति इस बात को लेकर बदलती रहेगी कि कारण एवं आरोपण आन्तरिक व व्यक्तिगत हैं अथवा बाह्य व परिस्थितिगत। संक्षेप में, 'अवबोध इस बात पर गहराई से निर्भर करता है व्यवहार का कारणात्मक आरोप किस प्रकार का है। आरोपणात्मक प्रक्रिया एवं इसके प्रकार व स्वरूप के द्वारा संगठनात्मक व्यवहार गहन रूप से प्रभावित होता है।

(2) रूढ़िबद्ध करना - किसी व्यक्ति को रूढ़िबद्ध करने अथवा उसे एक ही सांचे में ढालने की प्रवृत्ति सामाजिक अवबोध की एक मुख्य समस्या है। रूढ़िबद्ध करना एक ऐसी बोधात्मक अभिवृत्ति है जिसमें अन्य व्यक्ति को किसी एक विशिष्ट श्रेणी में वर्गीकृत कर दिया जाता है। रूढिबद्ध व्यक्ति की आरोपित गुणों के सम्बन्ध में सामान्य सहमति रहती है तथा आरोपित गुणों एवं वास्तविक गुणों में विसंगति बनी रहती है। 1922 में, वाल्टर लिपमेन ने 'Stereotype' शब्द का प्रयोग अवबोध के सम्बन्ध में किया था। तब से यह शब्द बोधात्मक त्रुटियो का वर्णन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यह शब्द विशिष्ट रूप से जातीय पक्षपात दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अधिकांश रूढ़िबद्ध व्यक्तियों में अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के गुण होते हैं। रूढ़िबद्ध करने की प्रवृत्ति आज के संगठनों में सामाजिक अवबोध को गहन रूप से प्रभावित करती हैं। सामान्य रूप से रूढ़िबद्ध समूहों में प्रबन्धकों, सुपरवाइजर्स, श्रमसंघ सदस्यों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं, संयंत्र श्रमिकों आदि को शामिल किया जाता है। इसमें कई क्रियात्मक एवं कर्मचारी विशेषज्ञों को भी शामिल किया जाता है। इन श्रेणियों के सदस्यों द्वारा धारित गुणों के बारे में सभी एक मत हैं। फिर भी वास्तव में, प्रत्येक श्रेणी के सहमत गुणों तथा सदस्यों के वास्तविक गुणों में विसंगति बनी रहती है। दूसरे शब्दों में, न तो सभी इंजीनियर्स विवेकशील होते हैं और न सभी सेविवर्गीय प्रबन्धक ही कल्याण करने वाले होते हैं जो श्रमिकों को खुश रखने की कोशिश करते हों। दूसरी तरफ, वहाँ वैयक्तिक अन्तरों के अतिरिक्त इन समूहों के सदस्यों में अत्यधिक अस्थिरता व परिवर्तनशीलता पायी जाती है इसके बावजूद, दूसरे संगठन सदस्य सामान्य रूप से **आवरण अवबोध** करते हैं तथा उसी के अनुरूप व्यवहार करते हैं। एक शोध अध्ययन में यह पाया गया है कि 'व्यक्ति

इस आधार पर कि वे श्रमसंघ से अथवा प्रबन्ध समूह से पहचान रखते हैं, दूसरों का अवबोध करते हैं तथा दूसरे उनका अवबोध करते है।

(3) प्रभामण्डल प्रभाव - सामाजिक अवबोध में प्रभामण्डल प्रभाव सम्बन्धी त्रुटि रूढ़िबद्ध करने जैसी ही है। अन्तर केवल इतना-सा है कि रूढ़िबद्ध करने में व्यक्ति का अवबोध केवल **'एक श्रेणी'** के अनुसार किया जाता है जबकि प्रभामण्डल प्रभाव में व्यक्ति का अवबोध **केवल 'एक गुण**' के आधार पर किया जाता है।

प्रभामण्डल प्रभाव में, व्यक्ति का एक गुण ही मूल्यांकन एवं अवबोध का आधार बन जाता है। दूसरों का अवबोध करते समय वह गुण दूसरे लक्षणों को निरस्त कर देता है। उदाहरण के लिए, एक प्रबन्धक अपनी महिला सचिव जो कि अत्यधिक सुन्दर है, को कुशाग्र बुद्धि एवं कुशल भी मानता है जबकि वास्तव में वह निकृष्ट टाइपिस्ट एवं बिल्कुल ही मन्दबुद्धि है। जेरोम ब्रूनर तथा टेग्यूरी द्वारा किये गये एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि तीन दशाओं में प्रभामण्डल प्रभाव अधिक व्यक्त होता है-

(a) व्यवहारवादी अभिव्यक्तियों में जिन गुणों को अवबोध किया जाना है, जब वे अस्पष्ट हों;

(b) जब अवबोधक को गुणों का बहुधा साक्षात्कार न हो; एवं

(c) जब गुणों या लक्षणों के नैतिक निहितार्थ हों।

बहुत से शोध अध्ययनों में यह बताया गया है कि किस प्रकार प्रभामण्डल प्रभाव अवबोध को प्रभावित करता है। संक्षेप में, बोधात्मक प्रक्रिया में प्रभामण्डल प्रभाव से एक गुण या लक्षण अवबोधक को दूसरे गुणों के प्रति अन्धा बना देता है।

(4) प्रथम प्रभाव - कई व्यक्ति प्रथम दृष्टि में ही किसी के प्रति विशिष्ट प्रकार की छाप अपने मस्तिष्क में अंकित कर लेते हैं। वे व्यक्ति गुणों का अध्ययन किये बिना ही मन में दूसरों के प्रति उत्पन्न असर, राय या विचार के आधार पर उनका अवबोध करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, एक प्रबन्धक किसी कुरूप कर्मचारी को पहली बार, देखकर ही यह धारणा बना ले कि वह अकुशल एवं निकृष्ट निष्पादनकर्ता होगा जबकि वास्तव में वह कर्मचारी सच्चा, निष्कपट एवं गंभीर हो तो यह प्रथम प्रभाव के फलस्वरूप है। अत: प्रथम प्रभाव के आधार पर किसी के बारे में अवबोध करना उचित नहीं है।

7.7 अवबोधक के लक्षण

1. स्वयं को जान लेने से दूसरे को यथार्थ रूप में जानना सुगम हो जाता है।
2. व्यक्ति के अपने लक्षणों का उन लक्षणों पर प्रभाव पड़ता है जो वह दूसरों में देखना चाहता है।
3. व्यक्ति जो अपने को स्वीकार करते हैं, वे दूसरों के सकारात्मक पहलुओं को देखने की अधिक क्षमता प्राप्त कर लेते है।
4. दूसरों को देखने में परिशुद्धता' एक एकल कौशल नहीं है।

7.8 अबबोधी के लक्षण

1. अवबोधी की पद स्थिति उसका अवबोध करने वाले दूसरे व्यक्तियों को गहन रूप से प्रभावित करती है।
2. देखने वाले की बोधात्मक क्रियाओं को सरल बनाने के लिए अवबोधी को प्राय: कुछ श्रेणियों में वर्गीकृत कर दिया जाता है। इनमें दो सामान्य श्रेणियाँ पद स्थिति' भूमिका की हैं।
3. अवबोधी व्यक्ति के दृश्यीय गुण उसके बारे में किये गये जाने वाले अवबोध को गहन रूप से प्रभावित करते हैं।

7.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में अवबोध का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, लक्षण, प्रक्रिया, सिद्धान्त इत्यादि स्पष्ट किए गए हैं। किसी भी संगठन के लिए अवबोध का ज्ञान होना आवश्यक है। अवबोध में वातावरण स्थिति की व्याख्या व विवेचन किया जाता है। यह स्थिति किसी स्थिति की हूबहू अभिलेखन नहीं है। यह किसी स्थिति या वातावरण का छायाचित्र लेना नहीं है वरन् व्यक्तिगत ढंग से स्थिति का अर्थ लगाना है। यह वास्तविक जगत का व्यक्तिगत नजरिया है। जैसे कि एक प्रबन्धक का बोधात्मक जगत उसके अधीनस्थ कर्मचारी के बोधात्मक जगत् से पूर्णत: भिन्न होता है तथा दोनों के जगत का चित्र वास्तविक जगत से बिल्कुल विपरीत हो सकता है। संक्षेप में, अवबोध वास्तविक जगत, वातावरण व उद्दीपकों को चयनित रूप से ग्रहण करने, संगठित करने तथा अपनी भूमिका के निष्पादन एवं व्यवहार के लिए उस स्थिति की व्यक्तिगत ढंग से व्याख्या करना है।

7.10 प्रश्न

1. 'अवबोध' को परिभाषित कीजिए। इसकी प्रकृति एवं लक्षणों की विवेचना कीजिए।
2. अवबोध की प्रक्रिया एवं इसके तत्वों का विवेचन कीजिए।
3. 'अवबोध क्रियाविधि' एवं इसके निर्देशक सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।

7.11 उपयोगी पुस्तकें

1. J . Kelly - organizational Behaviour, Richard D Irwin, Homeward Inc., 1974
2. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour, Prentice Hall, New Delhi , 2007
3. Fred Luthans - Organizational Behaviour, Mc Graw Hill, 2004

इकाई-8: मनोव्रृत्ति (Instincts)

इकाई की रूपरेखा :

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 मनोवृत्ति का अर्थ

8.3 मनोवृत्ति की परिभाषा

8.4 मनोवृत्ति के लक्षण

8.5 मनोवृत्ति परिवर्तन में बाधायें

8.6 मनोवृत्ति के प्रकार

8.7 मनोवृत्ति के स्त्रोत

8.8 कार्य सम्बन्धी मनोवृत्ति के प्रकार

8.9 मनोवृत्ति के कार्य

8.10 मनोवृत्ति में परिवर्तन के ढंग

8.11 सारांश

8.12 प्रश्न

8.13 उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप -

– मनोवृत्ति का अर्थ एवं परिभाषा समझ सकेंगे।

– मनोवृत्ति के लक्षण एवं मनोवृत्ति परिवर्तन में बाधाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

– मनोवृत्ति के विभिन्न प्रकार एवं स्रोत का वर्णन कर सकेंगे।

– कार्य सम्बन्धी मनोवृत्ति के प्रकार एवं मनोवृत्ति के कार्य को समझ सकेंगे।

– मनोवृत्ति में परिवर्तन के विभिन्न ढंग का वर्णन कर पायेंगे।

8.1 प्रस्तावना

'मनोवृत्ति' व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक घटक है। संगठन में सही मनोवृत्तियों' का निर्माण करना एवं उन्हें पोषित करना प्रबन्ध कार्य का एक प्रमुख भाग है। कर्मचारियों की कार्य के प्रति अभिवृत्ति एवं रूख से उत्पादकता का सीधा सम्बन्ध है। यदि कार्य के प्रति उत्साह की भावना नहीं है तो नकारात्मकता की भावना विकसित होगी, फलत: निम्न मनोबल के कारण संगठन कार्य कुशलता, गुणवत्ता व कार्य सन्तुष्टि भी प्रभावित होगी। उच्च मनोबल, कार्य निष्ठा, संगठन भक्ति, ईमानदारी, निष्कपटता, मैत्री व सहयोग की भावना, लक्ष्य छूने की उत्कंठा, स्वामी के प्रति वफादारी आदि श्रेष्ठ मनोवृत्तियों का निर्माण करके सुगठन एक आदर्श 'कार्य संस्कृति' को जन्म दे सकता है। वैयक्तिक व्यवहार को निर्देशित

करने, लक्ष्य की ओर अभिप्रेरित करने, आत्मविश्वास जगाने एवं कार्य उत्साह बढ़ाने के लिए सकारात्मक मनोवृत्तियों को जन्म देना आवश्यक होता है।

8.2 मनोवृत्ति का अर्थ

मनोवृत्ति' भावना एवं विश्वास का मिश्रण है जो एक व्यक्ति विशिष्ट विचारों, स्थिति अथवा अन्य व्यक्तियों के बारे में रखता है। मनोवृत्ति भावनाओं, विचारो एवं मूल्यांकनात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है।

8.3 मनोवृत्ति की परिभाषा

मनोवृति को अनेक विद्वानों ने निम्न प्रकार परिभाषित किया है।

जोसेफ रिट्ज के शब्दों में, "मनोवृत्ति शब्द किसी वस्तु के प्रति किसी विशिष्ट ढंग से अनुभव एवं व्यवहार करने की एक सत्त प्रवृति को दर्शाता है।"

स्टेफन पी. रोबिन्स के अनुसार "मनोवृत्तियाँ वस्तुओं व्यक्तियों अथवा घटनाओं के सम्बन्ध में अनुकूल अथवा प्रतिकूल मूल्यांकनात्मक कथन हैं।"

एन.एल.मन के अनुसार, "मनोवृत्तियाँ हमारे वातावरण के पहलूओं के बारे में सीखी हुई पूर्ववृत्तियॉ या झुकाव है। वे निश्चित व्यक्तियों, सेवा अथवा संस्थाओं के प्रति सकारात्मक या नकारात्मक रूप से निर्देशित होती हैं।"

ब्लम एंव नेलर के शब्दों में, "मनोवृत्ति से हमारा आशय वस्तुओं विचारों एवं व्यक्तियों के प्रति एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के विश्वासों भावनाओं तथा क्रिया प्रवृत्तियों से है। प्राय: व्यक्तियों के मस्तिष्कों में वस्तुओं, विचारों व मनुष्यों का संसर्ग व साहचर्य बन जाता है, फलस्वरूप मनोवृत्तियाँ बहुआयामी एवं जटिल हो जाती है।"

गोर्डन ऑलपोर्ट के शब्दों में, "मनोवृत्ति एक मानसिक एवं तंत्रिकीय तत्परता की स्थिति है जो अनुभव से संगठित होती है तथा यह समस्त वस्तुओं एवं स्थितियों, जिनसे यह जुडी होती है, के प्रति व्यक्ति के प्रत्युत्तर पर निर्देशात्मक एवं गतिशील प्रभाव डालती है।"

क्रेच एवं क्रचफील्ड के शब्दों में, "मनोवृत्ति व्यक्ति की दुनिया के कुछ पहलुओं के सम्बन्ध में अभिप्रेरणा, भावनात्मक, बोधात्मक एवं विचारात्मक प्रक्रियाओं का सत्त संयोजन है।"

काज एवं स्काटलैंड के अनुसार मनोवृत्ति "किसी वस्तु या चिह्न का एक निश्चित प्रकार से मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति या पूर्ण-झुकाव हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मनोवृत्ति एक प्रवृत्ति, मस्तिष्क का झुकाव अथवा किसी सामाजिक वस्तु, घटना या विचार का प्रत्युत्तर देने की तत्परता है। यह "प्रत्युत्तर देने की तत्परता है। यह 'प्रत्युत्तर देने की प्रवृत्ति' ' अथवा कोई 'कार्यवाही के लिए झुकाव या चित्तवृत्ति है। क्रियात्मक दृष्टि से, मनोवृत्ति का मूल्यांकनात्मक पहलू महत्वपूर्ण है।

8.4 मनोवृत्ति के लक्षण

मनोवृत्ति अवधारणा की प्रकृति को इसके निम्न लक्षणों से समझा जा सकता है -

1. मनोवृत्ति व्यक्ति की मानसिक अवस्था, मनोवैज्ञानिक जगत से सम्बन्धित है।

2. मनोवृत्ति मनुष्य के ज्ञान, बोध एवं व्यवहार से भी सम्बन्ध रखता है।

3. यह मूल्यांकनात्मक चित्तवृत्ति है जिसमें किसी भी घटना, विचार या व्यक्ति के बारे में अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय लिया जाता है।

4. मनोवृत्ति तथ्यों के निश्चित समूह के प्रति प्रतिक्रिया प्रकट करने का झुकाव है।

5. मनोवृत्ति सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। यह व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करने वाला प्रमुख घटक है।

6. यह निश्चित उद्दीपकों के प्रति बढ़ी हुई प्रतिक्रियाशीलता है।

7. मनोवृत्ति भावनात्मक एवं अभिप्रेरणात्मक तत्वों से सराबोर होती है।

8. मनोवृत्ति व्यक्ति की भावनाएँ एवं विश्वास को दर्शाती है।

9. इसकी दिशा दूसरे व्यक्तियों, चीजों विचारों अथवा घटनाओं की ओर होती है।

10. इसका परिणाम एक निश्चित प्रकार का व्यवहार या क्रिया होती है।

11. मनोवृत्तियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। इनकी मात्रा अथवा बल को प्रतिकूलता एवं अनुकूलता के सात्तयक्र पर मापा जा सकता है।

12. मनोवृत्तियाँ लम्बे समय तक बनी रह सकती हैं।

13. मनोवृत्ति न केवल व्यापक है, वरन् सर्वव्याप्त घटना भी है। यह व्यक्ति के अपने कई विषयों से सम्बन्धित होती है। समस्त व्यक्तियों, चाहे, वे किसी भी बौद्धिक स्तर अथवा सामाजिक स्थिति के हों, की विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं।

14. मनोवृत्ति के तीन प्रमुख तत्व हैं - संज्ञानात्मक, भावात्मक एवं व्यवहारात्मक।

15. मनोवृत्ति का व्यक्ति की आवश्यकताओं से भी सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए कार्य एवं कार्य वातावरण के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ उसकी अनेक आवश्यकताओं जैसे सुरक्षा, उपलब्धि, मान्यता, सन्तुष्टि आदि की पूर्ति कर सकती हैं फिल्मों के प्रति मनोवृत्ति व्यक्ति की कला एवं मनोरंजन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है।

8.5 मनोवृत्ति परिवर्तन में बाधायें

कर्मचारियों की सभी मनोवृत्तियाँ श्रेष्ठ नहीं होती हैं। अनेक ऋणात्मक मनोवृत्तियों से संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधा पहुँचती है, उत्पादन अवरूद्ध हो जाता है, वातावरण में वैमनस्य एवं मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। अत: प्रबन्धकों को अपने कर्मचारियों की घातक मनोवृत्तियों में सुधार करना आवश्यक होता है। किन्तु व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाने में अनेक बाधायें एवं कठिनाइयाँ आती हैं। कुछ प्रमुख बाधायें एवं कठिनाइयाँ आती हैं। कुछ प्रमुख बाधायें इस प्रकार हैं।

1. मनोवृत्ति एवं व्यवहार में असंगति - व्यक्ति सदैव यह चाहते हैं कि दूसरों तथा वस्तुओं के बारे में उनकी मनोवृत्तियाँ एवं व्यवहार सुसंगत एवं सन्तुलित बना रहे। जब मनोवृत्ति एवं व्यवहार में सुसंगति नहीं होती है तो व्यक्ति आन्तरिक रूप से अपने को पुरस्कृत करते हुए असंगति को कम करने का प्रयास करते है। **लियो फेस्टिंगर** ने मनोवृत्ति सुसंगति के सम्बन्ध में एक विचारधारा का निर्माण किया है जिसके अनुसार व्यक्ति जैसे ही उनके व्यवहार एवं

मनोवृत्ति में कोई वैषम्य या, असंगति उत्पन्न हो जाती है तो वे इस बेमेल से उत्पन्न तनाव एवं बैचेनी का अनुभव करने लगते हैं। यह भावना उन्हें इस असंगति को दूर करने के लिए प्रेरित करती है। कई बार वे अपनी मनोवृत्ति या व्यवहार को बदलने के बजाय अपने मन को किसी तरह समझाने लगते हैं। वे असंगति को किसी औचित्य या विवेक का आधार लेकर कम करने का प्रयास करते हैं।

2. **पूर्व वचनबद्धता -** मनोवृत्ति के परिवर्तन में एक बाधक घटक व्यक्ति द्वारा किये गए पूर्व वादे या प्रतिज्ञायें हैं। कई बार व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रकार का व्यवहार या कार्यवाही करने की वचनबद्धता से बंध जाता है ओर इस कारण वह अपनी मनोवृत्ति को बदलना नहीं चाहता।

3. **अपर्याप्त सूचना -** कभी-कभी व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने का कोई कारण नहीं मानते है। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि अधिकारी को अपने कर्मचारी की ऋणात्मक मनोवृति पसन्द न हो किन्तु वह कर्मचारी अपने व्यवहार से संतुष्ट हो तथा अपनी मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन न करना चाहे। जब तक वह अधिकारी अपने अधीनस्थ को यह नहीं समझायेगा कि ऋणात्मक मनोवृत्ति उसके कैरियर की प्रगति अथवा पदोन्नति में बाधक हो सकती है, अधीनस्थ कर्मचारी अपनी मनोवृत्ति में कोई बदलाव नहीं करेगा।

8.6 मनोवृत्ति के प्रकार

मनोवृत्ति की रचना एक जटिल प्रक्रिया है। यह विचारों, भावनाओं एवं व्यवहार से जुडी है। दूसरे शब्दों में, मनोवृत्ति के तीन प्रमुख अंग है। जिनका वर्णन निम्न प्रकार है -

1. **संज्ञानात्मक प्रकार -** मनोवृत्ति के इस प्रकार में व्यक्ति स्थिति के बारे में ज्ञान प्राप्त करके यह निर्णय ले सकता है कोई चीज अन्य से बेहतर हैं यह घटक व्यक्ति द्वारा किसी चीज का अवबोध करके उसे 'जानने' से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत यह मूल्य कथन' जैसे 'भेदभाव करना गलत है', शामिल है। इसमें व्यक्ति का बुद्धि तत्व, ' विवेक सक्रिय होता है।

2. **भावनात्मक प्रकार -** इसके अन्तर्गत व्यक्ति किसी स्थिति के प्रति अपनी भावनाओं एवं संवेगों का प्रदर्शन करता है। यह भाव प्रधान घटक है जिसमें व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के निर्माण में मनोभावों, आवेशों, रागात्मकता, आवेगों जैसे तत्वों से निर्देशित होता है। इसमें व्यक्ति का हृदय तत्व' प्रभावी होता है। यह घटक मनोवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है।

3. **व्यवहारात्मक प्रकार -** मनोवृत्ति के व्यवहारात्मक घटक में व्यक्ति किसी वस्तु या मानव के प्रति एक निश्चित ढंग से व्यवहार करने का अभिप्राय रखता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति यह कहे कि मैं इस कर्मचारी की बुरी आदतों के कारण इसके साथ काम करना पसन्द नहीं करूँगा। यह घटक मनोवृति के निर्णयात्मक एवं मूल्याकनात्मक पहलू पर बल देता है। यह एक **साभिप्राय** घटक है जो यह दर्शाता है कि एक व्यक्ति किसी स्थिति में कैसे कार्य करने की आशा या इरादा रखता है।

8.7 मनोवृत्ति के स्त्रोत

मनोवृत्तियाँ जन्मजात नहीं, वरन् अर्जित व सीखी हुई होती हैं। मनोवृत्ति के निर्माण के लिए व्याक्ति अनेक स्रोतों से आधार सामग्री, विचार व सूचनायें प्राप्त करता है। इनके कुछ प्रमुख स्रोत निम्न प्रकार हैं।

1. **वैयक्तिक अनुभव -** व्यक्ति अपने दैनिक जीवन, कार्य स्थल, सामाजिक व्यवहार आदि में होने वाले अपने अच्छे-बुरे प्रत्यक्ष अनुभवों से अपनी मनोवृत्ति का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए, यदि संगठन में व्यक्ति का कार्य ऊब से भरा व आवृत्तिमूलक है, पारिश्रमिक कम है। सुपरवाइजर का व्यवहार रूखा व पक्षपातपूर्ण है, सह-कर्मचारी सहयोगी नहीं है तो वह संस्था के प्रति नकारात्मक मनोवृत्ति का निर्माण कर लेगा।
2. **सम्बद्ध तत्व -** व्यक्ति अपने पुराने अनुभवों, घटनाओं एवं आचरण को नये के साथ सम्बद्ध करके भी मनोवृत्ति का निर्माण करता है। यहाँ घटनाओं के साहचर्य एवं संयुक्तिकरण के फलस्वरूप किसी विशिष्ट मनोवृत्ति का निर्माण हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई नया श्रमिक अधिकांश समय किसी ऐसे पुराने श्रमिक के साथ रहता है जिसके प्रति सुपरवाइजर का सकारात्मक दृष्टिकोण है तो इस सह-सम्बन्ध एवं साहचर्य के कारण सुपरवाइजर उस नये श्रमिक के प्रति भी सकारात्मक व अच्छी मनोवृत्ति विकसित कर लेगा। यह सयुकि संयुकिाकरण का प्रभाव है।
3. **वातावरणीय अनुकूलन -** मनोवृत्ति के निर्माण में व्यक्ति द्वारा सीखने की क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान होता है। व्यक्ति अपने व्यवहार के परिणामों से बहुत कुछ सीख कर मनोवृत्तियों का निर्माण करता है। व्यक्ति किसी उद्दीपक के प्रति जो प्रतिक्रिया करता है उसके परिणाम सुखद लाभप्रद होता है तो व्यक्ति उस प्रकार के व्यवहार को दोहाराता है। किन्तु जिस प्रतिक्रिया का परिणाम अच्छा नहीं होता, वह उसकी पुररूक्ति नहीं करता। इस प्रकार के अनुकूलन से वह विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति का निर्माण करता है।
4. **सामाजिक अधिगम -** मनोवृत्तियाँ समाज से भी सीखी जाती हैं। व्यक्ति अपने घर-परिवार, मित्र मण्डली, शिक्षक, अग्रज, मॉडल्स क्लब, संस्थायें आदि से निरन्तर अर्न्तव्यवहार करके अपने मन-मस्तिष्क व विचारों का निर्माण करता है। इसी प्रकार व्यक्ति अपने अड़ोस-पड़ोस, साथी कर्मचारियों आदि से सीखकर मनोवृत्ति का निर्माण करता है।
5. **संचार माध्यम -** जन संचार के विविध माध्यम जैसे रेडियो, टेलिविजन, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ आदि से भी व्यक्ति विचारों को ग्रहण करके मनोवृत्ति का निर्माण करता है। इन संचार माध्यमों से प्राप्त सूचनाओं से व्यक्ति या ता अपनी विद्यमान मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाता है अथवा नई मनोवृत्तियों का निर्माण करता है।
6. **शिक्षण संस्थाएँ -** व्यक्ति शिक्षा संस्थाओं एवं अपने नियमित अध्ययन से भी अनेक सूचनायें, विचार, मत-सम्मतियाँ आदि ग्रहण करके दृष्टिकोण का निर्माण करता है।
7. **संगठनात्मक घटक -** एक व्यक्ति जिस संस्था में कार्य करता है वहाँ का कार्य वातावरण, नीतियॉ, व्यवहार, अनौपचारिक समूह, श्रम सेंध, प्रबन्धकीय दृष्टिकोण, कर्मचारी सोच आदि

कई घटक व्यक्ति की मनोवृत्ति के निर्माण पर प्रभाव डालते हैं। इनसे प्रेरित होकर वह अपनी अभिवृत्ति बनाता है।

8. **आर्थिक घटक -** समाज में प्रचलित आर्थिक दशायें जैसे मूल्य स्तर, बचत व विनियोग सम्बन्धी नीतियाँ, आर्थिक संकट, वित्तीय स्थिति, देश में उत्पादन, उपभोग व आय का स्तर आदि घटक भी मनोवृत्ति के निर्माण एवं परिवर्तन पर प्रभाव डालते हैं।

9. **राजनीतिक समाज -** राजनीति मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। राजनीतिक दलों की क्रियायें, विचारधारायें, राजनीतिक स्थायित्व, दबाव समूह, विचार मंच, नेतृत्व, हित समूह आदि घटक भी व्यक्ति की मनोवृत्ति को दिशा देते है।

8.8 कार्य सम्बन्धी मनोवृत्ति के प्रकार

व्यक्ति की अनेक प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती है। किन्तु संगठनात्मक व्यवहार में व्यक्ति की तीन प्रकार की मनोवृत्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। ये हैं - कार्य सन्तुष्ट, कार्य आवेष्टन तथा संगठनात्मक प्रतिबद्धता इनका वर्णन निम्न प्रकार है -

1. **कार्य सन्तुष्टि -** कार्य सन्तुष्टि व्यक्ति की अपने कार्य के प्रति एक सामान्य अभिवृत्ति हैं। जब व्यक्ति की कार्य सन्तुष्टि का स्तर ऊँचा होता है तो कार्य के प्रति उसकी मनोवृत्ति सकारात्मक होती हैं वास्तव में. जब कर्मचारी अभिवृत्ति की बात होती है तो इसका तात्पर्य उसकी कार्य सन्तुष्ट से ही होता है। इस प्रकार मनोवृत्ति एक अर्थ में कार्य सन्तुष्टियाँ असन्तुष्टि का ही द्योतक हो गया है। कार्य सन्तुष्टि कर्मचारी के कार्य निष्पादन का एक प्रमुख घटक है। शोध कार्य से यह बात स्पष्ट हो गई है कि कर्मचारी की कार्य सन्तुष्टी उसके वैयक्तिक घटकों जैसे आवश्यकतायें व अपेक्षायें, आदतें व स्वभाव तथा इनके अतिरिक्त समूह व संगठनात्मक तत्वों जैसे सह-कर्मचारियों से सम्बन्ध, कार्यदशायें कार्य नीतियाँ, वेतन, सुपरवाइजर का व्यवहार आदि से भी प्रभावित होती है।

2. **कार्य आवेष्टन -** संगठनात्मक व्यवहार में कार्य आवेष्टन एक नई अवधारणा है। इसका तात्पर्य कर्मचारी का अपने कार्य से मनोवैज्ञानिक रूप से एकाकार होना है तथा स्व-मूल्यांकन में अपने 'अवबोधित निष्पादन स्तर' को महत्व देना है। जिन कर्मचारियों के कार्य आवेष्टन का स्तर ऊँचा होता है वे अपने द्वारा किये जाने वो कार्य के साथ सुद्दढ़ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं तथा अपने कार्य की सतर्कतापूर्वक चिन्ता करते हैं। ऐसे कर्मचारियों की अनुपस्थिति दर एवं कार्य छोड़ने की दर बहुत कम होती है। उच्च कार्य आवेष्टन वाले कर्मचारियों की कार्य संतुष्टि एवं अभिप्रेरणा का स्रोत आन्तरिक होता है। वे अपने कार्य से ही सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं तथा अपने कार्य को प्रभावी ढंग से निष्पादित करने के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सीखने की इच्छा रखते हैं। दूसरी ओर, निम्न कार्य आवेष्टन वाले कर्मचारी अपने कार्य को केवल अपने रोजगार एवं आय प्राप्ति का साधन मानते हैं। रिचर्ड स्टियर्स ने अपने शोध कार्य से दर्शाया है कि भावना तथा निर्णयन में भागीदारी के साथ सुद्दढ़ होती है।

3. **संगठनात्मक प्रतिबद्धता -** यहा एक ऐसी अवस्था है जिसमें एक व्यक्ति अपनी संस्था तथा इसके लक्ष्यो के साथ स्वयं को एकाकार करके सुद्दढ़ तादात्मय स्थापित कर लेता है तथा संगठन में अपनी सदस्यता बनाये रखना चाहता है। इस प्रकार कार्य आवेष्टन में व्यक्ति कार्य के साथ

अपनी पहचान एवं अभज्ञान बनाता है जबकि संगठनात्मक प्रतिबद्धता में वह संगठन के साथ अपना तादात्म्य जोड़ता है। शोध अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि कार्य सन्तुष्ट की अपेक्षा संगठनात्मक प्रतिबद्धता से श्रमिक परिवर्तन की दर का अधिक श्रेष्ठ ढंग से मापन किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि संगठनात्मक प्रतिबद्धता कुल मिलाकर कर्मचारी का संगठन के प्रति वैश्विक एवं अधिक स्थायी प्रत्युत्तर है। यदि कोई कर्मचारी अपने कार्य से असंतुष्ट है तो वह समझ सकता है कि यह एक अस्थायी स्थिति है किन्तु सम्पूर्ण संगठनात्मक निष्ठा कर्मचारी को संगठन का सच्चा सदस्य बनाती है तथा वह छोटी-छोटी असन्तुष्टियों पर ध्यान नहीं देता। ऐसे कर्मचारी जो अपने कार्य से आवेष्टित होते हैं तथा संस्था के प्रति निष्ठा रखते हैं, उनकी आदतें विश्वसनीय होती हैं, वे संगठन में लम्बे समय तक रहना चाहते है तथा वे सदैव अपने निष्पादन में सुधार की ओर ध्यान देते हैं।

कर्मचारियों के साथ अच्छा व्यवहार करने, उन्हें अच्छा वेतन व सुविधायें देने, सेवा व कार्य सुरक्षा उपलब्ध कराने, संगठन के प्रबन्ध निर्णयों में हिस्सा देने तथा कार्य संरचना में उनके सुझावों व समस्याओं पर ध्यान देने से कर्मचारियों की कार्य सम्बन्धी इन तीनों मनोवृत्तियों में सुधार आता है।

8.9 मनोवृत्ति के कार्य

हम विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्तियों का निर्माण क्यों करते हैं, यह प्रश्न विचारणीय है। वस्तुत: मनोवृत्तियाँ दूसरे व्यक्तियों के प्रति अर्थपूर्ण ढंग से प्रतिक्रिया व्यक्त करने में सहायक होती हैं। मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के लिए निम्न प्रकार से सहायक होती हैं अर्थात् इनके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

1. **उपयोगितावाद -** मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के लिए कई लाभ प्राप्त करने एवं दण्ड-नुकसान आदि को दूर करने में सहायक होती हैं। ये व्यक्ति के अपने लक्ष्यों, इरादों व हितों की पूर्ति में सहायक होती हैं। एक श्रमिक जानता है कि जब वह अपने अधिकारी के प्रति ऋणात्मक मनोवृत्ति अभिव्यक्त करता है तो उसके सह कर्मचारी उस पर ध्यान देते हैं तथा उसके प्रति सहानुभूति की भावना रखते हैं। लेकिन जब वह सकारात्मक मनोवृत्ति दर्शाता है तो उसकी उपेक्षा की जाती है अथवा उसे दण्डित किया जाता है। इस प्रकार ऋणात्मक मनोवृत्ति स्वीकृति, पुरस्कार या लाभ प्राप्त करने में तथा दण्ड व अस्वीकृति को दूर करने में सहायक होती है। मनोवृत्ति से व्यक्ति अपने हितों व स्वार्थो की रक्षा कर सकता है।
2. **अहम् सुरक्षा -** व्यक्ति अपनी स्वरचीत धारणाओं, छवियों की रक्षा के लिए भी मनोवृत्तियों का निर्माण करके अपने अहम् की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए, सामान्य वर्ग के कर्मचारी अपने रोजगार व पदोन्नति में आरक्षित, महिला एवं अल्पसंख्यक वर्ग से असुरक्षा व हानि की आशंका का अनुभव कर सकते हैं। फलत: सामान्य वर्ग के कर्मचारी अन्य वर्गो के प्रति दुर्भावना व प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार अहम् रक्षा की मनोवृत्ति का निर्माण अपराध अथवा धमकी का सामना करने के लिए किया जाता है।
3. **मूल्यों की अभिव्यक्ति -** व्यक्ति की मनोवृत्ति उसकी मूल्य प्रणाली को भी दर्शाती हैं मूल्यों को प्रकट करने वाली मनोवृत्तियाँ व्यक्ति की स्व-धारणा से गहन रूप से जुड़ी होती हैं। एक

अधिकारी जो स्वतन्त्रता को महत्व देता है, वह सत्ता के विकेन्द्रीकरण, लोचपूर्ण कार्य आदि के प्रति सकारात्मक मनोवृत्ति का निर्माण करेगा।

4. **ज्ञान प्रकार्य -** मनोवृत्ति प्राय: ज्ञान का स्थान ले लेती है। ज्ञान के अभाव में हम अवबोधित व्यक्ति या वस्तु को संगठित करने एवं उससे कोई अर्थ निकालने के लिए मनोवृत्ति का प्रयोग करते हैं। जब हमें किसी व्यक्ति के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है तो हम व्यक्ति का मूल्यांकन करने के लिए रूढ़िबद्ध मनोवृत्ति का प्रयोग करते हैं। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति रूढ़ियों, धारणाओं, अभिवृत्तियों का प्रयोग करने लगता है।

प्रबन्धकों को कर्मचारियों की मनोवृत्तियों की जानकारी होना कई दृष्टियों से जरूरी है। इससे वे यह जान सकते हैं कि कोई व्यक्ति व्यवहार कैसे कर सकता है? उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की पक्षपात करने की मनोवृत्ति है तो यह माना जा सकता है कि वह किसी का भी मूल्यांकन करने में निष्पक्ष नहीं रह सकेगा। प्रबन्धक कर्मचारियों की मनोवृत्तियों का अध्ययन करके यह भी जान सकते हैं कि कर्मचारी ने उस विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति का विकास क्यों किया है? प्रबन्धक को दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों को बदलने में भी इससे सहायता मिलती है। प्रबन्धक उन दशाओं में बदलाव ला सकता है जो उस विशेष प्रकार की मनोवृत्ति को बनाये रखने में सहायक होती हैं।

8.10 मनोवृत्ति में परिवर्तन के ढंग

अनेक बार मनोवृत्ति में परिवर्तन व्यक्ति के स्वयं के हितों व लक्ष्यों की पूर्ति तथा स्वस्थ संगठनात्मक व्यवहार में सहायक होता है। मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने के कुछ प्रमुख तरीके निम्न प्रकार है :

1. **नई सूचनायें उपलब्ध करवाना -** कर्मचारियों को अपने कार्य, कार्य करने के तरीकों, स्वस्थ वातावरण, प्रबन्ध नीतियों, सेविवर्गीय सिद्धान्तों, उद्योग-कर्मचारी सम्बन्धों, मानवीय संवेदनाओं आदि के बारे में नई जानकारी प्रदान करके कर्मचारियों की ऋणात्मक एवं प्रतिकूल मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। अक्सर यह देखा जाता है कि कर्मचारियों को प्रबन्ध दर्शन, लक्षण व प्रशासकों के दृष्टिकोण की सही जानकारी न होने के कारण वे श्रमसंधों के पक्ष में हो जाते है। तथा प्रबन्ध नीतियों का विरोध करने लगते है। किन्तु जैसे ही उनको यह जानकारी होती है कि प्रबन्धक श्रमिकों के हितो एवं कल्याण के लिए कितने प्रयासरत हैं, श्रमिक अपनी प्रबन्ध-विरोधी मनोवृत्ति में बदलाव ला सकते हैं।

2. **डर एवं चेतावनी -** डर एवं चेतावनी के द्वारा भी कर्मचारियों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है, यद्यपि यह परिवर्तन डर की मात्रा पर निर्भर करता है। छोटी-मोटी धमकियों व झिडकियों से कर्मचारी अपनी मनोवृत्ति में बदलाव नहीं लाते। कर्मचारियों में डर उत्पन्न करने के मध्यम-स्तरीय तरीकों से वे स्थिति के प्रति जागरूक हो जाते हैं। किन्तु परिवर्तन के लिए बहुत अधिक धमकाने या डर उत्पन्न करने की नीति प्रभावी नहीं होती 'क्योकि इससे कर्मचारियों में प्रतिक्रिया जन्म लेती है, कर्मचारी कार्य-विरोधी हो जाते है। तथा वे प्रबन्धकों के निर्देशों की उपेक्षा करने लगते हैं। बदलाव के लिए अत्यधिक डर व चेतावनी का उपयोग उन्हें जिद्दी बना देता है तथा वे परिवर्तन को अस्वीकार कर देते है।

3. **मित्रों व सह-कर्मियों का प्रभाव -** कार्य स्थल पर सह-कर्मियों एवं मित्रों की प्रेरणा, प्रोत्साहन, अनुनय, विश्वासोत्पादक कथन, मित्रवत् परामर्श व मार्गदर्शन से भी व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित होते हैं। व्यक्ति दूसरों की विश्वसनीयता से प्रभावित होकर भी अपनी आपत्तिजनक मनोवृत्तियों में सुधार लाता है।
4. **सहयोजनकारी दृष्टिकोण -** इस दृष्टिकोण के अनुसार असंतुष्ट कर्मचारियों को स्थिति के साथ जोड़कर चीजों का सुधार करने में उन्हें शामिल किया जाता है। यह एक प्रकार से कर्मचारियों को कार्य वातावरण में सहभागी बनाकर उन्हें नवीन एवं परिवर्तनकारी योजनाओं का हिस्सा बनाकर उनकी विरोधी व नकारात्मक मनोवृत्ति में परिर्वतन लाया जाता है।
5. **शिक्षा -** व्यक्तियों को कार्यकारी जीवन के सिद्धान्तों, प्रबन्धकीय नियम एवं संगठनात्मक व्यवहार के न्यायोचित की सामान्य शिक्षा प्रदान करके भी कर्मचारियों को अपना असहयोगी दृष्टिकोण व मनोवृत्तियों को बदलने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

8.11 सारांश

मनोवृत्ति व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक घटक है जो अनेक प्रकार के तत्वों के मिलने से बनता है। मनोवृत्ति तीन प्रकार के प्रश्नों का उत्तर किसी व्यक्ति के बारे में देती है (1) भावनात्मक प्रश्न (2) व्यवहारात्मक प्रश्न, तथा (3) संज्ञानात्मक प्रश्न। प्रस्तुत इकाई में स्पष्ट किया गया है कि मनोवृत्ति के स्त्रोत, कार्य, लक्षण क्या होते हैं तथा मनोवृत्ति में किस प्रकार से परिवर्तन आते हैं।

8.12 प्रश्न

1. मनोवृत्ति को परिभाषित कीजिए। इसके लक्षण बताइए।
2. मनोवृत्ति के प्रकारों का वर्णन कीजिए। मनोवृत्ति के निर्माण के प्रमुख स्त्रोत क्या हैं?
3. कार्य सम्बन्धी मनोवृत्ति के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. मनोवृत्ति के कार्य क्या हैं? मनोवृत्ति परिवर्तन में आने वाली बाधायें कौन-सी हैं? मनोवृत्ति में परिवर्तन के लिए कौन से तरीके अपनाये जा सकते हैं?
5. मनोवृत्ति किस प्रकार से आपके कार्य तथा व्यवहार को प्रभावित करती है?

8.13 उपयोगी पुस्तकें

1. J . Kelly - organizational Behaviour, Richard D Irwin, Homeward Inc., 1974
2. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour, Prentice Hall, New Delhi , 2007
3. Fred Luthans - Organizational Behaviour, Mc Graw Hill, 2004

इकाई-9: व्यक्तित्व (Personality)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 व्यक्तित्व का अर्थ

9.2 व्यक्तित्व की परिभाषा

9.3 व्यक्तित्व का विकास

9.4 व्यक्तित्व के लक्षण

9.5 व्यक्तित्व के आयाम एवं तत्व

9.6 व्यक्तित्व विकास की अवस्था

9.7 व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारक तत्व

9.8 व्यक्तित्व संकलन

9.9 सारांश

9.10 प्रश्न

9.11 उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप -

- व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषा समझ सकेंगे।
- व्यक्तित्व के विकास एवं लक्षण की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- व्यक्तित्व के आयाम एवं तत्व का वर्णन कर सकेंगे।
- व्यक्तित्व विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कर पायेंगे।
- व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारक तत्व एवं व्यक्तित्व संकलन के बारे में वर्णन कर पायेंगे।

9.1 व्यक्तित्व का अर्थ

व्यक्तित्व का अर्थ स्पष्टीकरण एक विवादस्पद विषय है। वस्तुत: व्यक्तित्व शब्द का उदगम लैटिन भाषा के शब्द 'Per senare' से हुआ है जिसका अर्थ'के माध्यम से बोलना (to speak through) है। यह शब्द प्राचीन ग्रीस एवं रोम में अभिनेताओं द्वारा पहने जाने वाले मुखौटों के लिए प्रयोग में लाया जाता था।

व्यक्तित्व से आशय यह है कि लोग दूसरे के प्रति किस प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं वे स्वंय अपने को किस प्रकार समझते और देखते हैं और आन्तरिक एवं बाह्य परिभाष्य विशेषताओं का प्रतिमान क्या है?

9.2 व्यक्तित्व की परिभाषा

वैलेन्टीन का मत है कि व्यक्तित्व का सामान्य तात्पर्य उस भूमिका से है जो एक व्यक्ति दूसरों के सामने प्रदर्शित करता है। किन्तु दूसरी ओर व्यक्तित्व की शैक्षणिक परिभाषाएँ व्यक्ति

से अधिक सम्बन्धित हैं उसकी भूमिका से नहीं। वस्तुत: व्यक्तित्व का सही अर्थ व्यक्ति के गुणों एंव भूमिका दोनों से' जुड़ा है।

गोर्डन आलपोर्ट के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनो-भौतिक प्रणालियों का गतिशील संगठन है जो उसके वातावरण से उसके विलक्षण समायोजन को निर्धारित करती है।"

डशिल के अनुसार, "व्यक्तित्व से आशय सम्पूर्ण रूप में व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाओं की उस ढंग की व्यवस्था है, जिस ढंग से वह सामाजिक प्राणियों द्वारा आंकी जाती है। यह व्यक्ति के व्यवहारों का समायोजित संकलन है जो व्यक्ति अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिए करता हैं" **फलोयड रच** के अनुसार मानव व्यक्तित्व में निम्नलिखित सम्मिलित है:-

1. बाह्य प्रतीति एवं व्यवहार अथवा सामाजिक उद्दीपन मूल्य
2. स्थायी एकीकरण शक्ति के रूप में स्व' की आन्तरिक चेतना
3. आन्तरिक व बाह्य मापनीय लक्षणों का विशिष्ट प्रारूप

क्लुकोहन एवं मुरे का मत है कि "कुछ अंश तक तो व्यक्ति का व्यक्तित्व सबके समान होता है कुछ अंश तक वह कुछ दूसरे लोगों से मिलता है तथा कुछ अंश तक किसी से भी नहीं मिलता है।"

निष्कर्ष - व्यक्तित्व न केवल विद्यमान होने की स्थिति और न केवल कुछ क्रियाओं या विशिष्टताओं का संग्रह है बल्कि इन सब की एक ही इकाई है। व्यक्तित्व से अभिप्राय व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक प्रतिकृति से है जिसकी सहायता से वह अपनी क्रियाओं को सम्पन्न करता है। व्यक्तित्व व्यक्ति की शारीरिक प्रतिकृति, मानसिक समन्वय एवं शारीरिक आन्तरिक क्रियाओं के कौशल के फलस्वरूप एक व्यापक विशिष्टता है।

9.3 व्यक्तित्व का विकास

मानवीय व्यवहार की समझ के महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में व्यक्तित्व का विकास वर्षों से अध्ययन एवं शोधन का प्रमुख विषय रहा है। वास्तव में विकास अवधारणा व्यक्तित्व सिद्धान्त का ही एक रूप है जो कि शोध अभिमुखी है। प्राचीन मनोविश्लेषकों के विपरीत जो वंश परम्परा, वातावरण, परिपक्वता तथा सीखने को ही व्यक्तित्व में सम्मिलित करते हैं, विकासात्मक मनोविज्ञान का मत है कि इसमें मनुष्य के मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक अर्न्तक्रिया भाग सम्मिलित हैं। अत: वंशानुगतता वातावरण, परिपक्वता तथा सीखना जैसे घटक मानवीय व्यक्तित्व में योगदान देते हैं। अधिकांश मनोविश्लेषकों का मत है कि व्यक्ति अधिकाधिक आवश्यकताओं एवं योग्यताओं को अपने में जोड़ते हु ए परिपक्वता की प्राप्ति करता है। व्यक्ति अपने निजी जगत के विभिन्न अंगों में विकास करता है। जैसे-जैसे वह परिपक्व होता जाता है, अधिकाधिक अंगों, आवश्यकताओं एवं योग्यताओं को अपने में जोड़ता है वैसे-वैसे इन नवीन अंगों के समावेश से व्यक्ति के निजी जगत में भी फैलाव आता है।

9.4 व्यक्तित्व के लक्षण

1. व्यक्तित्व सम्पूर्ण व्यक्ति के विचार का सूक्ष्म परिप्रेक्ष्य है।
2. व्यक्ति अखंड एवं जुडा हुआ होता है यह भिन्नभिन्न भागों की श्रृंखला नहीं है।
3. प्रत्येक व्यक्तित्व अद्वितीय है।
4. व्यक्तित्व में परिवर्तन प्राय: बहुत धीरेधीरे होते हैं।
5. व्यक्तित्व का कोई पक्ष विशेष हो सकता है जो पर्याप्त विशिष्ट प्रभेदकारी हो।
6. यह मानव की भूमिका, गुणों, लक्षणों एवं व्यवहार से जुड़ा है।
7. व्यक्ति मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के तत्वों से निर्मित होता है।
8. व्यक्तित्व एक गतिशील एवं परिवर्तनशील विचार हैं व्यक्तित्व सदैव बदलते रहते हैं।
9. यह व्यापक एवं जटिल विचार है।
10. व्यक्तित्व व्यक्ति के विशिष्ट गुणों का गतिशील समन्वय है।
11. पैतृकता, वातावरण, परिपवक्ता, अभिप्रेरण, सीखना ये सभी घटक मानव व्यक्तित्व के विकास में योगदान देते हैं।
12. व्यक्तित्व के अन्तर्गत भूतकाल के अनुभवों और भविष्य की आशाओं को सम्मिलित किया जाता है।

9.5 व्यक्तित्व के आयाम एवं तत्व

व्यक्तित्व का अध्ययन प्रबन्धकों के लिए अपरिहार्य हो गया है क्योंकि मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक कारकों से निर्मित होता है। व्यक्तिव के द्वारा परिवर्तन की एक प्रक्रिया का बोध होता है विशेष रूप से इसका सम्बन्ध व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास से है। फ्रेड लुथांस के अनुसार. "व्यक्तित्व के अन्तर्गत यह सम्मिलित है कि कैसे व्यक्ति दूसरों को प्रभावित करते हैं तथा कैसे वे अपने को समझते हैं एवं अपने प्रति दृष्टिकोण रखते हैं। इसी के साथ व्यक्तित्व में अपने बाहय एवं आन्तरिक मापनीय गुणों को प्रारूप तथा व्यक्ति व परिस्थिति की अर्न्तव्यवहार भी शामिल है।"

व्यक्तित्व के प्रमुख आयाम निम्न प्रकार है:-

1. **भूमिका अवधारणा -** व्यक्ति दूसरों को कैसे प्रभावित करते हैं यह मुख्य रूप से उनके बाहय दर्शनीय स्वरूप जैसे रंग-रूप, चेहरे के हाव-भाव, शारीरिक लक्षण, ऊँचाई, वजन आदि घटकों तथा व्यवहार जैसे असभ्य, मित्रवत्, विनम्रकारी आदि पर निर्भर करता है।
2. **व्यक्ति-परिस्थिति अर्न्तव्यवहार -** प्रत्येक परिस्थिति भिन्न एवं अद्वितीय होती है। कई बार परिस्थितियों के अन्तर ऊपर से छोटे दिखते हैं, किन्तु जब वे व्यक्ति की विचार प्रक्रियाओं से गुजरते हैं तो वे बहुत जटिल, बड़े एंव व्यक्तिगत अन्तर बन जाते हैं जिनके व्यवहारात्मक परिणाम विविध होते हैं।
3. **स्व-धारणा -** स्व अवधारणा का आशय अपने प्रति समझ एवं चेतना उत्पन्न करना है। अपने प्रति चैतन्य व्यक्ति का व्यक्तित्व श्रेष्ठ होता है। यह मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व को निर्धारित करता है।

4. **लक्षण प्रारूप -** रच का मत है कि लक्षण या गुण व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण आयाम हैं। क्योंकि उनका गणितीय पैमाने पर माप संभव हैं उनके अनुसार व्यक्तित्व के अर्न्तगत मूल समस्या यह नहीं है कि व्यक्ति कौन से गुण रखता है और कौन से गुण वह नहीं रखता है वरन् असली बात यह देखना है कि प्रत्येक गुण का वह कितना हिस्सा रहता है।

5. किसी स्थिति विशेष में व्यक्तित्व को उसके सम्पूर्ण परिवेश में देखा जा सकता है। इसका आशय यह है कि व्यक्ति को पर्यावरण के साथ सम्बद्ध होने पर ही पूर्णरूप से समझा जा सकता है। पर्यावरण परिवेश में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ अर्न्तक्रिया करता है जिससे स्थायी सम्बन्धों की संरचना का निर्माण होता है। प्रबन्धक इन अर्न्तक्रियाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण द्वारा मानवीय व्यवहार को बेहतर रूप से समझ सकता है।

6. **सामान्य व्यक्ति के अर्न्तगत** एक गतिशील सन्तुलन की स्थिति विद्यमान रहती है। इसका आशय यह है कि व्यक्तित्व में निरन्तर परिवर्तन एवं समयोजन होता रहता है। साथ ही वह आत्मानुभूति करने में समर्थ होता है।

7. **लक्ष्यों के बीच चयन की प्रक्रिया के आधार** पर एक व्यक्तित्व से दूसरे व्यक्तित्व के मध्य विभाजन की रेखा खीची जा सकती है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के माध्यम से लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहता है अत: चयन एंव लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया व्यक्तित्व को एक गतिशील स्वरूप प्रदान करती है।

8. **संगठनात्मक परिवर्तन एवं विकास** पर्यावरणीय गतिशीलता पर बल देते हैं और इनके आधार पर मानवीय व्यक्तित्व के व्यावहारिक पक्ष का पूर्ण विकास होता है। विगत कुछ वर्षों में नियोजन, निर्णयन एवं अभिप्रेरणा सम्बन्धी विचारों के तहत व्यक्ति के भविष्य पर अत्यधिक बल दिया गया है जिसका संगठनात्मक परिवेश तथा नीति निर्धारण में अत्यधिक महत्व होता है।

9.6 व्यक्तित्व विकास की अवस्था

व्यक्तित्व विकास की अवस्थायें मनोवैज्ञानिक विकास से सम्बन्धित है। कुछ शोधकर्त्ता मानते है कि व्यक्तित्व विकास एक गतिशील निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है तथा यह सीखने के अवसरों से जुडी है। व्यक्तित्व विकास की कुछ प्रमुख अवस्था विचारधारायें निम्न प्रकार है:-

1. **फ्रायडियन अवस्थायें -** यद्यपि व्यक्तित्व विकास के कुछ सिद्धान्त प्राचीन ग्रीक से उपलब्ध होते हैं किन्तु सिगमन्ड़ फ्रायड पहले मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने व्यक्तित्व की अवस्थाओं पर सारगर्भित शोध प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने चार अवस्थायें बतलाई हैं। ये अवस्थायें- मुखवर्ती, गुदा सम्बन्धी, मातृरति या लिंग सम्बन्धी तथा जननेंद्रिय जो कि व्यक्तित्व विकास की मुख्य प्रेरक शक्तियॉ है।

2. नव-फ्रायडियन अवस्थायें - फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास में यौन सम्बन्धी एवं जैविक घटकों पर बल दिया था। एरिक इरिकसन का मत है कि व्यक्तित्व विकास में यौन समायोजन की अपेक्षा सामाजिक घटक अधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्होनें व्यक्तित्व विकास की आठ मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है:

   1. मुख एवं इन्द्रियाँ

2. त्याज्य अंग
3. स्थानान्तरण तथा जनन सम्बन्धी
4. अव्यक्तता
5. यौवन एवं युवास्था
6. प्रारम्भिक बालिगावस्था
7. प्रौढ़ बालिगावस्था

3. **ज्ञानात्मक अवस्थायें - जीन पियागेट** ने व्यक्तित्व विकास में संज्ञानात्मक तत्वों को उजागर किया। उनके अनुसार चेतन मस्तिष्क व्यक्तित्व विकास में अहम् भूमिका निभाता है। उन्होंने बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक विकास की निम्न चार अवस्थायें बतलाई :-

1. प्रारम्भिक अवस्था में शिशु अपने वातावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। यह अवस्था जन्म से 2 वर्ष की उम्र तक रहती है।
2. 2 से 7 वर्ष की उम्र में बच्चा विचार, भाषा, चिन्ह, चित्र आदि का ज्ञान प्राप्त करता है।
3. 7 वर्ष से 11 वर्ष की उस में बालक संज्ञानात्मक एवं अवधारणात्मक सिद्धान्तों का ज्ञान करता है।
4. 11 वर्ष की उम्र के पश्चात् बालक तर्क, कल्पना, घटनाओं का मूल्यांकन करना आदि की क्षमता विकसित करता है।

4. **अपरिपक्वता से परिपक्वता की ओर -** व्यक्तित्व विकास के अवस्था दृष्टिकोण से दूर हटते हुए आर्गीरिस ने अपरिपक्वता-परिपक्वता साक्ष्य प्रस्तुत करके मानव व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट आयामों की ओर संकेत किया है। उन्होंने अपरिपक्व एवं परिपक्व अवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलाई है।

व्यक्तित्व विकास की प्रवृत्तियाँ

बाल्यावस्था अपरिपक्वता लक्षण	**युवावस्था परिपक्वता लक्षण**
निष्क्रिय	सक्रिय
निर्भर	स्वतन्त्र
कुछ ही तरीकों में व्यवहार	अनेक तरीकों में व्यवहार
तुच्छ रूचि	गहरी, बौद्धिक रूचि
अल्पकालीन दृश्य अधीनस्थ भावना-जागरूकता का अभाव	दीर्घकालीन दृश्य समान या अधिशासी भावना जागरूकता एवं स्वनियन्त्रण-

क्रिस आर्गीरिस कहते हैं कि यह मॉडल इस बात का संकेत नहीं है कि सभी व्यक्ति सातत्य क्रम के परिपक्वता सिरे तक कि पहुँच जाते हैं या पहुँचने के लिए प्रयास करते हैं। ये सात आयाम व्यक्तित्व विकास के एक पहलु को दर्शाते हैं। व्यक्तित्व विकास में बहुत कुछ व्यक्ति के अवबोध, स्व-धारणा, अनुकूलन एवं समायोजन पर निर्भर करता है। संगठन में कर्मचारियों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रबन्धक उन्हें विभिन्न गतिविधियों में सक्रिय होने, कार्य स्वतन्त्रता, उच्च पद, रूचियों एवं अपनी योग्यताओं की अभिव्यक्ति के अवसर उपलब्ध करवायें।

9.7 व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारक तत्व

व्यक्तित्व कैसे निर्धारित होता है? वास्तव में मानवीय- व्यवहार के अध्ययन में यह सबसे जटिल प्रश्न है क्योंकि संज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के साथ अनेक घटक व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देते हैं व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारक निम्नलिखित हैं -

1. **वंश परम्परा -** मनोवैज्ञानिकों का मत है कि व्यवहार में वंश परम्परा का प्रभाव कम दिखाई पड़ता है। **स्कॉट के मतानुसार,** "इसकी भूमिका के सम्बन्ध में वंश परम्परा पर डालने वाले तत्वों के निर्धारकों का विकास होता है। अनुकरणशीलता इसमें पाई जाती है। वंश क्रम का समस्त ज्ञान वैयक्तिक भिन्नता को प्रकट करता है। ' स्कॉट का मत है कि व्यक्ति को अपने वंशानुक्रम के द्वारा जीवित रहने और विकास करने हेतु अपेक्षित आधारभूत संचना की प्राप्ति होती है। **जे. कैली के अनुसार,** " वास्तव में व्यक्तित्व के प्रारम्भिक कार्य को श्रृंखलाओं के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। वंशानुगत जीन्स के द्वारा रूपान्तरित होती है. जीन्स हारमोन सन्तुलन को निर्धारित करता है तथा शारीरिक रचना व्यक्तित्व को आकार प्रदान करती है।"

2. **शारीरिक संरचना -** शरीर के स्नायु मण्डल और क्रियाओं का व्यक्तित्व के विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसमें शरीर का आकार, स्नायुविक प्रणाली, प्राण प्रणाली आदि को सम्मिलित किया जाता है जिसके माध्यम से व्यक्ति को आधारभूत बौद्धिक योग्यता की प्राप्ति होती है तथा व्यक्ति स्वंय को आगे के जीवन में प्रकट करता है। इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि शारीरिक कमी का मनुष्य के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की बुद्धि, मानसिक योग्यता, मानसिक दुर्बलता, व्यक्तित्व के विकास में प्रत्यक्षतः सहायक होती है। दुर्बल व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णत: विकसित नहीं होता है।

3. **वातावरण प्रभाव -** वातावरणीय घटकों का व्यक्तित्व के विकास पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य एक गतिशील सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण में रहता है तथा वातावरणीय विशेषताओं के अनुसार ही उसका विकास होता है। वातावरण दो रूपों में प्रभाव डालता है- सामाजिक वातावरण तथा सांस्कृतिक वातावरण व्यक्तित्व के निर्धारण में परिवार तथा संस्कृति का अत्यधिक महत्व होता है। सामाजिक तथा मनोरंजन सम्बन्धी क्रियाएं व्यक्तित्व के विकास में विशेष भूमिका निभाती है।

4. **बाल्यावस्था के अनुभव -** बाल्यकाल के अनुभव भी स्थाई रूप से मनुष्य के व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। माता-पिता तथा घर के अन्य सदस्यों का व्यवहार भी बच्चे के विकसित मस्तिष्क पर प्रभाव डालता है।

   फ्रायड ने व्यक्तित्व के निर्माण में इड, इगो एवं सुपर इगो की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है। इड' अचेतन मन जिसमें आदिम तथा मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये शीघ्र संतुष्ट होना चाहती है। 'इगो मन का चेतन स्तर है यह विचार, निर्णय तथा संकल्प करता है। सुपर इगो आदर्शो से निर्मित होता है। यह 'इगो का वह पक्ष है जो आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया को सम्भव बनाता है। इसे सामान्य रूप से चेतना की संज्ञा दी जाती है। मानव व्यक्तित्व का निर्माण इन्हीं तीन तत्वों से होता है। फ्रायड का मत है कि व्यक्तित्व की समस्या के मूल में व्यक्ति के अंह की

दुर्बलता है। या तो उसका अहं इच्छाओं, वासनाओं आदि पर नियन्त्रण नहीं कर पाता है या फिर सुपर इगो से समायोजन नहीं कर पाता है। सन्तुलित तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण के द्वारा ही प्रभावी व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव हो सकता है।

मुरे का मत है कि कार्यात्मक रूपों की ऋणात्मक तथा धनात्मक निरन्तरता व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। इसके अनुसार, 'व्यक्तित्व कार्यात्मक रूप एवं शक्तियों की निरन्तरता है जो संगठित प्रक्रिया के रूप में जन्म से मृत्यु तक बर्हिमुखी होकर प्रकट होती है। इस मत के अनुसार कार्यात्मक रूपों की निरन्तरता, ऋणात्मक अभिनिवेश सम्बन्ध, मतभेद, सक्रियता, निष्क्रियता आदि का योग व्यक्तित्व का निर्माण करता है।'

लूथांस के अनुसार, व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारित निम्नलिखित है:-

1. **जीव विज्ञान सम्बन्धी योगदान -** व्यक्तित्व विकास में जीव विज्ञान सम्बन्धी घटकों की विशेष भूमिका होती है जिन्हें इस प्रकार से विभक्त किया जा सकता है-

1. वंशानुगतता की भूमिका
2. जीन्स सम्बन्धी व्यवस्था एवं बुद्धि वैभव
3. प्रबन्धकीय चिन्तन
4. स्पिलिट ब्रेन चिन्तन
5. बायोफीड बैक
6. शारीरिक विशेषताएँ एवं परिपक्वता की दर

2. **सांस्कृतिक योगदान -** जीवन विज्ञान सम्बन्धी घटकों की तुलना में व्यक्तित्व के निर्धारण में सांस्कृतिक घटकों का योगदान अपेक्षाकृत अधिक होता है। व्यक्तित्व विकास में सीखने की प्रक्रिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सीखने की प्रक्रिया तथा विषय-वस्तु में संस्कृति आधारभूत अवधारणा है क्योंकि एक व्यक्ति जो कुछ सीखता है वही उसकी विषय-वस्तु होता है। संस्कृति स्वतन्त्रता, आक्रामकता, प्रतिस्पर्द्धा तथा सहयोग जैसे घटक प्रमुख निर्धारक होते हैं।

3. **परिवार से योगदान -** व्यक्तित्व का एक अन्य प्रमुख निर्धारण परिवार है। विशेषत: माता-पिता की भूमिका पहचान प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाती हैं, जो कि व्यक्ति के प्रारम्भिक विकास में महत्वपूर्ण होती है। बाद में यह सामाजिकरण प्रक्रिया के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

4. **स्थिति -** व्यक्तित्व का एक अन्य महत्वपूर्ण निर्धारक स्थिति है। सामान्यत: यह माना जाता है कि एक व्यक्ति का व्यक्तित्व स्थिर होता है तथा विभिन्न स्थितियों में परिवर्तित नहीं होता है। इसके विपरीत, वास्तविक जगत में विभिन्न स्थितियों में व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं की माँग होती है। व्यापक रूप में व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारकों को निम्न दो भागों में बाटा जा सकता है-

1. जैवकीय कारक
2. सामाजिक कारक

(1) जैवकीय कारक - मुख्य जैवकीय कारक निम्नलिखित हैं-

(i) नलिकाविहीन ग्रंथियाँ - ये ग्रन्थियां बिना नलिका के सीधे रक्त में अपना स्त्राव भेजती हैं। इनके स्त्राव हारमोन्स कहलाते हैं। विभिन्न ग्रन्थियां एक या एक से अधिक हारमोन्स का स्त्राव करती हैं, जिनका व्यक्तित्व पर प्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, पैंक्रिया ग्रन्थि जो रस निकालती है, उससे भोजन के पचाने में सहायता मिलती है। यह रक्त में इन्सुलिन नामक द्रव भी पहुंचाती है, जिसकी सहायता से मांसपेशियां शर्करा का उपयोग कर लेती हैं। इसकी मात्रा में परिवर्तन से शर्करा तत्व की कमी होने से मानसिक शक्तियां क्षीण हो जाती है और व्यक्तित्व में परिवर्तन दिखाई पड़ता है, भावावस्था में परिवर्तन हो जाता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और भय की भावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार, थायराइड ग्रन्थि का व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके नष्ट हो जाने पर श्लेष्मस्फाय रोग हो जाता हे, जिसमें व्यक्ति के शरीर में शिथिलता छा जाती है, मस्तिष्क और पेशियों की क्रिया मन्द पड़ जाती है, स्मृति मन्द होने लगती है और चिन्तन करना कठिन हो जाता है। जन्म से ही इस ग्रन्थि के न होने पर बालक की बुद्धि का विकास नहीं हो पाता है। इस ग्रन्थि के बहुत अधिक क्रियाशील होने पर तनाव, अशान्ति तथा अस्थिरता दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार एड्रीनल ग्रन्थि का भी व्यक्तित्व पर भारी प्रभाव पड़ता है। इसकी अधिकता होने पर पुरूष या स्त्री में पुरुषोचित गुणों की अधिकता दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार, पिट्यूटरी ग्रन्थि के हारमोन्स अन्य ग्रन्थियों पर नियन्त्रण करते हैं, जिनका व्यक्तित्व पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

(ii) शरीर रचना - नलिकाविहीन ग्रन्थियों के साथ-साथ शरीर रचना का भी व्यक्तित्व पर अधिक प्रभाव पड़ता है। प्राय: मोटा व्यक्ति हंसी मजाक पसन्द करने वाला, आराम पसन्द और सामाजिक होता है, जबकि पतला व्यक्ति संयमी, चिडचिडा और तेज होता है। शरीर रचना से व्यक्ति के प्रति अन्य व्यक्तियों के व्यवहार में भी अन्तर देखा जा सकता है। यह दैनिक अनुभव की बात है कि मोटे सुगठित शरीर वाले तथा पतले व्यक्तियों के प्रति हमारे सीखने की प्रक्रिया इन तीन नियमों के आधार पर होती है। थार्नडाइक ने इस अन्तर से उनके व्यक्तित्व में अन्तर किया है। अत: व्यक्तित्व के अन्तर को केवल शरीर के मोटे या पतले होने के कारण ही नहीं, वरन् दूसरों के प्रति व्यवहार के कारण भी माना जाना चाहिए।

(iii) शरीर विज्ञान - शारीरिक विकास का भी व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। प्राचीनकाल से मनुष्य स्वभाव का कारण उसके शरीर के रासायनिक तत्वों को माना गया है। इस प्रकार, आदतन आशावादी व्यक्ति में रक्त की अधिकता, चिड़चिड़े व्यक्ति में पित्त की अधिकता, शान्त व्यक्ति में कार्य की अधिकता तथा उदास रहने वाले व्यक्ति में तिल्ली तथा स्नायुविक द्रव्य की अधिकता मानी जाती है।

उपर्युक्त जैवीकीय कारकों के अतिरिक्त अनेक आनुवांशिक तत्व भी व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं, जिनमें लिंग, बुद्धि तथा स्नायुमण्डल आदि कारक मुख्य हैं।

(2) सामाजिक कारक - व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों को मोटे रूप में निम्न भागों में बांटा जा सकता है- घर, स्कूल एवं समाज। सभी मनोवैज्ञानिक इस

बात पर सहमत हैं कि व्यक्तित्व के विकास में घर के परिवेश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि घर के परिवेश का जीवन पर्यन्त व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है, फिर भी बाल्यावस्था में यह प्रभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि इसी समय व्यक्तित्व के आधारभूत तत्वों का निर्धारण होता है। घर के परिवेश में बालक के अतिरिक्त जितने भी सदस्य होते हैं, उन सबका बालक के व्यक्तित्व एवं व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, संयुक्त परिवार में भले बालक का व्यक्तित्व छोटे परिवार में पले बालक से पृथक् होता है। माता-पिता के व्यक्तित्व एवं व्यवहार का बालक के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। अनेक शोध अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि बालक के अपराधी होने में परिवार की स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एकेड एडलर का मत है कि परिवार में बालक के जन्म क्रम का भी उसके व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्राय: निविध जन्मक्रम के बालकों के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं किया जाता है। पारिवारिक स्थिति में उसके कार्यो पर प्रभाव पड़ता है और इससे उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।

बालक के व्यक्तित्व पर स्कूल, शिक्षक एवं सहपाठियों का भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है । जिस तरह घर में माता-पिता बालक के सामने आदर्श के रूप में होते हैं, उसी प्रकार शिक्षक बाल के सामने आदर्श के रूप में होता है। शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावशाली न होने पर उसका बालक के व्यक्तित्व पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता है।

समाज एवं संगठन का भी व्यक्तित्व पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है, जो विभिन्न व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखता हैं व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध से उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। सामाजिक स्थिति, संस्कृति, सामाजिक परिवेश में नियम संहिता, सामाजिक भूमिका आदि कारक भी मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

जहां तक व्यक्तित्व भेद के आधारों का प्रश्न है तो निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि वैयक्तिक भेदों का कोई एक आधार नहीं है। इनके अनेक आधार हो सकते हैं, जिसमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

(1) **शारीरिक -** शरीर रचना की दृष्टि से एक संस्था में कार्यरत व्यक्तियों में भेद देखने को मिलता है। यह भेद सांवला, गोरा, पतला, मोटा, लम्बा, दुबला, सामान्य आदि रूपों में हो सकता है। एक ही संस्था में एक विभाग विशेष में कार्यरत कुछ व्यक्ति कमजोर, छोटे, हृष्ट-पुष्ट हो सकते हैं, जबकि अन्य अधिकांश व्यक्ति औसत स्तर के हो सकते हैं।

(2) **मानसिक -** बौद्धिक एवं मानसिक भिन्नता के कारण भी एक संस्था में कार्यरत व्यक्तियों में व्यक्तित्व भेद हो सकता है। मन्द बुद्धि, औसत बुद्धि तथा प्रखर बुद्धि की दृष्टि से सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

(3) **रुचि -** पुरूष एवं महिला श्रमिक या कर्मचारी की रुचि में भेद पाया जाता है तथा भिन्न-भिन्न श्रमिकों की रुचि में भी व्यापक अन्तर हो सकता है। काम करने, पढ़ने, खेलने, वस्त्र पहनने

आदि सभी बातों में भिन्न-भिन्न रुचियों के व्यक्ति मिलते हैं। रुचि भिन्नता कार्यरत व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं।

(4) **सीखना -** कुछ व्यक्तियों में सीखने की तीव्र उत्कंठा होती है, जबकि कुछ मन्द बुद्धि व्यक्ति होते हैं, जो कार्य को धीरे-धीरे सीख पाते हैं। ऐसे श्रमिकों एवं कर्मचारियों पर प्रबन्धकों को बहुत परिश्रम करने की आवश्यकता होती है। यह भी वैयक्तिक क्षमताओं पर निर्भर करता है।

(5) **व्यक्तित्व -** दो व्यक्ति समान योग्यता के होते हुए भी अपने व्यवहार में भिन्न हो सकते हैं। एक व्यक्ति सिद्धान्तवादी हो सकता है, जबकि दूसरा सिद्धान्तों का पालन करने के साथ सरल, ईमानदार एवं लोचशील हो सकता है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति संस्था के कार्य के साथ सामाजिक कार्य में भी, पूर्ण सहयोग देने वाला हो सकता है, जबकि दूसरा चुपचाप बैठने वाला हो सकता है।

(6) **अभिरुचि एवं उपलब्धि -** संस्था में कार्यरत विभिन्न व्यक्तियों की अभिरुचि तथा ज्ञान में अन्तर होता है। कुछ व्यक्ति बहुत चतुर होते हैं तथा उनमें ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता अधिक होती है, जबकि कुछ इसके विपरीत होते हैं।

(7) **स्वभाव -** व्यक्तित्व भेद का यह भी एक प्रमुख आधार है। कुछ व्यक्ति सदा प्रसन्न रहते हैं, जबकि कुछ चिन्ताग्रस्त, चिड़चिड़े तथा उदास होते हैं। पुरूष तथा महिला श्रमिक के व्यवहार में भी अन्तर होता है, जो भिन्न-भिन्न आयु वर्ग में बदलता रहता है। स्वभाव व्यक्ति की रुचि, मनोवृत्ति, कार्यक्षमता आदि पर अपना प्रभाव डालता है।

(8) **विशिष्ट योग्यताएं एवं अयोग्यताएं -** प्रत्येक कार्य में समान योग्यता रखने वाले श्रमिक या कर्मचारी कम होते हैं। एक व्यक्ति विक्रय कार्य में दक्ष हो सकता है, जबकि दूसरा विक्रय शोध में ज्यादा योग्य हो सकता है। एक व्यक्ति सभी कार्यो में अच्छा होते हुए भी कम्प्यूटर में कमजोर हो सकता है।

संगठनात्मक परिवेश में व्यक्तित्व सम्बन्धी कारकों का विशेष महत्व होता है। अधिकांश स्थितियों में व्यक्तित्व सम्बन्धी भिन्नताओं के कारण संगठनात्मक क्रिया-कलापों के संचालन में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के तनाव एवं परेशानियों का जन्म होता है। यदि नियोक्ता एवं कर्मचारी या प्रबन्धक एवं अधीनस्थ के सम्बन्धों की दृष्टि से विचार किया जाए, तो इस प्रकार के तनाव एवं परेशानी का बहुत अधिक मूल्य हो सकता है। कभी-कभी व्यक्तित्व सम्बन्धी कारकों के द्वारा ही एक संस्थान में घेराव, हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी कारक के द्वारा श्रम परिवर्तन और कार्यजन्म असन्तोष की उत्पत्ति होती है। व्यक्तित्व सम्बन्धी भिन्नता से उत्पन्न कुछ रोचक तथ्य निम्नलिखित हैं-

(i) कुछ व्यक्ति अपने सहकर्मियों में विद्रोह एवं भय उत्पन्न करते हैं जबकि अन्य सहयोग एवं सहानुभूति उत्पन्न करते हैं।

(ii) कुछ व्यक्ति अपने अधीनस्थों के साथ खुले एवं स्वतन्त्र सम्प्रेषण को बढ़ावा देते हैं, जबकि अन्य इस प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं।

(iii) कुछ व्यक्ति दबावयुक्त स्थिति को भी सरलता से सहन कर लेते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसी स्थिति में विक्षिप्त हो जाते हैं।

(iv) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दबावयुक्त स्थितियों के साथ समायोजन की शैली भी एक-दूसरे से भिन्न होती है।

9.8 व्यक्तित्व संकलन

व्यक्तित्व मानसिक एवं शारीरिक गुणों का गतिशील संगठन है। वह परिवेश से समायोजन करने से प्रकट होता है। यदि व्यक्तित्व में मनोदैहिक गुणों का संगठन अव्यवस्थित या ढीला-ढाला होता है तो परिवेश से समायोजन कठिन हो जाता है। ऐसी व्यक्तित्व खण्डित या असंकलित व्यक्तित्व कहलाता है। परिवेश में वास्तविक समायोजन हेतु व्यक्तित्व का संकलित या एकीकृत होना आवश्यक शर्त है। यह संकलन जितना दृढ़ होता है, समायोजन उतना ही सहज एवं स्वाभाविक होता है।

'व्यक्तित्व संकलन' उस समग्रता का नाम है, जिसमें विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती, वरन् मस्तिष्क की सभी क्रियाएं संगठित रूप से कार्य करती हैं। इसमें संघर्ष का पूर्णत: अभाव रहता है। वास्तव में, व्यक्तित्व संकलन एक आदर्श है, जिसे एक संगठन के सभी व्यक्तियों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि इसी में उस व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति, प्रभावशीलता एवं उत्पादकता निहित हैं। संकलित व्यक्तित्व लचीला, दृढ़ और संगठित होता है।

व्यक्तित्व के प्रारूप का सबसे लोकप्रिय वर्गीकरण युंग ने बतलाया है, जिसने सामाजिकता के आधार पर व्यक्तित्व को निम्न दो प्रकार का बतलाया है- बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। संगठनात्मक व्यवहार के सन्दर्भ में इन दोनों प्रारूपों की प्रकृति को समझना प्रबन्धक के लिए आवश्यक है।

बहिर्मुखी व्यक्तित्व - ऐसा व्यक्तित्व अन्य व्यक्तियों में अधिक रुचि लेता है तथा अपने स्वभाव के अन्य लोगों के साथ मिलना-जुलना पसन्द करता है। यथार्थवादी होता है और जीवन की परिस्थितियों को वस्तुगत रूप में सामना करता है। यह अपने चारों ओर के सामाजिक कार्यो में भाग लेने को सदैव तैयार रहता हैं सामाजिक आदान-प्रदान में यह मुक्त होकर भाग लेता है। ऐसा व्यक्ति प्राय: भावना प्रधान होता हे शीघ्र निर्णय करता है तथा तत्काल अमल करता है। यह व्यवहार कुशल एवं कर्मठ होता है।

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व - इस प्रकार के व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्ति बाहर की ओर अर्थात् अपने आस-पास के लोगों की ओर न होकर अन्दर की ओर (स्वयं अपनी ओर) होती है। इस प्रकार ये आत्मकेन्द्रित तथा एकान्तप्रिय होते हैं। इनमें विचार की प्रधानता होती है तथा ये चिन्तन-मनन में लगे रहते हैं। ये अपने विचारों में ही व्यस्त रहते हैं तथा दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। ये आदर्शवादी होते हैं तथा भविष्य के विषय में ही सोचते हैं। ये प्राय: सामाजिक परिवेश की अपेक्षा भौतिक परिवेश में अधिक रुचि लेते हैं तथा शीघ्र निर्णय नहीं लेते हैं। ऐसे व्यक्ति व्यवहार कुशल नहीं होते तथा काम की अपेक्षा विचार की ओर अधिक ध्यान देते हैं।

प्रभुत्व-अधीन व्यक्तित्व - अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी व्यक्तित्व को प्रभुत्वअधीन व्यक्तित्व के रूपमें व्यक्त किया जा सकता है। व्यक्तित्व का यह स्वरूप व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों को प्रकट करता है। जिस व्यक्ति में प्रभुत्व की प्रवृत्ति पायी जाती है, वह अन्य व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। इसके विपरीत, जिसमें अधीनता की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, वह दूसरे व्यक्तियों की बातों को आसानी से स्वीकार कर लेता है। ऐसा व्यक्ति नेतृत्व तथा निर्णयन कार्य में प्राय: अनुपयुक्त होता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सभी मनुष्यों में प्रभुत्व-वृत्ति तथा अधीरता-वृत्ति विद्यमान रहती है। व्यक्ति किस समय किस वृत्ति का प्रदर्शन करता है, यह उसकी परिस्थिति एवं तात्कालिक मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, संगठनों में अधिकांश व्यक्ति अपने से उच्च पद वाले के सामने अधीनता का भाव दिखलाते हैं, जबकि अपने से नीचे काम करने वालों पर प्रभुत्व प्रदर्शित करते हैं।

संवेगात्मक अस्थिर व्यक्तित्व - संवेगात्मक अस्थिरता' व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। प्रबन्धक के लिए ऐसे व्यक्ति की विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है। संवेगात्मक अस्थिर व्यक्ति प्राय: चंचल स्वभाव का होता है, भावी दुखों एवं निराशाओं की आशंका से घबरा जाता है तथा वास्तविक कारणों को जाने बिना ही स्वयं को प्राय: दुखी अनुभव करता है। इस प्रकार के व्यक्ति के जीवन में सामान्य रूप से अस्थिरता होने के कारण सुख-दुःख के भाव क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति प्राय: अपना अधिकांश समय स्वप्न लोक या कल्पनाओं में ही व्यतीत करता है तथा प्रबन्ध, निर्णयन एवं नेतृत्व कार्य हेतु अनुपयुक्त या असफल होता है।

हठी व्यक्तित्व - हठ व्यक्ति की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो उसे अनेक समस्याओं एवं बाधाओं के बीच भी तात्कालिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रखती है। ऐसा व्यक्ति जब किसी काम को एक बार अपने हाथ में लेता है, तो उसे समाप्त करने के लिए जी-जान से कोशिश करता है तथा पूरा करके ही शान्ति से बैठ सकता है। इसके विपरीत, जिस व्यक्ति में यह गुण नहीं होता है, वह कठिनाइयों में शीघ्र ही हतोत्साहित होकर अपना कार्य बीच में ही छोड़ देता है तथा उसे पूरा करने की यथेष्ट चेष्टा नहीं करता है। उच्च प्रबन्ध पर नियुक्त व्यक्ति में प्राय: ऐसा गुण देखा जा सकता है।

भीरू व्यक्तित्व - भीरू या कायर व्यक्तित्व प्राय: असामाजिक होता है तथा वह समाज या संगठन के कुछ ही व्यक्तियों के साथ सम्पर्क कर पाता है। फलत: वह चन्द व्यक्तियों के साथ अर्न्तक्रिया कर पाता है। संगठन में ऐसा व्यक्ति सामाजिक कार्यो या सभाओं में जाने से हिचकिचाता है तथा किसी कार्य में स्वयं पहल नहीं करता है । ऐसा व्यक्ति अपरिचित व्यक्तियों से भेंट या बातचीत करने में हिचकिचाहट अनुभव करता है तथा समाज एवं संगठन में अलग रहना ही पसन्द करता है। प्रबन्धकीय या जनसम्पर्क कार्य हेतु ऐसा व्यक्ति अनुपयुक्त माना जाता है।

चिन्तनशील व्यक्तित्व - ऐसा व्यक्ति प्राय: आत्म-केन्द्रित तथा अर्न्तमुखी होता है तथा दार्शनिक प्रवृत्ति का होता है. जो निरन्तर विचारों में तल्लीन रहता है। ऐसा व्यक्ति जीवन एवं संगठन सम्बन्धी समस्याओं पर अपने मित्रों या साथियों से विचार-विमर्श करता है। चिन्तनशीलता उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग बन जाता है।

खिन्न या उदास व्यक्तित्व - ऐसा व्यक्ति दुःख. निराशा. चिन्ता उदासी आदि से ओत-प्रोत रहता है तथा भावी दुःखों एवं समस्याओं पर विचार करके ही अत्यधिक हतोत्साहित या चिन्ताग्रस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्राय: यदा-कदा ही प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा चिन्ता. निराशा एवं खिन्नता में ही डूबा रहता है।

9.9 सारांश

व्यक्तित्व वह विषय है जो संगठनात्मक व्यवहार को जानने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। व्यक्तित्व से सम्पूर्ण व्यक्ति की पहचान होती है। ये अपने आप में अवबोध. सीखना तथा मनोवृत्ति को सम्मिलित किए हु ए हैं। संगठन का वातावरण. कार्य सन्तुष्ट इत्यादि व्यक्तित्व पर निर्भर है। इस इकाई द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रबन्धक तथा कर्मचारियों दोनों के व्यक्तित्व निर्माण से ही किसी संगठन का सम्पूर्ण निर्माण सम्भव हो पाता है। संगठन की सफलता के लिए व्यक्तित्व निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

9.10 प्रश्न

1. व्यक्तित्व की परिभाषा दीजिए। इसके प्रमुख निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं?
2. व्यक्तित्व की विकास की अवस्थाएं बताइए।
3. व्यक्तित्व संकलन को स्पष्ट कीजिए।
4. एक प्रबन्धक के तौर पर आप में किस प्रकार के व्यक्तित्व के लक्षण होने चाहिए।

9.11 उपयोगी पुस्तकें

1. A.H Maslow : Motivation and Personality, Harper and Row, New York, 1954
2. Chris Argyris : Personality and Organisations Understanding and Managing the Human Side of Work, Allyn and Bacon, 1990

इकाई-10: प्रबन्धन प्रणालियाँ एवं प्रक्रिया (Management Methods and process)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 अर्थ व परिभाषाएँ

10.3 प्रकृति

10.4 विभिन्न विचार

10.5 सामाजिक एवं सामाजिक-तकनीकी प्रणाली विचारधारा

10.6 प्रणाली विचारधारा का मूल्यांकन

10.7 प्रबन्ध प्रक्रिया की संकल्पना

10.8 प्रबन्ध प्रक्रिया के चरण

10.9 सारांश

10.10 शब्दावली

10.11 प्रश्न

10.12 उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- प्रबन्धन में प्रणालीगत विचार को जान सकेंगे।
- प्रणाली की कार्यविधि एवं प्रकारों से अवगत हो सकेंगे।
- प्रबन्ध प्रणाली में सामाजिक एवं सामाजिक-तकनीकी प्रणाली से परिचित हो सकेंगे।
- प्रबन्ध प्रक्रिया की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- प्रबन्ध प्रक्रिया के विभिन्न चरणों से अवगत हो सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

वर्तमान में प्रबन्ध का अध्ययन एक प्रणाली के रूप में किया जाने लगा हैं। प्रबन्ध को एक अन्तःक्रियाशील व खुली प्रणाली या तंत्र के रूप में माना जाता है। अमेरीका में 1967 में सार्वजनिक प्रबन्धन पर एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य यह ज्ञात करना था कि किस प्रकार गैर सुरक्षा क्षेत्र में आधुनिक पद्धति एवं विश्लेषण तकनीकें काम में लाई जा सकती हैं। प्रबन्ध विशेषज्ञों का यह मत है कि वर्तमान के वृहद्-स्तरीय उद्योगों की प्रबन्धकीय जटिलताओ के निराकरण हेतु पद्धति या तंत्र विचारधारा के आधार प्रबन्धन करना उपयोगी रहता है।

प्रणाली विचारधारा के अनुसार प्रत्येक संगठन को एक प्रणाली या तन्त्र के रूप में देखा जाना चाहिये, जिसके सभी विभाग व उपविभाग परस्पर सह-सम्बन्धित व अर्न्तनिर्भर होते हैं। एक

विभाग या उपविभाग के कार्यो का प्रभाव अन्य सभी विभागों, उपविभागों व समग्र संगठन के कार्य संचालन पर होता है। अतएव सम्पूर्ण उपक्रम का प्रबन्ध संगठन को एक प्रणाली मानकर किया जाना चाहिए। प्रत्येक विभाग व अनुभाग की प्रत्येक क्रिया का संचालन अन्य विभागों व अनुभागों और समग्र उपक्रम के कार्य-निष्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव को दृष्टिगत रखकर करना चाहिये। - जैसे उत्पादन विभाग द्वारा उत्पाद में वांछित सुधार न करने पर विपणन विभाग के विक्रय लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी, जिससे उपक्रम का लाभ लक्ष्य नहीं प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार सेविवर्गीय विभाग के कुशल न होने पर कर्मचारी मनोबल गिर सकता है, जिससे सम्पूर्ण उपक्रम की कुशलता में गिरावट आयेगी। विपणन विभाग द्वारा उधार की अवधि बढ़ा देने पर वित्त विभाग के लिए नगद धनराशि रखने में कठिनाई आ सकती है। इस प्रकार समग्र उपक्रम एक प्रणाली की तरह है।

10.2 अर्थ एवं परिभाषाएँ

प्रणाली का आशय सभी क्रियाओं को पृथक रूप में न रखकर उन्हें सम्पूर्णता के रूप में देखना हैं। किसी प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न भागों के जटिल संयोजन को प्रणाली कहा जाता हैं। वास्तव में प्रणाली अनेक घटनाओं का एक समूह है जो परस्पर आश्रित हैं। प्रणाली की मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोश के अनुसार. 'सम्बन्धित तथा अर्न्तनिर्भर इकाईयों का ऐसा संयोजन जो एक जटिल इकाई का निर्माण करती है अथवा किसी योजना के आधार पर भिन्न-भिन्न भागों से बनी एक समग्र एवं व्यवस्थित सम्पूर्ण इकाई प्रणाली कहलाती हैं।

फ्रैड लुथान्स के अनुसार एक प्रणाली ऐसे तत्वों से मिलकर बनी है जो कि एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर निर्भर हैं तथा जब ये तत्व पारस्परिक क्रिया करते हैं तो एकात्मक पूर्णता का निर्माण करते हैं।

बैकेट के अनुसार परस्पर प्रभावित करने वाली इकाईयों के समूह को प्रणाली कहते हैं।

प्रोफेसर लुडविग व बटरलाफी के अनुसार, प्रणाली इकाईयों का समूह है जिनमें आपसी सम्बन्ध होता है।

10.3 प्रणाली की विशेषताएँ

प्रणाली का शाब्दिक अर्थ 'साथ मिलना' अथवा 'संयोजित करना होता है। एक प्रणाली अन्तराश्रित तथा अर्न्तसम्बन्धित तत्वों की समूह होती है जो एक जटिल संकलन प्रस्तुत करती है। ये तत्व भौतिक हो सकते है या जैविक भी हो सकते हैं। प्रणाली दृष्टिकोण की मौलिक विशेषताएँ निम्नांकित हैं -

(i) **उप-प्रणालियों का संयोजन :** प्रत्येक प्रणाली की विविध उप-प्रणालियॉ होती हैं। जब किसी उप-प्रणाली को एक प्रणाली के रूप में बिना उस व्यापक प्रणाली के संदर्भ मे विचार जाता है जिसका कि वह हिस्सा होती है, तो उसकी प्रणाली जैसी ही विशेषताएँ प्रकट होती हैं। प्रणाली और उप-प्रणालियों की क्रमबद्धता को व्यवस्थित किया जा सकता है। इस प्रणाली के भीतर भी प्रणाली होती है। व्यावसायिक संगठन एक प्रणाली है, जिसके विविध विभाग और इकाइयाँ जैसे निर्माणी, विपणन, वित्त, सेविवर्गीय आदि उपप्रणालियाँ होती हैं। प्रत्येक प्रणाली अपने

से बड़ी प्रणाली का अंग हैं या उससे प्रभावित होती है। इस बड़ी प्रणाली को अधिप्रणाली कहते हैं।

(ii) **प्रणाली के भाग और उप-भाग परस्पर जुडे होते हैं :** हम प्रत्येक उप-प्रणाली की स्थिति का और उसकी कार्य प्रणाली का विश्लेषण दूसरी उप प्रणालियों के साथ तथा उसकी प्रणाली के साथ जोड़कर ही कर सकते हैं। एक उप-प्रणाली में परिवर्तन अन्य उप-प्रणालियों एवं व्यापक प्रणाली को प्रभावित करता है। किसी प्रणाली की कार्य प्रणाली के संदर्भ में उसकी विभिन्न उप-प्रणालियों के बीच पाए जाने वाले संबंधों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

(iii) **भागों व उपभागों का व्यवस्थित रूप :** प्रत्येक उप-प्रणाली दूसरी उप-प्रणालियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करती है। अत: उनके बीच सम्बन्धों और अन्त: क्रियाओं के कारण कुछ सह-क्रियाएँ भी उत्पन्न होती हैं। इसलिये उनका संयुक्ता योगदान उनके व्यक्तिगत योगदान के गणितीय योग से अधिक होता है।

(iv) **प्रणाली की सीमा उसे उप प्रणलियों से पृथक् करती है :** एक संगठन अन्य संगठनों से पृथक् अस्तित्व रखता हैं। इसी बात को उस संगठन के भीतर प्रत्येक उप प्रणाली के संदर्भ में कहा जा सकता है। प्रणालियों की सीमाएँ यह निश्चित करती हैं कि उस प्रणाली का आन्तरिक और बाह्य हिस्सा कौन-सा है। किसी व्यावसायिक उपक्रम में कर्मचारी एवं श्रामिक इसकी सीमा के भीतर होते हैं जबकि ग्राहक और लेनदार सीमा के बाहर। सीमा के बाहरी हिस्सों को हम बाह्य वातावरण का अंग भी कह सकते हैं। यह मूल रूप से पदस्थ प्रबन्धकों के विवेक पर निर्भर करता है कि, प्रणालियों की सीमा में क्या शामिल होगा और क्या नहीं। उन्हें प्रणालियों की सीमा निर्धारित करनी चाहिये एवं संगठन व संगठन की सीमा के बाह्य अंगों के बीच संबंधों और अन्तक्रियाओं की रूपरेखा बनानी चाहिये।

(v) **बंद प्रणाली और खुली प्रणाली :** बंद प्रणाली वह है जो अपने वातावरण से अप्रभावित और अलग-थलग रहती है। वातावरण और उसके बीच अन्तःक्रियाएँ नहीं होतीं। बंद प्रणाली कठोर और स्थिर प्रकृति की होती है। यह यांत्रिक रूप में होती है। स्वचालित घड़ी को हम बंद प्रणाली कह सकते हैं। **खुली प्रणाली** वह है जो अपने वातावरण से जुड़ी रहती है और उसके साथ अन्तःक्रियाएँ करती है। यह गतिशील और लोचशील प्रकृति की होती है।

प्रत्येक संगठन एक खुली प्रणाली होता है, लेकिन उनके खुलेपन में अन्तर होता है। कुछ संगठन तुलनात्मक रूप में ज्यादा खुले होते हैं जबकि अन्य बन्द होते हैं। जो संगठन खुली प्रणाली के रूप में होता है तो वह बाह्य वातावरण में होने वाले परिवर्तनों तथा व्यवहारों के प्रति बहुत संवेदनशील रहता है। ऐसे संगठन अपनी संरचना और प्रक्रिया में अनुकूल परिवर्तन करते हैं। इसके साथ ही इन संगठनों के बाह्य वातावरण भी प्रभावित होता है।

(vi) **संगठन आगत-निर्गत प्रणाली :** संगठन के मुख्य आगत मानवीय, भौतिक, वित्तीय और अन्य वातावरणीय संसाधन होते हैं। संगठन इन संसाधनों को विविध प्रक्रियाओं द्वारा निर्गत यानि कि उत्पादों और सेवाओं के रूप में परिवर्तित करता है। यह पूरी प्रक्रिया संगठन में ऊर्जा पैदा करता है जो उसके अस्तित्व, संवर्द्धन और सफलता के लिये आवश्यक होती है। आगत और निर्गत का आदान-प्रदान करने के लिये संगठनों को बाह्य वातावरण पर निर्भर रहना पड़ता है। इस आदान-प्रदान में दोनों को लाभ होता है। बाह्य वातावरण में संबंधित पक्षों को वस्तुओं

और सेवाओं की प्राप्ति होती है और संगठनों को आगतों की प्राप्ति के लिये आवश्यक साधन प्राप्त होते हैं साथ ही अधिक्य के रूप में लाभ की प्राप्ति होती है, ख्याति बढ़ती है और सार्वजनिक छवि बनती है। आगत -निर्गत का आदान-प्रदान एक सतत जारी रहने वाली प्रक्रिया है जो बाह्य वातावरण के साथ सक्रिय रूप से सम्पर्क ओर संबंध बनाए रखने पर जोर देती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता हैं कि किसी प्रणाली के पाँच मूलाधर होते हैं: आगत, प्रक्रिया, प्रतिपुष्टि, निर्गत तथा वातावरण।

10.4 प्रबन्ध में प्रणाली दृष्टिकोण : विभिन्न विचार

प्रणाली दृष्टिकोण के तीन प्रमुख विचार हैं: एक दृष्टिकोण के अनुसार किसी संगठन में विक्रय, विपणन, उत्पादन, स्कन्ध, वित्त, सेविवर्गीय तथा अन्य कार्यात्मक क्षेत्रों के बीच, और उस संगठन के आन्तरिक तथा बाहय वातावरण के बीच जटिल अर्न्तसंबंध होते हैं। इस दृष्टि से प्रणाली को क्रियान्वित करने में क्रियात्मक अनुसंधान की विधियों, कम्प्यूटर पर आधारित प्रबन्ध सूचनाओं तथा नियन्त्रण कार्यक्रमों का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रबन्ध इस अर्थ में प्रणाली है कि सभी प्रबन्धकीय नीतियों में सुसंगति आवश्यक होती है। किसी एक नीति में परिवर्तन, दूसरी नीतियों को प्रभावित किये बिना नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये मानवीय विचार पर आधारित सेविवर्गीय अवधारणा तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि संगठन-संरचना और सेविवर्गीय नीतियाँ इसके अनुरूप न बनाई जाए। इसका अर्थ है कि सम्प्रेषण विधियों, चयन प्रक्रियाओं, पदोन्नति की नीतियों, कार्य निष्पादन मूल्यांकन के कार्यक्रमों, मजदूरी वे वेतन की पद्धतियों, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के कार्यक्रमों आदि सभी के सम्बन्ध में इनके ढाँचे और प्रशासनिक तरीके, सिद्धान्त गैर मानवीय विचार पर आधारित प्रबन्ध की अवधारणा की तुलना में अलग होंगे। इतना ही नहीं, नई प्रबन्धकीय तकनीक जैसे कम्प्यूटर पर आधारित प्रबन्ध सूचना प्रणाली का निर्धारण भी प्रबन्ध की अवधारणा से प्रभावित होगा। मानवीय दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाला शीर्ष प्रबन्ध कम्प्यूटर पर आधारित सूचना प्रणाली का उपयोग प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर सूचनाएँ उपलब्ध करवाने में करेगा जिससे संबंधित कार्यक्रमों की उचित देखरेख की जा सके और वे संगठनात्मक व इकाईगत लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग दे सकें, न कि यह कि सूचनाओं के आधार पर अधीनस्थों को यह कहा जाए कि उन्हें क्या करना चाहिये।

प्रबन्धकीय प्रक्रिया प्रणाली दृष्टिकोण को अपनाने के संदर्भ में तीसरे विचार के अनुसार प्रबन्ध एक आर्थिक व सामाजिक प्रणाली का हिस्सा है। यह आर्थिक व सामाजिक प्रणाली संगठन के बाहर विद्यमान है, किन्तु इसे प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, जब कोई प्रबन्धक कार्मिकों की भर्ती और उनकी कार्यमुक्ति के बारे में फैसला करता है तब वह फैसला संबंधित उद्योग और अर्थव्यवस्था में व्याप्त माँग की स्थिति से प्रभावित होता है। इस तरह के फैसले या निर्णय नागरिक अधिकार आन्दोलनों, श्रमिक संघों और पिछड़े व अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों को रोजगार प्रदान करने के दबावों से प्रभावित होते हैं।

प्रणाली दृष्टिकोण को निम्नलिखित चित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है -

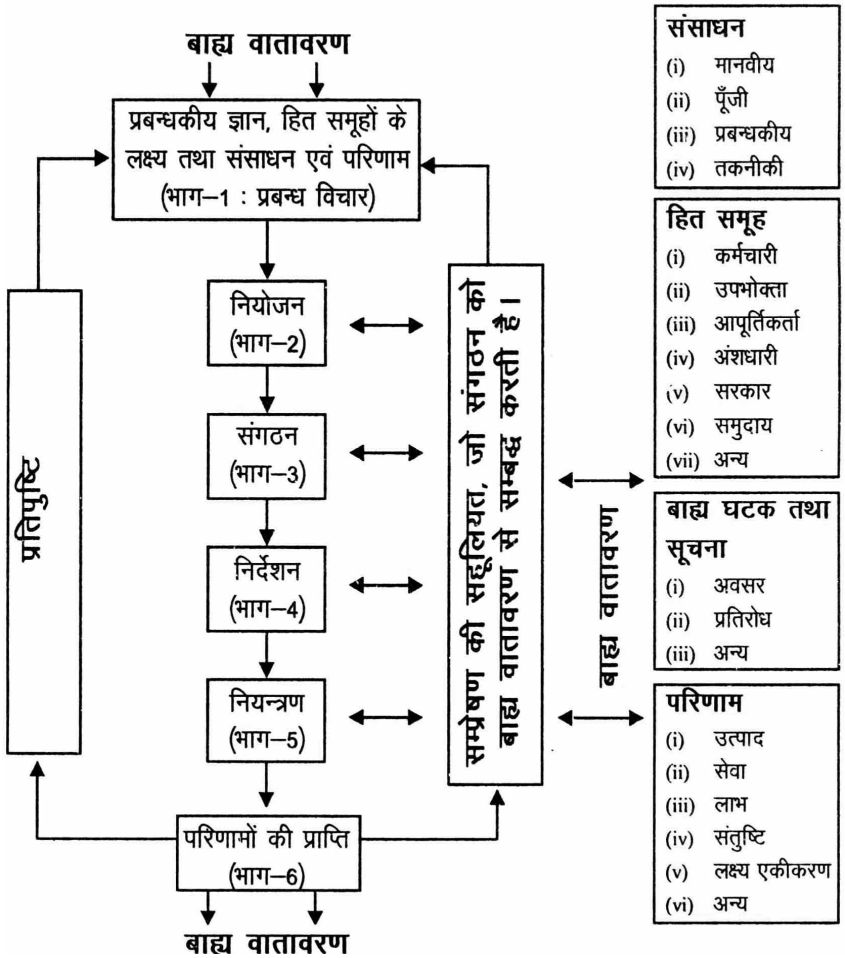

रेखाचित्र : प्रबन्ध की प्रणाली विचारधारा

प्रणाली विचारधारा प्रबन्ध को समग्र रूप में देखती है। यह प्रबन्ध करने के लिये सुगृथित दृष्टिकोण प्रदान करती है। विचार की उपादेयता को हम एक पुरानी कहानी के माध्यम से जान सकते हैं। चार अन्धों को यह बताने को कहा गया कि हाथी कैसा होता है? वे चारों एक-एक कर हाथी के पास गये और उन्होंने उसके अलग-अलग हिस्सों की हाथ लगाकर जाँच परख की। फिर उनके बीच इस बात को लेकर समझ बनी कि उन चारों ने ही हाथी को समग्र रूप में समझ लिया है। इस कहानी में अधिक रोचक विषय कहानी कहने वाले की सीख है, विषय को समग्र रूप में समझने और देखने की योग्यता। यह कहानी हमारे प्रसंग में इस रूप में सहायक है कि संगठन में प्रबन्धकीय समस्याओं को किस तरह से देखा जाना चाहिये? उसे सम्पूर्ण संगठन के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिगत रखा जाए न कि इसके किसी एक हिस्से के रूप में। वास्तव में प्रणाली दृष्टिकोण प्रबन्धकों को एक वैचारिक तन्त्र प्रदान करता है जिसके माध्यम से संगठन और प्रबन्ध का सार्थक विश्लेषण किया जा सकता है एवं समझा जा सकता है। इसकी सहायता से संगठनों को प्रभावित करने वाली विविध शक्तियों को आसानी से पहचाना जा सकता है तथा संगठन व उसके वातावरण के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं को जान जा सकता है। इससे प्रबन्धकों की निर्णयन-कुशलता में वृद्धि होती है।

अन्य प्रबन्धकीय दृष्टिकोणों की तुलना में प्रणाली दृष्टिकोण का वैचारिक ढाँचा श्रेष्ठ है, लेकिन यह अस्पष्ट भी है। यह दृष्टिकोण संकेत देता है कि संगठन के विभिन्न हिस्से अन्र्तसम्बन्धित होते हैं। इसी तरह, चूँकि संगठन एक सामाजिक प्रणाली है इसलिये वह समाज के अन्य संगठनों से संबंधित होता है। यह सच है तथा प्रबन्ध करने में सहायक भी है, लेकिन पर्याप्त नहीं है। यह दृष्टिकोण आपसी संबंधों को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित नहीं करता है। यह कहना ही पर्याप्त नहीं कि आर्थिक ताकतें संगठन में सामाजिक, तकनीकी और मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को प्रेरित करती हैं। अपितु यह भी जाना चाहिये कि कौन-सी आर्थिक ताकतें किन सामाजिक, तकनीकी और मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को प्रेरित करती हैं। अत: प्रबन्धकीय समस्याओं का समाधान करने में इस दृष्टिकोण को प्रत्यक्ष रूप से लागू नहीं किया जा सकता। यह दृष्टिकोण प्रबन्ध क्षेत्र में विश्लेषण और संश्लेषण करने हेतु किसी मापन तकनीक को प्रदान करने में असमर्थ है।

10.5 सामाजिक एवं सामाजिक तकनीकी प्रणाली विचारधारा

सामाजिक प्रणाली विचारधारा मानवीय व्यवहार विचारधारा के अनुरूप ही है। कुछ विचारकों का मत रहा है कि कर्मचारियों के वैयक्तिक अथवा सामूहिक व्यवहार से प्रबन्ध कार्य का अध्ययन सम्भव नहीं है इस हेतु **सम्पूर्ण संगठन** का अध्ययन आवश्यक है। यह विचारधारा **प्रणाली विश्लेषण** पर आधारित है। इस विचारधारा के अनुसार **प्रबन्ध एक सामाजिक प्रणाली है** तथा यह प्रणाली **सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों का परिणाम है।**

चेस्टर बर्नार्ड, रेन्सिस लिकर्ट, कुर्त लेविन, हर्जबर्ग आदि इस विचार के समर्थक हैं। **बर्नार्ड** का मत है कि व्यक्ति संगठन के उद्देश्यों के साथ व्यक्तिगत उद्देश्यों एवं आवश्यकतओं की पूर्ति के लिए भी कार्य करते हैं। कुशल सामाजिक तन्त्र के माध्यम से ही प्रबन्धक व्यक्तिगत, सामूहिक एवं समाज के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं। सहकारी प्रणाली औपचारिक एवं अनौपचारिक हो सकती है। अनौपचारिक सहकारी प्रणाली से न केवल व्यक्तिगत हितों की पूर्ति होती है वरन् इससे लोगों में सहकारिता की भावना का भी विकास होता है जो संगठन के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक सिद्ध होती है।

इस तरह प्रबन्ध, संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के परस्पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों का अध्ययन है।

विशेषताएँ :

सामाजिक प्रणाली विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है:

1. संगठन एक सहकारी सामाजिक प्रणाली होता है।
2. प्रबन्ध के अध्ययन हेतु समग्र संगठन का अध्ययन आवश्यक है।
3. यह प्रणाली दृष्टिकोण पर आधारित विचार है।
4. कार्य करवाने के लिए प्रबन्धकों को संगठन का निर्माण करना पड़ता है। तन्त्र की सफलता इसमें कार्यरत व्यक्तियों के आपसी व्यक्तिगत एवं सामूहिक- सांस्कृतिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। जिसे सामाजिक प्रणाली कहते है।

5. प्रबन्ध सहकारी प्रणाली है जिससे जुड़े व्यक्तियों की इच्छाएँ, धारणाएँ, विचार, दृष्टिकोण, वृत्तियाँ आदि एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं।
6. प्रबन्ध में व्यवहारवादी विज्ञानों जैसे मनोविज्ञान, समाज विज्ञान का प्रयोग किया जाना चाहिए।
7. प्रबन्धकीय. समस्याओं का निराकरण सहकारिता के आधार पर किया जा सकता है।
8. प्रबन्धकीय अध्ययन एवं व्यवहार के लिए संस्था के भीतर एवं बाहर कार्यरत सामाजिक समूहों के मध्य सांस्कृत्कि सम्बन्धों को समझा जाना चाहिये।
9. सामाजिक प्रणाली में व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों के बीच समन्वय स्थापित करना आवश्यक है।
10. पारस्परिक सहयोग स्थापित करने हेतु व्यक्ति मिलकर सामाजिक इकाई का निर्माण करते हैं।
11. सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सन्देशों का आदान-प्रदान किया जाता है।
12. सभी सामाजिक समूहों में परस्पर संघर्ष, विरोध, अर्न्तक्रिया एवं सम्बद्धता के प्रयास चलते रहते हैं।
13. यह विचार औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार के संगठनों को श्रेष्ठ प्रबन्ध हेतु आवश्यक मानता है।

मूल्यांकन :

सामाजिक प्रणाली का विचार प्रबन्ध एवं संगठन को यांत्रिक न मानने पर बल देता है तथा सम्पूर्ण संगठन को **मानवीय सम्बन्धों की एक जीवित प्रणाली** के रूप में अध्ययन करता है। यह प्रणाली के रूप में कर्मचारियों के अर्न्तव्यवहारों, अर्न्तसम्बन्धों तथा पारस्परिक सहयोग पर बल देता है। दूसरे शब्दों में यह विचारधारा संगठन को सजीव इकाई मानती है।

निष्कर्ष रूप में इस विचार के आधार पर सगंठन के विस्तृत स्वरूप एवं व्यक्तिगत-सामूहिक उद्देश्यों के मध्य आपसी तालमेल को भली प्रकार समझा जा सकता है। इस विचारधारा के द्वारा प्रबन्धक संस्था तथा इसके बाह्य वातावरण के मध्य समन्वय स्थापित कर सकते हैं तथा संगठन पर पड़ने वाले बाहरी दबाव से परिचित हो सकते हैं।

सामाजिक-तकनीकी प्रणाली विचार

इस विचारधारा को **प्रो. ट्रिस्ट** ने विकसित किया है। इसके अनुसार सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए केवल सहकारी सामाजिक प्रणाली का अध्ययन करना ही पर्याप्त नहीं है अपितु यह देखना है कि तकनीकी प्रणाली - यन्त्र, कार्यविधियाँ आदि की स्थिति क्या है? इस विचारधारा की, यह मान्यता है कि संगठन में वैयक्तिक अभिवृत्तियों तथा समूह व्यवहार पर तकनीकी प्रणाली का भी प्रभाव पड़ता है। **कुशल प्रबन्ध के लिए सामाजिक एवं तकनीकी प्रणालियों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। इनमें समन्वय न हो पाने की स्थिति में तकनीकी वातावरण में सुधार के प्रयास आवश्यक होते हैं।**

इस विचारधारा की प्रमुख मान्यताएँ निम्न प्रकार है:

1. प्रबन्ध सामाजिक वातावरण के साथ कार्य के तकनीकी वातावरण से भी प्रभावित होता है।

2. संगठन में व्यक्तियों की प्रवृत्तियों तथा व्यवहार पर तकनीकी प्रणाली अर्थात् यन्त्र, उपकरण, कार्यविधियों आदि का गहरा एवं प्रत्यक्ष प्रभाव देखने को मिलता है।
3. यह विचार मानव व्यवहार पर तकनीक एवं यन्त्रों आदि के प्रभाव का भी मूल्यांकन करती है।
4. यह विचार तकनीकी एवं सामाजिक वातावरण में सामंजस्य द्वारा प्रबन्धन व्यवस्था स्थापित करने पर बल देती है। इस हेतु तकनीकी वातावरण में संशोधन किया जा सकता है।

मूल्यांकन :

इस विचारधारा के अनुप्रयोग से प्रबन्धकीय व्यवहार को परिष्कृत करना सम्भव हुआ है। किन्तु इस विचार की आलोचनाएँ भी की जाती हैं जो निम्नलिखित हैं :

(i) तकनीकी वातावरण प्रथम रेखा प्रबन्ध को ही अधिक मात्रा में प्रभावित करता है जो पर्यवेक्षकीय स्थिति में कार्यरत हैं। यह उच्च प्रबन्ध को अधिक प्रभावित नहीं कर पाता।

(ii) पारस्परिक सामंजस्य की दृष्टि से तकनीकी वातावरण में परिवर्तन करना कठिन होता है।

(iii) तकनीकी वातावरण सदैव मानव व्यवहार को प्रभावित करे ही यह आवश्यक नहीं है।

(iv) मात्र तकनीकी व सामाजिक वातावरण का अध्ययन, व समन्वय ही प्रबन्ध नहीं है। प्रबन्धन का यह एक आशिक विचार ही है।

10.6 प्रणाली विचारधारा का मूल्यांकन

प्रणाली विचारधारा संगठन की समस्याओं को एकीकृत रूप में समझने में सहायक होती है। संक्षेप में, इस विचारधारा की सराहना निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर की जाती है :

– यह विचार संगठन को एक सम्पूर्ण प्रणाली मानती है। इसने संगठन का समग्र रूप से अध्ययन करने में योगदान दिया है।
– यह विचार संगठन के प्रत्येक विभाग के कार्यो के साथ उनके पारस्परिक अर्न्तसम्बन्धों एवं प्रभावों पर भी ध्यान देता है।
– इसके द्वारा संगठन पर वातावरणीय प्रभावों का अध्ययन सम्भव है।
– यह विचार प्रबन्ध को प्रभावित करने वाले तत्त्वों तथा वातावरण में विधमान घटकों को समझने में सहायक है।
– यह विचार संगठन की अर्न्तसम्बन्धित एवं गतिशील प्रकृति को उजागर करता है।
– यह अन्य विचारों को समविष्ठ कर, उनमें तालमेल स्थापित करने में सहायक है।
– यह प्रबन्ध को विश्लेषण दृष्टि प्रदान करता है।

इस विचार के उपयोग को स्पष्ट करते हुए **कोरथ एवं रेचेल** ने कहा है कि **"प्रणालीगत विचारधारा व्यावसायिक निर्णय प्रक्रिया में क्रान्ति ला दी है क्योंकि इससे विस्तृत सूचनाएँ शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं जिनकी श्रेष्ठ निर्णयों हेतु आवश्यकता होती है।"**

इन समस्त गुणों की विद्यमानता के उपरान्त भी आलोचकों ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की है। **प्रमुख आलोचनाएँ** निम्न हैं :

– खुली प्रणाली दृष्टिकोण वातावरण के घटकों को तो मान्यता प्रदान करता है, लेकिन **इन घटकों का प्रबन्ध प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता** जिसकी सहायता से लक्ष्य प्राप्ति सम्भव बनायी जा सकती है।
– आलोचकों की मान्यता है कि यह दृष्टिकोण अमूर्त एवं संदिग्ध ह। व्यवहार में इसे क्रियान्वित करना कठिन है। यह विचार न तो विश्लेषण की कोई तकनीक प्रस्तुत करता है और न ही अन्तर-निर्भरता की प्रकृति को बतलाता है।
– प्रबन्ध का प्रणाली विचार सभी प्रकार के संगठनों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। यह सर्वव्यापक विचार नहीं है।
– प्रणाली विचार प्रबन्ध की किसी तकनीक का वर्णन नहीं करता। यह केवल चिन्तन का एक तरीका है।

उपर्युक्त कमियों के बावजूद भी प्रणाली विचारधारा प्रबन्धकों को अनेक संगठनात्मक समस्याओं के हल हेतु लाभदायक दिशानिर्देश देने में सक्षम है।

10.7 प्रबन्ध प्रक्रिया की संकल्पना

प्रबन्ध की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं, इन सभी परिभाषाओं में एक विशेषता पर सहमति बनती है कि प्रबन्धन एक प्रक्रिया है। इसके अर्न्तगत अनेक क्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं जो किन्हीं निश्चित परिणामों की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। प्रत्येक प्रक्रिया का प्रारम्भिक एवं अंतिम बिन्दु होता है। इसमें कुछ पृथक एवं विशिष्ट चरण होते हैं जो क्रमागत रूप में सम्पादित किये जाते हैं। प्रक्रिया वह मार्ग है जिसके द्वारा निष्पादन को पूरा किया जाता है। इस हेतु विशिष्ट कौशल, तकनीकों एवं विधियों का उपयोग किया जाता है।

प्रबन्धन एक मानवीय एवं सामाजिक प्रक्रिया है न कि यांत्रिक प्रक्रिया। यह निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है क्योंकि इसके चरण कभी भी समाप्त नहीं होते अपितु बार-बार दोहराये जाते हैं।

यह विचारधारा प्रबन्ध को एक प्रक्रिया मानती है जो विभिन्न उप-क्रियाओं अथवा कार्यो में बँटी होती है। प्रबन्ध **"कुछ प्रक्रियाओं का समूह"** अथवा **"कुछ कार्यो की श्रृंखला"** है। प्रबन्ध सार्वभौमिक प्रक्रिया है जिसके सिद्धान्तों को सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इसलिए कुछ विद्वान इसे **"प्रबन्ध की सार्वभौमिक विचारधारा"** भी कहते हैं।

प्रक्रिया विचारधारा प्रबन्ध के आधारभूत कार्यो को बतलाती है। इसलिए इसे **"कार्यात्मक विचारधारा"** भी कहा जाता है। लम्बे समय से प्रचलित होने के कारण इसे **"परम्परागत विचारधारा"** के नाम से भी जाना जाता है।

इस विचारधारा के जनक **हेनरी फेयोल** हैं। किन्तु इसे परिशोधित करने में न्यूमैन, हैरोल्ड, कूण्ट्ज, जार्ज आर. टेरी, लूथर गुलिक उर्विक, बैच आदि विद्वानों ने भी योगदान दिया है।

विशेषताएँ :

1. यह विचारधारा प्रबन्ध कार्य को **एक प्रक्रिया** मानती है, तथा नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियुक्ति, नियंत्रण आदि इसके तत्व हैं।
2. प्रक्रिया विचारधारा की मान्यता है कि **"प्रबन्ध का कार्य अन्य लोगों से कार्य करवाना है।"**

3. प्रबन्ध प्रक्रिया अन्य लोगों से कार्य करवाने से सम्बन्धित है। इसके अनुसार प्रबन्ध प्रक्रिया के कुछ आधारभूत तत्व या कार्य हैं। जिनका वर्णन प्रथम विशेषता में किया गया है।
4. प्रबन्ध प्रक्रिया प्रबन्धकों के कार्यो का कारण तथा परिणाम दोनों है।
5. प्रबन्ध प्रक्रिया के तत्व (नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियंत्रण आदि) अर्न्तसम्बन्धित होते हैं।
6. यह प्रक्रिया **सामान्य सिद्धान्तों** के अनुसार संचालित होती है जिनके निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।
7. प्रक्रिया विचारधारा के समर्थक मानते हैं कि प्रबन्ध के सिद्धान्त **प्रबन्ध कार्यो को करने तथा उनमें सुधार करने हेतु मार्गदर्शन करते हैं।**
8. प्रबन्ध सिद्धान्तों का निर्माण **अनुभव, अर्न्तज्ञान एवं व्यवहार विश्लेषण** के द्वारा सम्भव है।
9. यह विचारधारा प्रबन्ध को **कला एवं कौशल** के रूप में स्थापित करती है।
10. प्रबन्ध सर्वत्र प्रयुक्त एक **सार्वभौमिक प्रक्रिया** के रूप में जाना जाता है।
11. प्रबन्ध प्रक्रिया के **तत्त्वों की एक श्रृंखला एवं व्यवस्था** होती है।
12. प्रत्येक कार्य प्रबन्धन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की एक **उप-क्रिया** होती है।
13. प्रक्रिया का प्रत्येक कार्य **अन्य-कार्यो से सम्बन्धित एवं अन्योआश्रित** होता है।
14. प्रबन्ध प्रक्रिया का प्रत्येक तत्व स्वयं में लक्ष्य न होकर संगठनात्मक **लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन** होता है।
15. इसके कार्यो एवं सिद्धान्तों का प्रयोग **सभी स्तरों पर कार्यरत प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है।**
16. यह विचारधारा **अनुभव एवं व्यवहार** को प्रबन्धकीय **सफलता का आधार** मानती है।
17. यह विचारधारा प्रबन्ध पद्धतियों एवं स्थितियों को वैसे ही बनाये रखने पर जोर देती है जो प्रबन्धकों को विरासत में मिली होती है। यह विचारधारा यथास्थिति बनाये रखने पर बल देती है।
18. यह विचारधारा **ज्ञान के अन्य क्षेत्रों** को **समविष्ट** करने की समर्थक नहीं है।
19. इस विचारधारा का **मुख्य उद्देश्य** प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना, वैचारिक ढाँचे की स्थापना करना तथा मूलभूत सिद्धांत का निर्धारण करना है।
20. इसके अनुसार प्रबन्ध की **प्रक्रिया निरन्तर रूप में चलती** रहती है।
21. प्रक्रिया विचारधारा **परम्पराओं में परिवर्तन करने,** प्रबन्ध कार्यो पर शोध करने, सिद्धान्तों का परीक्षण करने तथा प्रबन्ध सिद्धान्तों के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था करने में विश्वास करती है।

प्रक्रिया विचारधारा को **'प्रशासनिक विचारधारा'** के नाम से भी जाना जाता है। यही उल्लेखनीय है कि 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' दृष्टिकोण तथा 'प्रशासनिक दृष्टिकोण' को मिश्रित रूप में **'प्रतिष्ठित विचारधारा'** के रूप में भी जाना जाता है।

10.8 प्रबन्ध प्रक्रिया के चरण

प्रबन्ध वह गतिविधि है जो प्रबन्धकों द्वारा निष्पादित की जाये। प्रत्येक प्रबन्धक को कुछ मौलिक कार्यो - नियोजन, संगठन, नियुक्ति, निर्देशन एवं नियंत्रण को क्रमबद्ध रूप में सम्पन्न करना होता हैं अतएव प्रबन्ध और कुछ नहीं अपितु संगठन में प्रबन्धकीय कार्यो के निष्पादन की प्रक्रिया ही हैं। सभी प्रबन्धकों को उपक्रम के प्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ कार्य नियमित रूप से एवं निरन्तर करने होते हैं जो यही प्रबन्धकीय प्रक्रिया है। प्रबन्ध की इस प्रक्रिया को विभिन्न विद्वानों ने पृथक कार्यो के रूप में विभाजित किया है। इन विद्वानों के द्वारा प्रबन्धकीय प्रक्रिया को तीन से सात प्रबन्धकीय कार्यो में विभक्त किया गया है।

हेनरी फेयोल ने अपनी पुस्तक (General and Industrial Management) में प्रबन्ध के पाँच कार्यो का उल्लेख किया था - 1. पूर्वानुमान एवं नियोजन, 2. संगठन, 3. आदेश, 4. समन्वय और 5. नियन्त्रण।

मेनार्ड तथा बार्जर ने प्रबन्ध के तीन कार्यो का वर्णन किया है - 1 नियोजन, 2. क्रियान्वयन, और 3. पुनरावलोकन।

जार्ज आर टैरी के मतानुसार प्रबन्ध के **निम्नलिखित कार्य हैं** - 1 नियोजन, 2. संगठन, 3. उत्प्रेरण, एवं 4. नियन्त्रण।

जोसेफ एल. मैसी के अनुसार प्रबन्ध के कार्यो में निर्णयन, नियोजन, संगठन, कार्मिक व्यवस्थापन, सम्प्रेषण एवं निर्देशन सम्मिलित हैं।

इस तरह प्रबन्ध के कार्यो के वर्गीकरण के सम्बन्ध में वैचारिक भिन्नता होते हुए भी कोई मौलिक विरोधाभास नहीं है। धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में विद्वानों में एक मत का विकास हो रहा है एवं अधिकांश विद्वान प्रबन्धकीय कार्यो के निम्नलिखित वर्गीकरण से सहमत हैं - नियोजन, संगठन, कार्मिक नियुक्तियाँ, ' निदेशन, सम्प्रेषण, अभिप्रेरण, नेतृत्व, पर्यवेक्षण, नियन्त्रण, एवं समन्वय।

उपरोक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी दो मत देखने को मिलते हैं।

कुछ विद्वान सम्प्रेषण, अभिप्रेरण एवं नेतृत्व को प्रबन्ध के स्वतंत्र कार्य मानते है जबकि अन्य विद्वान इन्हें निर्देशन की तकनीकें या उपकार्य मानते हैं।

इसी प्रकार कुछ प्रबन्धशास्त्री समन्वय को प्रबन्ध का एक स्वतंत्र कार्य मानते हैं जबकि अन्य कई विद्वान समन्वय को प्रबन्ध के सभी कार्य का सार मानते हैं। इनकी मान्यता हैं कि प्रबन्ध के प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने में समन्वय पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। अतएव समन्वय को एक स्वतंत्र कार्य नहीं मानते हैं। यहाँ प्रबन्धकीय कार्यो का उपरोक्त वर्गीकरण के अनुसार ही विवेचन किया जा रहा हैं जिसमें सम्प्रेषण, अभिप्रेरण, नेतृत्व एवं पर्यवेक्षण को निर्देशन के उप कार्यो या तकनीकों के रूप में विवेचित किया जायेगा।

1. **नियोजन -** उद्देश्य प्राप्ति के लिये किये जाने वाले कार्यो के अग्रिम निर्धारण की प्रक्रिया को नियोजन कहते हैं। नियोजन प्रबन्ध का एक प्राथमिक एवं आधारभूत कार्य है। अन्य सभी कार्य इसके अनुवर्ती कार्य हैं अर्थात् नियोजन के बाद में सम्पन्न किये जाते हैं। नियोजन प्रक्रिया मैं उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का निर्धारण किया जाता है, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किये जाने

वाले कार्यों एवं उनका क्रम निर्धारित किया जाता है एवं इनके लिए साधनों का आवंटन किया जाता है। कार्यों के अग्रिम निर्धारण की यह प्रक्रिया उपक्रम के शीर्ष स्तर पर ही नहीं वरन् उपक्रम के सभी संयंत्रों, विभागों, उपविभागों एवं कार्यशालाओं के लिए भी परम आवश्यक है एवं सभी विभागों एवं उपविभागों आदि की योजनाओं में परस्पर समन्वय होना भी अति आवश्यक है। इस प्रकार संगठन के सभी स्तरों पर नियोजन कार्य सम्पन्न किया जाता है एवं इन सभी स्तरों में पूर्ण समन्वय भी रखने का पूरा प्रयास किया जाता है।

नियोजन के क्षेत्र में निम्नलिखित का निर्धारण किया जाता है -

(i)उद्देश्य (ii) नीतियाँ (iii) कार्य विधियाँ (iv) नियम (v) प्राविधिया (vi) कार्यक्रम (vii) बजट (viii) अनुसूचिया (ix) रीति नीति या व्यूह रचना। इन सभी संघटकों के निर्धारण एवं आवश्यकतानुसार पुनरीक्षण एवं संशोधन की प्रक्रिया उपक्रम में सतत् चलती रहती है। अतएव प्रबन्ध कोई नियत कालिक कार्य न होकर एक सतत् चलती रहने वाली प्रक्रिया है।

2. **संगठन -** संगठन प्रक्रिया से आशय उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्यो के निर्धारण, उनके निष्पादन हेतु पदों का निर्धारण एवं इन पदों के कर्त्तव्यों, अधिकारों, उत्तरदायित्वों एवं अर्न्तसम्बन्धों की व्याख्या से हैं।

नियोजन के उपरान्त संगठन सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ होते हैं। इसमें निम्न क्रियाएं सम्मिलित की जाती है :

- उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का पुनरावलोकन,
- इनकी प्राप्ति हेत किये जाने वाले कार्यो को सूचिबद्ध करना,
- कार्यो का पदानुसार समूहीकरण
- विभागों का निर्धारण एवं विभिन्न पदों का पृथक-पृथक विभागों में आवंटन,
- सभी स्तरों एवं पदों के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का निर्धारण,
- सम्प्रेषण तन्त्र का निर्धारण।

संगठन उप-प्रक्रिया के फलस्वरूप एक जटिल संरचना का निर्माण होता है, उसे भी संगठन ही कहते हैं और यह संगठन उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति एवं योजनाओं के क्रियान्वयन का साधन माना जाता है।

3. **नियुक्तियाँ -** वर्तमान में मानव को उत्पादन का सक्रिय एवं महत्वपूर्ण साधन स्वीकार किया जाता है। मानवीय तत्व के सम्बन्ध में विकसित नवीनतम ज्ञान के सदुपयोग की दृष्टि से नियुक्तियाँ प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य मानी जाने लगी हैं। नियुक्तियों का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसमें उपक्रम की आवश्यकतानुसार कर्मचारियों की प्राप्ति, विकास, मुआवजा, युग्मन एवं अनुरक्षण के कार्य सम्मिलित किये जाते हैं।

स्पष्ट है कि नियुक्तियों के अन्तर्गत उचित व्यक्तियों द्वारा संगठन के विभिन्न पदों को भरने का कार्य किया जाता है। इसके अन्तर्गत चयन, प्रशिक्षण, पारिश्रामिक का भुगतान, पदोन्नति, मूल्यांकन प्रेरणा तथा कल्याणकारी कार्य सम्मिलित हैं।

नियुक्तियाँ इसलिए महत्वपूर्ण मानी जाती हैं ताकि विभिन्न पदों से सम्बद्ध भूमिकाओं को उपयुक्त व्यक्तियों से सम्पन्न कराया जा सके, उनकी प्रतिभा का सही उपयोग किया जा सके तथा व्यक्तियों की मदद से उपक्रम के उद्देश्यों को आसानी से पूरा किया जा सके। इसके

अतिरिक्त प्रबन्ध के इस कार्य के माध्यम से मानवीय साधन का श्रेष्ठ उपयोग किया जाना सम्भव हैं।

4. **निर्देशन -** एक संगठन की सफलता की अन्तिम परीक्षा कार्यरत कर्मचारियों के ऊपर डाले गये उत्तरदायित्व पर निर्भर है। एक व्यक्ति को यदि उत्तरदायित्वों के अनुरूप सन्तुष्टि प्रदान नहीं की जायेगी, तो वह अपने उत्तरदायित्वों को स्वीकार नहीं करेगा। एक व्यक्ति कैसे अपने उत्तरदायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वाह करे? यह कुशल निर्देशन पर निर्भर करता है। निर्देशन व्यक्तियों को प्रभावित करने की वह प्रक्रिया है, जिससे कि वे स्वेच्छा से निष्ठापूर्वक संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि निर्देशन में उच्चाधिकारियों द्वारा अधीनस्थों को केवल आदेश देना ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि इस प्रक्रिया में वे बातें भी सम्मिलित हैं जिनसे कि उन्हें स्वेच्छापूर्वक मेहनत से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

इस विश्लेषण से चार महत्वपूर्ण तत्व - (i) अभिप्रेरणा, (ii) नेतृत्व, (iii) सम्प्रेषण एवं (iv) पर्यवेक्षण सामने आते हैं, जिनके संयोजन को ही निर्देशन कहा जाता है।

(i) अभिप्रेरण - कार्यो को कुशलतम ढंग से सम्पन्न करने एवं बेहतर परिणाम प्रदान करने के लिए कर्मचारियों को प्रेरित करने की प्रक्रिया ही अभिप्रेरण है। संगठन में सभी व्यक्ति उपक्रम के उद्देश्यों के लिए ही कार्य करें। इसके लिए उन्हें प्रलोभन व प्रेरणायें देना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(ii) नेतृत्व - उद्देश्य प्राप्ति हेतु अधीनस्थों के आचरण व व्यवहार पर वांछित प्रभाव डालना ही नेतृत्व है अर्थात् व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करने की प्रक्रिया ही नेतृत्व है।

(iii) सम्प्रेषण - व्यक्तियों को उनके कर्तव्यों का बोध कराना, उचित आदेश-निर्देश उन तक पहुँचाना एवं कर्मचारियों की प्रतिक्रियाओं से अवगत होना आदि कार्यो के लिए सूचनाओं, आदेशों व निवेदनों का परस्पर आदान-प्रदान ही सम्प्रेषण है।

(iv) पर्यवेक्षण - कार्यरत कर्मचारियों के कार्यो का सतत् निरीक्षण एवं मार्गदर्शन पर्यवेक्षण है।

5. **नियंत्रण -** नियन्त्रण के अन्तर्गत योजनाओं से होने वाले विचलनों का पता लगाकर अवांछित विचलनों के निराकरण के लिए सुधारात्मक उपाय करने की प्रक्रिया से है।

नियन्त्रण में वास्तविक कार्यो एवं परिणामों की योजना अर्थात् नियोजित परिणामों से तुलना की जाती है एवं जहां भी योजना से अवांछित विचलन पाये जाते हैं उनका तत्काल निराकरण करने के उपाय किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नियन्त्रण के अन्तर्गत यह जानने की भी चेष्टा की जाती है कि कब एवं कैसे विद्यमान योजना से भी बेहतर परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसे अवसर पाये जाने पर मूल योजना में आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन करके तद्नुरूप क्रियाओं का निदेशन किया जाता है एवं पुन: परिणामों का अवलोकन, लक्ष्यों से तुलना व उचित सुधार किये जाते हैं। इस प्रकार अन्य कार्यो की तरह नियन्त्रण प्रक्रिया भी सतत जारी रहती है व इसमें निम्न कार्य सम्पन्न किये जाते हैं- -

– कार्य निष्पादन की तुलना हेतु मानदण्डों का निर्धारण,
– वास्तविक निष्पादन की मानदण्डों से तुलना करना,

– अवांछित विचलनों का पता लगाना एवं उनका निराकरण।

प्रभावी नियन्त्रण के अभाव में कार्य-निष्पादन की दिशा उपक्रम के लक्ष्यों से विचलित हो सकती है अतएव पूर्ण मितव्ययता के साथ संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी नियन्त्रण आवश्यक है।

6. **समन्वय -** समन्वय से आशय उपक्रम की समस्त क्रियाओं में कुशलता एवं दक्षता लाने हेतु इनमें पारस्परिक क्रमबद्धता, सुसम्बद्धता व सामंजस्य स्थापित करने से है।

उपक्रम के लक्ष्यों को कुशलता से प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले सामूहिक प्रयासों में तालमेल बनाये रखने की प्रक्रिया ही समन्वय है। समन्वय प्रबन्ध का एक पृथक एवं स्वतंत्र कार्य है अथवा नहीं इस पर प्रबन्धकीय विद्वानों में मतभेद है। **हेनरी फेयोल लुइस ऐलन एवं ओर्डवेटीड** आदि प्रबन्धशास्त्री समन्वय को एक पृथक प्रबन्धकीय कार्य मानते हैं जबकि **जार्ज आर. टैरी थियो हैमन हैरोल्ड कून्ट्ज** एवं **ओडोनेल** आदि विद्वान समन्वय को एक स्वतंत्र कार्य न मानकर सभी प्रबन्धकीय कार्यो का सार तत्व अथवा अभिन्न अंग मानते है। समन्वय को स्वतन्त्र कार्य मानें अथवा न मानें इस पर मतभेद होने के बाद भी सभी विद्वान प्रबन्ध में समन्वय के सर्वोपरि महत्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं तथा समन्वय के अन्य सभी पहलुओं यथा इसके आशय, महत्व एवं तकनीकों के सम्बन्ध में पूर्णत: एक मत हैं।

प्रबन्धकीय प्रक्रिया - उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी प्रबन्धकीय कार्यो को नियमित एवं निरन्तर करते रहना होता है। आरम्भिक नियोजन के उपरान्त संगठन, निर्देशन, नियन्त्रण आदि पर्यन्त सभी कार्यो को निरन्तर व नियमित रूप से तब तक सम्पन्न करना होता है जब तक कि उपक्रम या संगठन कार्यरत रहे। नियन्त्रण की अवस्था तक पहुँचने के उपरान्त विगत अनुभवों एवं भावी परिस्थितियों के आधार पर विद्यमान योजनाओं का पुनरीक्षण व नवीन योजनाओ का निर्माण किया जाता है, तदनुरूप संगठन में परिवर्तन, कार्मिक व्यवस्थापन, निर्देशन एवं नियत्रंण आदि सभी कार्यो को पुन: पुन: सम्पन्न करना होता है। यह क्रम अनवरत रूप में चलता रहता है। इसी कारण थियो हैमेन ने प्रबन्ध को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। प्रबन्ध प्रक्रिया में प्रबन्धकीय कार्यो का सम्पादन वित्तीय, मानवीय, भौतिक संसाधनों को सही एवं पर्याप्त सूचनाओं के साथ इस तरह किया जाता है कि उपक्रम के लक्ष्यों को प्रभावी रूप में प्राप्त किया जा सके।

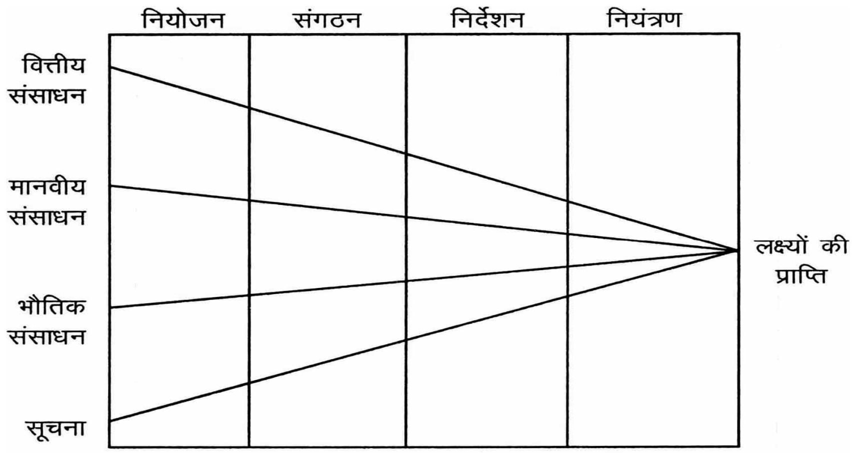

10.9 सारांश

पिछले कुछ समय में प्रबन्धन के प्रणाली दृष्टिकोण को पर्याप्त महत्व मिला है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो समस्त क्रियाओं को अलग-अलग विचार न करके सम्पूर्णता में देखता है। प्रबन्धशास्त्रियों द्वारा विभिन्न अर्न्तनिर्भर एवं अर्न्तसम्बन्धित भागों के जटिल संयोजन को प्रणाली का नाम दिया गया है। प्रबन्ध के क्षेत्र में खुली एवं बन्द प्रणाली का विचार सैद्धान्तिक रूप से उपयोगी है किन्तु आधुनिक परिवेश में संगठन एक खुली प्रणाली के रूप में ही संचालित किया जाता है। प्रणाली विचारधारा के समर्थक प्रबन्ध को गतिशील एवं बहुस्तरीय प्रणाली मानते हैं। यह 'मानवीय-सामाजिक' प्रणाली है न कि 'यांत्रिक'। प्रबन्धशास्त्रियों में प्रबन्ध के कार्यो के सन्दर्भ में तीव्र मतभेद होने के बावजूद यह माना जाता है हैं कि प्रबन्ध के कुछ कार्य हैं जिनका सम्पादन करना संस्था के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इन कार्यो को छः वर्गो में बाँटा गया है जो कि निम्नाकिंत हैं -

(i) **नियोजन -** जिसका अभिप्राय क्या, कैसें, और कब का पूर्व-निर्धारण करना है। यह अनिश्चितता को निश्चितता में बदलता है तथा इसके माध्यम से भविष्य को पूर्वानुमान किया जाना सम्भव है। इसलिए ही इसे प्रबन्ध का प्रथम महत्वपूर्ण कार्य माना गया है।

(ii) **संगठन -** जिसके माध्यम से व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयासों को कार्यशील रूप देने का प्रयास किया जाता है। कार्यरत व्यक्तियों के अधिकारों कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का विभाजन ही संगठन है।

(iii) **नियुक्तियाँ -** इसके अन्तर्गत आवश्यकतानुसार व्यक्तियों की प्राप्ति, विकास, मुआवजा, युग्मन एवं अनुरक्षण के कार्यो को सम्पादित किया जाता है।

(iv) **निर्देशन -** वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय प्रयासों को प्रभावित एवं प्रेरित करना। अभिप्रेरणा नेतृत्व एवं सम्प्रेषण इसके प्रमुख तत्व हैं।

(v) **समन्वय -** यह व्यक्तियों की विभिन्न क्रियाओं, विचारों तथा कार्यकलापों में सामंजस्य लाने की एक विधि है। इसके माध्यम से वैचारिक मतभेदों को इस प्रकार समन्वित किया जाता है ताकि उपक्रम के सामान्य उद्देश्यों को भली-भाँति पूर्ण किया जा सके।

(vi) **नियन्त्रण -** कार्य की योजनानुसार निर्धारित लक्ष्यों की वास्तविक निष्पादन से तुलना कर सुधारवादी कदमों को स्पष्ट करने वाली प्रक्रिया को ही नियन्त्रण कहा जाता है।

10.10 शब्दावली

खुली प्रणाली : यह अपने वातावरण से प्रभावित होती है व उसे प्रभावित भी करती है।

बन्द प्रणाली : जब उपक्रम को वातावरणीय प्रभावों से अप्रभावित रखते हुये पारस्परिक क्रियाओं को प्रबन्धन के लिए दृष्टिगत नहीं रखा जाता।

सामाजिक प्रणाली : संगठन समाज के द्वारा सृजित वातावरण के मध्य कार्य करता है अतप्रबन्ध करते समय संगठन में निहित :

		सामाजिक सम्बन्धों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।
सामाजिकतकनीकी प्रणाली-	:	प्रबन्ध सामाजिक एवं तकनीकी घटकों के अध्ययन एवं समन्वय की प्रणाली है।
प्रक्रिया	:	विभिन्न एवं परस्पर निर्भर क्रियाओं का समूह जो चक्रीय रूप में निरंतर सम्पादित की जाती हैं।

10.11 प्रश्न

1. प्रबन्ध की प्रणालीगत विचारधारा' पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. प्रबन्ध की प्रणालीगत विचारधारा' का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. प्रबन्ध की सामाजिक प्रणाली विचारधारा को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रबन्ध की मानवीय एवं सामाजिक-तकनीकी प्रणाली विचारधारा' का उल्लेख कीजिए।
5. "प्रबन्ध प्रक्रिया" से क्या आशय है? प्रबन्ध के कार्यो का वर्णन कीजिए।
6. "प्रबन्ध प्रक्रिया विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यो का अनुक्रम है।" विवेचन कीजिए।
7. प्रबन्ध प्रक्रिया से आप क्या समझते है? प्रबन्ध प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
8. प्रबन्ध प्रक्रिया के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कीजिए तथा इस प्रक्रिया से सम्बन्धित अन्य कार्यो को भी समझाइए।

10.12 उपयोगी पुस्तकें

– जीं-एस. सुधा - प्रबन्ध अवधारणाएँ एवं संगठनात्मक व्यवहार (रमेश बुक डिपो, जयपुर, 2003)

– आर.एल. नौलखा - प्रबन्ध के सिद्धान्त (आदर्श प्रकाशन, जयपुर, 2005)

इकाई-11: निर्णयन (Decision-making)

इकाई की रूप रेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 संकल्पना
11.2 निर्णयन का महत्व
11.3 निर्णयों के प्रकार
11.4 निर्णयन प्रक्रिया
11.5 निर्णयन विधियाँ अथवा तकनीकें
11.6 निर्णयन के सिद्धान्त
11.7 विवेक, निर्णयन एवं परिबद्ध विवेकशीलता
11.8 निर्णयन हेतु ध्यान रखने योग्य तत्व
11.9 सारांश
11.10 शब्दावली
11.11 प्रश्न
11.12 उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ्ने के बाद आप -

- प्रबन्धन प्रक्रिया में निर्णयन की प्रकृति, आवश्यकता. एवं महत्व को समझ सकेंगे।
- निर्णयन के विभिन्न प्रकारों से परिचित हो सकेंगे ।
- जान सकेंगे कि निर्णयन प्रक्रिया द्वारा अंतिम निर्णय तक किस प्रकार पहुँचा जाता है।
- निर्णयन विधियों एवं सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।
- तर्क आधारित निर्णयन एवं परिस्थितिजन्य बाधाओं के मध्य वैकल्पिक क्रियापथ के चुनाव को जान सकेंगे।
- प्रभावशाली निर्णयन हेतु आवश्यक तत्त्वों की जानकारी ले सकेंगे।

11.1 संकल्पना

प्रबन्धन का सर्वव्यापी कार्य निर्णयन है। विभिन्न कार्य पथों में से श्रेष्ठतम कार्यपथ का चयन निर्णयन है। संगठन की स्थापना से समापन के दौरान सभी स्तरों पर एवं निरंतर अनेकानेक निर्णयन लिये जाते है। प्रबन्धकों की सफलता उनकें द्वारा अपनायी गयी निर्णयन प्रक्रिया एवं श्रेष्ठ निर्णयों पर आधारित होती है। प्रबन्धकों को आकस्मिक, गैर परम्परागत तथा दिन प्रतिदिन के निर्णय लेने होते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रबन्धकों को हर कदम पर निर्णय लेने होते हैं। यह प्रबन्धकों का पृथक कार्य न होकर सभी प्रबन्धकीय कार्यो यथा नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण, समन्वय एवं नियन्त्रण में अर्न्तनिहित है।

निर्णय लेना मानवीय स्वभाव भी है, हम विधमान परिस्थितियों में उपलब्ध संसाधनों एवं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निर्णय लेते हैं। जीवन में कभी-कभी हमें अत्यन्त महत्व के निर्णय लेने होते हैं जो जीवन पर्यन्त हमें प्रभावित करते हैं। किसी भी कार्य को करने के लिए अनेक विकल्प अथवा मार्ग अथवा विधियाँ हो सकती हैं। अत: सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि हम ज्ञात करें कि किसी भी कार्य को करने के लिए कितने सम्भव विकल्प हो सकते है और फिर उन विकल्पों में से संगठन के लिए एक सर्वोत्तम विकल्प का चयन किया जाए। कौन-सा विकल्प सर्वोत्तम होगा, यह निर्णय करना संगठन की परिस्थिति, क्षमता तथा आवश्यकता पर निर्भर है।

निर्णयन की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं -

डाल्टन. ई. मैकफारलैंड के अनुसार, "निर्णयन एक चयन प्रक्रिया है जिसके अन्र्तगत एक अधिशासी, दी हुई परिस्थिति में क्या किया जाना चाहिए, के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। निर्णय किसी व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है जिसका चयन अनेक सम्भावित विकल्पों में से किया जाता है।"

जॉर्ज आर. टेरी के अनुसार, "निर्णयन किसी मापदण्ड पर आधारित दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक का चयन है।"'

कून्ट्ज तथा ओ डोनेल के शब्दों में, "निर्णय लेना किसी कार्य को करने हेतु उपलब्ध विकल्पों में से एक का चुनाव करना है, यह नियोजन का केन्द्र स्थल है। विवेकपूर्ण निर्णय का एक निश्चित लक्ष्य होता है।"

आर. एस. डावर के अनुसार, "निर्णयन को दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक व्यावहारिक विकल्प के किसी आधार पर चयन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। निर्णय लेने का अर्थ है व्यावाहारिक रूप से किसी निष्कर्ष पर पहुँचना।"

अर्नेस्ट डेल के अनुसार, "प्रबन्धकीय निर्णय वे निर्णय होते हैं जो सदैव प्रबन्धकीय क्रियाओं जैसे नियोजन, संगठन, कार्मिकों की भर्ती, निदेशन, नियन्त्रण, नव-प्रवर्तन एवं प्रतिनिधित्व में से किसी एक के दौरान लिये जाते है।"

निर्णयन की प्रकृति

निर्णयन को समझने के लिए इसकी प्रकृति या विशेषताओं को जानना आवश्यक है जो निम्नलिखित है-

1. **प्राथमिक कार्य -** प्रत्येक प्रबन्धक को समय-समय पर आवश्यक निर्णय लेने पड़ते हैं। प्रबन्ध की सफलता या असफलता का श्रेय बहुत कुछ सीमा तक प्रबन्धकीय निर्णयों पर निर्भर करता है तथा इसे प्रबन्धकीय-कुशलता का मापदण्ड माना जाता है।
2. **निरन्तरता -** निर्णयन का कार्य किसी न किसी रूप में भूत, वर्तमान और भविष्य सभी से सम्बन्धित होता है। कोई समस्या एक समय उत्पन्न होती है, दूसरे समय में उस समस्या के समाधान के लिए विचार-विमर्श किया जाता है अर्थात् सर्वोत्तम विकल्प का निर्धारण किया जाता है और तीसरे समय में उसके आधार पर निर्णय लिये जाते हैं। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है। एक निर्णय दूसरे को जन्म देता।

3. **निर्णयन और निर्णय में अन्तर है -** निर्णयन एक प्रक्रिया है जिसके आधार पर निर्णय लिया जाता है और यह माना जाता है कि निर्णय इस प्रक्रिया का अन्तिम परिणाम है। निर्णय निर्णयन प्रक्रिया का लक्ष्य है।

4. **वचनबद्धता -** निर्णय लेने वाला व्यक्ति कोई निर्णय लेने के बाद अपने निर्णय से वचनबद्ध हो जाता है। वह सभी कार्य अपने निर्णय के अनुरूप ही करता है। नियोजन एवं अन्य व्यावसायिक क्रियाओं पर निर्णय का प्रभाव पड़ता है। एक प्रबन्धक की कुशलता एवं ख्याति उसके द्वारा लिये गये निर्णयों की सफलता या असफलता पर आधारित होती है। अत: निर्णयकर्ता को निर्णय लेते समय सावधानी बरतनी चाहिए और स्वयं के द्वारा लिए गए सभी निर्णयों के प्रति वचनबद्ध होना चाहिए।

5. **निर्णयन नियोजन हेतु आवश्यक -** न्यूमैन एवं समर का यह कथन उल्लेखनीय है कि "निर्णयन नियोजन का एक महत्वपूर्ण भाग है जिसे हम नियोजन का पर्यायवाची भी कह सकते है।" यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है किन्तु निर्णयन को नियोजन का महत्त्वपूर्ण अंग अवश्य माना जाता है।

6. **तर्क पर आधारित क्रिया -** निर्णयन की प्रक्रिया मानसिक एवं विवेकपूर्ण प्रक्रिया है जो केवल मानव मस्तिष्क द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी निर्णय शत-प्रतिशत सत्य हों, लेकिन निर्णय तथ्यों पर आधारित एवं सर्वोत्तम होना चाहिए।

7. **निर्णय के लिए निर्णय लेना -** कभी - कभी पुराने निर्णयों में सुधार हेतु अथवा उसे कार्यरूप में परिणित करने के लिए निर्णय लेना पड़ता है। इस संदर्भ में यह कहना उचित है कि नये निर्णय केवल सुधारात्मक रूप में ही लिये जाते है।

8. निर्णयन **भावनात्मक. मानवीय एवं सामाजिक** पहलुओं से भी सम्बन्धित है। यह मात्र तर्क एवं बुद्धि पर ही आधारित नहीं है। इसमें व्यवहारगत पहलू मानवीय स्वभाव एवं अनुभव को भी महत्व दिया जाता हैं।

9. निर्णयन की आवश्यकता समस्या के समाधान हेतु **एक से अधिक विकल्प** उपलब्ध होने की दशा में ही होती है।

10. निर्णयन **सकारात्मक या नकारात्मक** अथवा किसी कार्य को करने या न करने के सम्बन्ध में हो सकते है।

11. निर्णयन का उद्देश्य किसी **पूर्व निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करना** होता है।

12. निर्णयन पर **विधमान परिस्थितियों** एवं घट रही घटनाओं का प्रभाव पड़ता है।

13. निर्णयन **सर्वव्यापी** कार्य है । सभी प्रबन्धकीय स्तरों एवं विभिन्न प्रकृति की समस्याओं हेतु निर्णयन की आवश्यकता होती है।

14. निर्णयन **एकाकी** अथवा **सामूहिक,** अधिनायकवादी अथवा सहभागी हो सकता है।

    ड्रकर के अनुसार निर्णय की प्रकृति निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है -

    (i) निर्णय किस सीमा तक फलदायक या लाभदायक होगा?

    (ii) इसका दूसरे व्यवसायों एवं क्षेत्रों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

    (iii) निर्णय सामायिक है अथवा नहीं?

(iv) निर्णय से सम्बन्धित गुणात्मक घटक कितनी मात्रा में हैं?

11.2 निर्णयन का महत्व

समस्त प्रकार के संगठनों में एवं सभी क्षेत्रों में निर्णयन की क्रिया का अपना विशेष महत्व होता है। व्यवसाय के प्रत्येक क्षेत्र में निर्णय लेना आवश्यक होता है। मैलविन टी कोपलेण्ड का कथन उल्लेखनीय है कि 'प्रबन्धन मुख्य रूप से निर्णय लेने की प्रक्रिया है और निर्णय लेने का अधिकार यह देखना कि उसके अनुसार कार्य हो रहा है या नही? यह एक तरह का दायित्व बोध है। व्यावसायिक उपक्रम चाहे छोटा हो अथवा बड़ा उसकी स्थिति में परिवर्तन होता रहता है, कर्मचारियों में बदलाव होता रहता है एवं अनेक आकस्मिक घटनाएँ घटित होती रहती हैं लेकिन इस सब के बावजूद उसकी क्रियाओं को चालू रखने के हेतु निर्णय लेना अनिवार्य है।

जॉज आर. टैरी के मतानुसार, **"प्रबन्धक होने की यदि कोई एक सर्वव्यापक कसौटी है तो वह निर्णयन है।"** इसी प्रकार निर्णयन के महत्व को बतलाते हुए **कोपलैण्ड ने प्रबन्ध को मुख्यत: निर्णय लेने की प्रक्रिया कहा है।** प्रबन्धक जो भी कार्य करता है, वह विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव से ही सम्बन्धित होता है। जहाँ भी गणना तथा सोच-विचार की आवश्यकता होती है, निणर्यन आवश्यक हो जाता है। आधुनिक व्यावसायिक प्रबन्ध में इसका बहुत महत्व है जो कि निम्नलिखित शीर्षकों से स्पष्ट है-

1. **प्रबन्ध का महत्वपूर्ण कार्य -** निर्णयन को अन्य कार्यो - नियोजन, संगठन, समन्वय और नियन्त्रण की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। अर्नेस्ट डेल का यह कथन सत्य ही है कि प्रबन्धकीय निर्णयों का अभिप्राय उन निर्णयों से है जो कि सदैव सभी प्रबन्धकीय क्रियाओं - नियोजन, संगठन, नियन्त्रण, निर्देशन, कर्मचारियों की भर्ती, नव-प्रवर्तन और प्रतिनिधित्व के कार्यो में लिए जाते हैं। अत: प्रबन्धक को समय-समय पर किसी-न-किसी प्रकार का कोई-न-कोई निर्णय अवश्य लेना पड़ता हैं।

2. **व्यावसायिक नीतियों को निर्धारित करने में -** व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में निर्णयन का योगदान होता है। जब भी कोई व्यावसायिक नीति निर्धारित की जाती है, तब उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के निर्णय लिए जाते है। इन निर्णयों का सम्बन्ध व्यवसाय के विभिन्न विभागों एवं उपविभागों से होता है निर्णयन के दौरान इस कार्य में पूर्ण सावधानी बरती जाती है।

3. **प्रबन्धकीय योग्यता का मापदण्ड -** प्रबन्धक द्वारा लिए गए निर्णय उसको योग्यता, कुशलता और चतुराई के मापदण्ड माने जाते है। जब किसी प्रबन्धक के निर्णय तत्कालीन परिस्थितियों में खरे उतरते हैं, तो उसे कुशल प्रबन्धक माना जाता है और यदि ये निर्णय असंगत है तो प्रबन्धक को असफल, अयोग्य या अदूरदर्शी माना जाता है। अत: एक प्रबन्धक का प्रबन्ध कौशल पूर्णरूपेण निर्णयन की क्रिया पर आधारित होता है।

4. **प्रबन्ध का सहगामी -** व्यावसायिक प्रबन्ध एवं निर्णयन एक - दूसरे के सहगामी है। अत: इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है क्योंकि ये दोनों ही कार्य साथ-साथ किये है। **प्रो. साइमन** ने कहा है कि प्रबन्ध एवं निर्णयन कोई अलग कार्य नहीं हैं, अपितु एक दूसरे के पर्याय

है।' यदि यह कहा जाए तो किसी प्रकार भी अनुचित नहीं होगा कि प्रबन्ध बिना निर्णय के एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

5. **नवीन तकनीकों एवं परिवर्तनों को लागू करने -** समय परिवर्तनशील है और आधुनिक समय में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए है अत इन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण नई-नई तकनीकों को जन्म मिला है जिन्हें व्यवसाय में लागू करने से अनेक लाभ हो सकते है। अत: नई तकनीक एवं परिवर्तनों को लागू करने के लिए निर्णयन का कार्य आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है।

6. **सार्वभौमिक एवं सर्वव्यापी क्षेत्र -** निर्णयन का क्षेत्र भी प्रबन्ध की भांति सार्वभौमिक एवं सर्वव्यापी है। अत: जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें हम बिना निर्णय लिए एक कदम भी आगे बढ़ सकें।

7. **निर्णय साध्य और साधन दोनों से सम्बन्धित है -** एक व्यवसाय में परिस्थितियों एवं साधन दोनों के बारे में निर्णय लिए जाते हैं।

8. **प्रबन्ध के आधारभूत कार्यो का निष्पादन -** निर्णय लेना प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण पहलू है। बिना निर्णय लिये किसी संगठन में कोई भी कार्य निष्पादित नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक उपक्रम के नियोजन से नियन्त्रण तक के समस्त कार्यो में निर्णयन आवश्यक है। निर्णयन के अभाव में नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण, समन्वय तथा नियन्त्रण के कार्यो का सम्पादन नहीं किया जा सकेगा। इसीलिए **टैरी** ने निर्णयन को प्रबन्धकीय-कार्यो के निष्पादन के लिए आधारभूत तत्व माना है तथा **साइमन ने निर्णयन को प्रबन्ध के समानार्थक माना है।** प्रबन्ध कार्यो में निर्णयन के महत्व को निम्न बिन्दुओं की मदद से समझा जा सकता है :

   (i) **नियोजन की आत्मा -** संस्था के द्वारा किन-किन नीतियों एवं कार्य-विधियों को अपनाया जायेगा, कार्य-निष्पादन की रीति एवं नियम क्या होंगे, लक्ष्यों की प्राप्ति की व्यूह-रचना क्या होगी? इन सभी में निर्णय लेने पड़ते हैं। इसलिए निर्णयन को नियोजन का आधार माना जाता है।

   (ii) **सुदृढ़ संगठन संरचना का आधार -** संगठन संरचना एक ढाँचा है जिसके अन्तर्गत समस्त प्रबन्धकीय एवं परिचालनीय कार्य सम्पादित किये जाते है। इसके लिए कौन व्यक्ति क्या कार्य करेगा, उसके अधिकार क्या होंगे, वह किसके प्रति जवाबदेह होगा आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेने पड़ते हैं। इसलिए प्रभावी निर्णयन व्यवस्था से ही प्रभावी संगठन संरचना की जा सकती है।

   (iii) **प्रभावी नियुक्तियाँ -** उपक्रम की मानवीय संसाधन सम्बन्धी आवश्यकताओं के प्रभावी सन्तुष्टि के लिए चयन, प्रशिक्षण, अनुरक्षण आदि के सम्बन्ध में अनेक निर्णय लिए जाने आवश्यक हैं।

   (iv) **प्रभावी निर्देशन -** निर्देशन व्यक्तियों को पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रभावित एवं प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया है। यह पर्यवेक्षण, अभिप्रेरणा, नेतृत्व एवं सम्प्रेषण के तत्वों का संयोजन है। इन सभी तत्वों के सम्बन्ध में प्रभावशाली निर्णय लिये बिना व्यक्तियों को लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित किया जाना सम्भव नहीं होगा। अत: निर्णयन को सफल निर्देशन का आधार माना जाता है।

(v) प्रभावी नियन्त्रण आधार - नियन्त्रण प्रमापों के निर्धारण, वास्तविक कार्यो से उनकी तुलना, विचलनों का पता लगाने तथा सुधारात्मक कार्य करने के चरणों का संयोजन है। प्रत्येक चरण के सम्बन्ध में अनेक निर्णय लिये जाते हैं। इसलिए कहा जाता है कि नियन्त्रण निर्णयन पर आधारित है।

9. **प्रबन्ध के पेशाकरण पर बल -** निर्णयन एक मानवीय क्रिया है। प्रभावशाली निर्णयन, निर्णयनकर्त्ता की दक्षता तथा कुशलता पर निर्भर करता है। व्यवसाय की सफलता का मापक होने के कारण यह आवश्यक है कि निर्णय अच्छे हों और अच्छे एवं प्रभावशाली निर्णय वे ही प्रबन्धक ले सकते हैं जो इस कार्य के विशेषज्ञ हों। इसलिए यह प्रबन्ध के पेशाकरण पर बल देता है। जान मैक्डोनाल्ड के इन शब्दों से कि 'एक व्यावसायिक प्रबन्धक एक पेशेवर निर्णयनकर्त्ता होता है ' प्रबन्ध के पेशाकरण की बात स्पष्ट होती है।

10. **उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग -** श्रम, मुद्रा, मशीन, सामग्री आदि जो साधन उपक्रम के पास उपलब्ध हैं, उनका श्रेष्ठतम तथा अधिकतम उपयोग निर्णयन की प्रभावशीलता पर ही निर्भर करता है। यदि निर्णय प्रभावशाली तथा व्यावहारिक हैं तो इन साधनों का अधिकतम विदोहन किया जा सकेगा और यदि निर्णय भ्रमात्मक तथ्यों तथा अविवेक पर आधारित हैं तो उपलब्ध साधनों का सदुपयोग सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए यदि समस्त साधनों के उपयोग को अधिकतम करना है तो प्रभावशाली निर्णयन की प्रक्रिया का निर्माण करना होगा।

11. **समस्याओं का समाधान -** संस्थान में अनेक समस्याएँ जन्म लेती है, इनके त्वरित समाधान की आवश्यकता प्रत्येक प्रबन्धक द्वारा महसूस की जाती है। क्योंकि अनेक विद्वान निर्णयन को समस्या समाधान की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते है, इसलिए समस्या समाधान के लिए निर्णयन की आवश्यकता महसूस की जाती है। निर्णयन की सहायता से प्रभावी ढंग से समस्याओं का निराकरण किया जाना सम्भव हो सकेगा।

12. **जोखिमों को सीमित करना -** निर्णयन द्वारा निश्चितता लाने का प्रयास किया जाता है। आधुनिक युग में निर्णयन में अनेक वैज्ञानिक तकनीकों का उपयोग किया जाता है, जिसकी सहायता से विवेकपूर्ण निर्णय लिया जाना आसान हो गया है और जोखिम तथा संकटों का पूर्वानुमान लगाया जाना सम्भव हु आ है। परिणामस्वरूप अधिक सुदृढ़ एवं विश्वसनीय निर्णय लिये जा सकेंगे जो व्यवसाय की जोखिम में कमी लायेंगे।

13. **उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए -** प्रत्येक उपक्रम का निर्माण किन्हीं विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि निर्णय ऐसे हों जिनकी मदद से उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति में कठिनाई नहीं आये। इसलिए ही विद्वानों ने निर्णयन को उपक्रम की रीढ़ की हड्डी की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपक्रम का स्वरूप कैसा भी हो, उसे अपने निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु, उपलब्ध साधनों के अधिकतम उपयोग के लिए, प्रबन्धकों की सफलता मापने के लिए तथा प्रबन्ध के विभिन्न कार्यो के निष्पादन के लिए निर्णयन को आधार बनाना होता है। यही कारण है कि निर्णयन को **प्रबन्ध की आत्मा** कहा गया है।

11.3 निर्णयों के प्रकार

निर्णय अनेक प्रकार के होते हैं। विभिन्न प्रबन्ध शास्त्रियों ने आवश्यकता के आधार पर निर्णय के अनेकानेक प्रकार बतलाए है। यहाँ निर्णय के कुछ प्रमुख प्रकारों से आपको अवगत कराया जा रहा है।

1. **कार्यक्रमिक एवं अकार्यक्रमिक निर्णय - हरबर्ट ए. साइमन** ने निर्णयों को कार्यक्रमिक एवं अकार्यक्रमिक दो भागों में विभक्त किया है। कार्यक्रमिक निर्णय पूर्व निर्धारित नीतियों, नियमों या प्रक्रियाओं के अन्तर्गत लिये जाते हैं। ये आवर्ती प्रकृति के होते हैं। इस प्रकार के निर्णयों के लिए एक निश्चित प्रणाली का निर्धारण कर दिया जाता है। जैसे - उपक्रम में रूग्णता अवकाश के लिये बनायी गयी नीति के अन्तर्गत कर्मचारियों को रूग्णता अवकाश देने के निर्णय, उपक्रम की आधार नीति के अनुसार क्रेताओं को उधार विक्रय का निर्णय आदि।

   अकार्यक्रमिक निर्णय अनुपम नवीन एवं अप्रत्याशित होते है। ऐसे निर्णयों को लेने के लिए कोई पूर्व निश्चित नीति, प्रक्रिया या प्रणाली नहीं होती। क्योंकि इनसे सम्बन्धित समस्या या तो पहले कभी उत्पन्न ही नहीं हुई या उसका पहले अनुमान ही नहीं था। अत: ऐसी समस्याओं के समाधान हेतु निर्णय लेने के लिये, उचित नीति व कार्यविधि विकसित करनी पड़ सकती है। इस समस्या के समाधान हेतु समस्या के कारणों का अध्ययन करना होगा, विश्लेषण करना होगा और समाधान हेतु उचित निर्णय लेना होगा। उदाहरणार्थ किसी कम्पनी के उत्पाद विशेष के अप्रचलित हो जाने की दशा में क्या किया जाना चाहिए?

2. **मुख्य व गौण निर्णय -** मुख्य निर्णय उपक्रम के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं इनका उपक्रम पर व्यापक व दूरगामी प्रभाव होता है। अत: ऐसे निर्णयों के लिए गहन अध्ययन पर्याप्त विवेक दूरदृष्टि आदि की आवश्यकता होती ऐसे निर्णय को लेने में तनिक भी असावधानी होने की दशा में घातक परिणामों का सामना करना पड़ सकता है। ऐसे निर्णयों के लिए चिन्तन, मनन, विश्लेषण व विचार - विमर्श द्वारा नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी करना पड़ सकता है। मुख्य निर्णयों के प्रभाव सामन्यत: दीर्घकालीन होते हैं। इन निर्णयों में वस्तु मिश्रण निर्धारण व परिवर्तन, संयंत्र अभिन्यास व उत्पाद की निर्माण प्रक्रिया का निर्धारण व उसमें परिवर्तन; एवं वितरण के माध्यमों का चयन सम्मिलित है। गौण निर्णय उपक्रम की दिन प्रति दिन की क्रियाओं के सम्बन्ध में होते है। उपक्रम पर इनका सीमित व अल्पकालिक प्रभाव ही होता है। इन्हें लेने में अधिक विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं होती। गौण निर्णय अल्पावधि एवं अल्प प्रभावयुक्त होने से विशेष महत्व के नहीं होते हैं। इन्हें लेने की विधि भी पूर्व निर्धारित होती है।

3. **नीतिगत या नीति सम्बन्धी और कार्यकारी निर्णय -** ऐसे निर्णय जो उच्च प्रबन्धकों या संचालक मण्डल द्वारा अधीनस्थ अधिकारियों के मार्गदर्शन हेतु लिये जाते है, नीति सम्बन्धी निर्णय कहलाते है। ये निर्णय अधीनस्थ अधिकारियों के लिये नीति निर्माण करते हैं। ऐसे निर्णयों में उपक्रम की उत्पादन, वित्त, विपणन व सेविवर्गीय नीतियों के निर्धारण से सम्बन्धित होते है। इसके विपरीत जो निर्णय कार्य करने वाले व्यक्तियों द्वारा कार्य करते समय (नीतियों के

अलोक में) उनके द्वारा ही ले लिये जाते हैं, कार्यकारी निर्णय कहलाते हैं। ऐसे निर्णय नीतिगत निर्णयों द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत ही लिये जाते हैं।

4. **संगठन स्तरीय, अन्तरविभागीय एवं विभागीय निर्णय -** ऐसे निर्णय जो उच्च अधिकारियों द्वारा सम्पूर्ण उपक्रम (सभी संयंत्रों व विभागों) पर लाग होतें है, उपक्रम के या उपक्रम स्तरीय निर्णय कहलाते है। ऐसे निर्णय उपक्रम के सभी संयंत्रों, विभागों एवं उनमें कार्यरत कर्मचारियों पर लागू होते हैं एवं उन्हें प्रभावित करते हैं। इन निर्णयों को उच्चस्तरीय निर्णयों के नाम से भी जाना जाता है। अन्तरविभागीय निर्णय वे होते है जो एक से अधिक विभागों से सम्बन्धित होते हैं एवं उन सभी विभागों के अधिकारियों द्वारा परस्पर विचार - विमर्श के पश्चात् लिए जाते है। ऐसे निर्णय विभिन्न विभागों की क्रियाओं में एकरूपता एवं समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से लिये जाते है। विभिन्न विभागों की पारस्परिक निर्भरता की स्थिति में मिलकर निर्णय लेने से मतभेदों का निवारण होता है व समरूपता आती है। किसी विभागाध्यक्ष द्वारा अपने अधिकारों की सीमा के भीतर अपने विभाग के कार्यकलापों के सम्बन्ध में लिये गये निर्णय, विभागीय निर्णय कहलाते है। ऐसे निर्णय उस विभाग के कार्य संचालन को ही प्रभावित करते है।

5. **संगठनात्मक एवं व्यक्तिगत निर्णय -** संगठनात्मक निर्णय एक अधिशाषी या अधिकारी अपनी अधिकारिक स्थिति में लेता है। ऐसे निर्णय वह संगठन में अपने अधिकारों का उपयोग करते हु ए लेता है और इन्हें वह अन्य व्यक्तियों को प्रत्यायोजित भी कर सकता है। वे निर्णय उत्पादन मात्रा, किस्म, सामग्री क्रय, मूल्य निर्धारण, विज्ञापन आदि से सम्बन्ध में हो सकते है। व्यक्तिगत निर्णय एक अधिकारी द्वारा संगठन के अधिकारी की स्थिति में न लिये जाकर व्यक्तिगत स्थिति में लिये जाते हैं और अन्य व्यक्तियों को प्रत्योजित नहीं किये जा सकते है। संगठनात्मक निर्णय संगठन के लिये होते है जबकि व्यक्तिगत निर्णय व्यक्ति के स्वयं के लिये होते हैं।

6. **नैत्यिक एवं आधारभू त व्यूह रचना सम्बन्धी निर्णय -** नित्य प्रति के कार्यो से सम्बन्धित निर्णय नैत्यिक या दैनिन्दिन या सामान्य निर्णय कहलाते है, जैसे - दैनिक क्रय आदेशों की पूर्ति, व्यापारिक बट्टा, मात्रा बट्टा आदि देने के निर्णय आदि। ऐसे निर्णय व्यवसाय के सामान्य संचालन में निरन्तर लिये जाते रहते है तथा अपेक्षाकृत अल्प महत्व के होते है। इसके विपरीत व्यूह रचना सम्बन्धी निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण होते है एवं व्यवसाय के भविष्य पर दीर्धकालिक प्रभाव डालते है। जैसे-- व्यवसाय के उद्देश्यों का निर्धारण, वस्तु मिश्रण निर्धारण, संयन्त्र अभिन्यास, प्रौद्योगिकी का चुनाव आदि।

7. **व्यक्तिगत एवं सामूहिक निर्णय -** जब निर्णय केवल एक व्यक्ति या एक अधिकारी द्वारा बिना किसी अन्य सहकर्मी या अधिनस्थ की सहभागिता के लिया जाए तो उसे व्यक्तिगत निर्णय कहते है। इसके विपरीत जिन निर्णयों को लेने में सहकर्मियों, अधिनस्थों या सम्पूर्ण समूह को शामिल किया जाए वे समूह निर्णय कहलाते हैं। यह एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसमें एक से अधिक व्यक्ति मिलकर पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा निर्णय लेते हैं। समूह निर्णय के कुछ लाभ निम्नलिखित हैं -

- सामूहिक निर्णय का क्रियान्वयन सभी का नैतिक दायित्व बन जाता है, जिससे इन्हें सफलता से क्रियान्वित किया जा सकता है।
- समूह निर्णय से स्वत: समन्वय स्थापित हो जाता है।
- समूह निर्णय का समूह को स्वतः सम्प्रेषण हो जाता है।
- अनेक व्यक्तियों के सुझावों व विचार-विमर्श से सुविचारित व बेहतर निर्णय लिये जा सकते है।

समूह निर्णय में कुछ दोष निम्नलिखित हैं -

- समूह निर्णय में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।
- पारस्परिक सहमति विकसित न होने पर अनिर्णय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
- समूह निर्णय कई बार तुष्टिकरण के आधार पर लिये जाते हैं।
- समूह निर्णयों में समूह प्रभावी होते हैं।
- इसमें प्राय: गोपनीयता नहीं रहती है।

8. **विवेकपूर्ण व अन्त-प्रेरणात्मक निर्णय -** जब निर्णय आवश्यक तथ्यों व सूचनाओं का संकलन करने व उचित मूल्यांकन करके लिये जाते हैं तो वे विवेकपूर्ण या वैज्ञानिक निर्णय कहलाते है। जो निर्णय व्यक्ति मात्र अपने पूर्व अनुभव व आन्तरिक विश्वास के आधार पर बिना विशेष विश्लेषण के लेता है वे अन्त: प्रेरणात्मक निर्णय कहलाते हैं। सामान्यतया व्यवसाय के प्रमुख व व्यूह-रचना सम्बन्धी निर्णय विवेकपूर्ण व वैज्ञानिक आधार पर ही लिये जाते हैं जबकि नित्य प्रति के अल्प महत्व के निर्णय अन्तःप्रेरणा के आधार पर लिये जा सकते हैं। जिन निर्णयों से अधिक लाभ या जिनमें अधिक जोखिम सन्निहित होती हो वे समुचित तथ्यान्वेषण के बाद विवेक सम्मत आधार पर ही लिये जाते हैं।

9. **अन्य प्रकार -** उपरोक्त महत्वपूर्ण प्रकारों के अतिरिक्त निर्णयों को निम्नलिखित प्रकार से भी वर्गीकृत किया गया है -
   - जो निर्णय पूर्व -निर्धारित योजना पर आधारित होते हैं, उन्हें **'नियोजित निर्णय'** कहते हैं। ऐसे निर्णय एक व्यवस्थित व वैज्ञानिक विधि के अनुसार लिये जाते हैं तथा वे ठोस तथ्यों पर आधारित होते हैं।
   - **अनियोजित निर्णय** से आशय उस निर्णय से है जो विशिष्ट परिस्थिति में या अमुक अवसर पर लिया गया हो एवं जिसका आधार कोई पूर्व-निर्धारित योजना न हो।
   - **प्रशासकीय निर्णय** वे निर्णय होते हैं जो नीति निर्णय से कम महत्व के होते हैं और मध्य स्तरीय या संचालक मण्डल स्तर के अधिकारियों द्वारा लिये जाते हैं।

11.4 निर्णयन प्रक्रिया

निर्णयन का कार्य क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप में निष्पादित किया जाता है। इस प्रक्रिया में अनेक चरण निहित है। विभिन्न प्रबन्ध विद्वानों ने निर्णयन प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न संख्या में चरण बतलाये हैं। **पीटर एफ- ड्रकर** ने जहाँ पांच चरणीय प्रक्रिया बतलाई है। वहाँ **हर्बर्ट साइमन** ने तीन चरण वाली निर्णयन प्रक्रिया (अन्वेषण डिजाइन एवं चुनाव) का उल्लेख किया है। **आर. एस. डाबर** ने निर्णयन की प्रक्रिया को पांच भागों में विभाजित किया है तो **स्टेनले बेन्स** ने

प्रत्यक्ष ज्ञान, धारक, अन्वेषण, विचार-विमर्श, चुनाव एवं घोषणाके साथ छः स्तरीय प्रक्रिया का तर्क प्रस्तुत किया हैं।

निर्णयन का कार्य आसान नहीं हैं इसे पूरा करने हेतु निम्नलिखित सप्त स्तरीय चरणों से गुजरना पड़ता है :

1. **समस्या की व्याख्या करना :** जिस प्रकार रोग की जानकारी के बिना एक चिकित्सक द्वारा सही उपचार सम्भव नहीं है उसी प्रकार प्रबन्ध के क्षेत्र में कोई भी निर्णय लेना समस्या को सही रूप में समझे बिना सम्भव नहीं है। यह निर्णय प्रक्रिया का प्रथम चरण होता है। समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है कि प्रबन्धक सर्वप्रथम उसे सही रूप में समझ लें। प्रबन्धकों द्वारा समस्या को सही रूप में समझना उसके समाधान की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास होता है। जिस प्रकार एक बीमारी का भली प्रकार परीक्षण उसका आधा निदान माना जाता है, ठीक उसी प्रकार समस्या को भली प्रकार समझना भी उसके सही समाधान की ओर बढने के समान है।

उदाहरणार्थ जब एक व्यावसायिक संगठन में कुल विक्रय की मात्रा गिरने लगे तो स्पष्टत: इसका बाहरी कारण उच्च विक्रय मूल्य समझा जाएगा, क्योंकि माँग व पूर्ति के आर्थिक नियम के अनुसार, यदि मूल्य ऊंचे होते हैं तो माँग गिरती है। परन्तु यह भी हो सकता है कि विक्रय में कमी का कारण आर्थिक न होकर प्रबन्धकीय हो, अथवा दूसरे शब्दों में, वस्तु की किस्म में गिरावट या विक्रय प्रयासों में शिथिलता के कारण भी विक्रय की मात्रा कम हो सकती है। समस्या के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना यदि प्रबन्धक विक्रय-वृद्धि हेतु वस्तु-मूल्य घटाने का निर्णय लें, तो लाभ के स्थान पर हानि की आशंका हो सकती है। इसी प्रकार यदि संस्था के लाभों में कमी आ रही हो तो उसके वास्तविक कारण जानना आवश्यक है। लाभ कम होने के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे - कच्चे माल का दुरूपयोग, श्रामिकों की कार्यकुशलता में कमी, कम बिक्री, अधिक उत्पादन लागत आदि।

अत: समस्या के कारणों व प्रभावों की समझ आवश्यक है। मात्र सामान्य लक्षणों के आधार पर समाधान खोजना जोखिमपूर्ण हो सकता है।

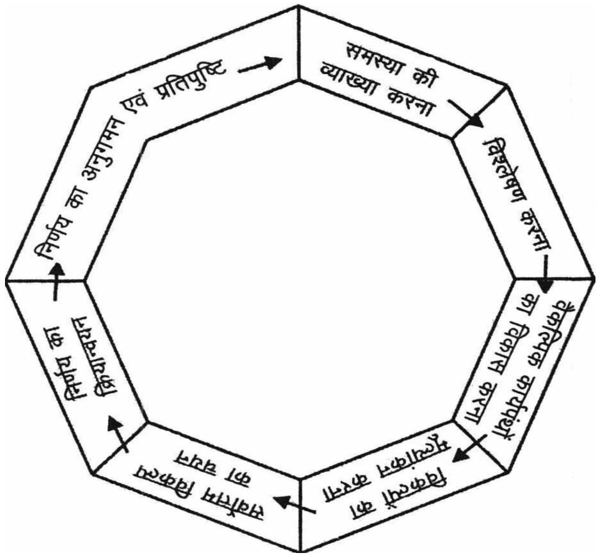

2. **समस्या का विश्लेषण करना :** यह निर्णयन प्रक्रिया का दूसरा चरण है जिसमें समस्या का विश्लेषण किया जाता है ताकि वैकल्पिक समाधानों का विकास किया जा सके। डावर के अनुसार समस्या के विश्लेषण में तीन सिद्धान्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं - निर्णय की भविष्यता। इससे आशय उस अवधि से है, जिसके लिए निर्णय लिया जाता है। यदि निर्णय दीर्घकालीन है तो उच्च प्रबन्ध द्वारा लिया जाना चाहिए। निर्णय के प्रभाव क्षेत्र से आशय निर्णय से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों एवं कार्यो से है। यदि निर्णय से सम्पूर्ण संस्था प्रभावित होगी. तो उच्च स्तरीय प्रबन्धकों को निर्णय लेना चाहिए। यदि निर्णय ऐसा है जिससे संस्था का एक विशिष्ट विभाग प्रभावित होता है, तो प्रभावित होने वाले विभाग के प्रबन्धक द्वारा ही यह निर्णय लिया जाना चाहिए। गुणात्मक विचारों की संख्या से तात्पर्य उन गुणात्मक घटकों से है जो निर्णय लेते समय सामने आते हैं। यदि निर्णय संस्था की नीति, नियम, कार्य-विधि, संगठन-संरचना आदि को प्रभावित करने वाला हो, तो उच्च प्रबन्ध द्वारा लिया जाना चाहिए। समस्या का विश्लेषण करने का उद्देश्य निम्नलिखित प्रमुख तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना होता है -

- निर्णय किसे लेना है?
- निर्णय लेने के लिए किन-किन व्यक्तियों से परामर्श लेना है?
- निर्णय लेने हेतु कौन-कौन सी सूचनाएँ एकत्रित करनी है?
- निर्णय की सूचना किन व्यक्तियों को देनी है? ये वे व्यक्ति होते हैं जो निर्णय से सम्बन्धित हैं।

उक्त बातों पर पूर्व-विचार करने से निर्णय क्रियान्वयन में आसानी रहती है। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि समस्या के विश्लेषण के लिए समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करना भी आवश्यक होता है। तथ्यों के एकत्रीकरण के लिए सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है। तथ्यों के पर्याप्त एकत्रीकरण पर ही समस्या का उचित समाधान निर्भर करता है। एकत्रित तथ्य जितने अधिक शुद्ध होंगे, लिए गए निर्णय उतने ही श्रेष्ठ एवं प्रभावी होंगे। अत: तथ्यों के एकत्रीकरण का कार्य योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए। किसी समस्या के विश्लेषण में समस्त तथ्यों का उपलब्ध होना प्राय: कठिन हो जाता है। कुछ तथ्य उपलब्ध ही नहीं होते तथा कुछ की प्राप्ति में अधिक श्रम व समय लगता है। अत: किसी समस्या के विश्लेषण में समस्त सम्बन्धित तथ्यों की प्राप्ति पर अधिक बल नहीं देना चाहिए। जो तथ्य उपलब्ध न हों, उसके सम्बन्ध में अनुमान से काम चला लेना चाहिए। गत कुछ समय से निर्णय लेने में समस्या के विश्लेषण तथा वैकल्पिक निदानों के विकास के लिए परिचालन अनुसन्धान का महत्व बहुत बढ़ गया है।

3. **वैकल्पिक कार्यपंथों का विकास करना :** समस्या को ठीक ढंग से समझने और उसका विश्लेषण करने के पश्चात् प्रबन्धकों को उसके समाधान हेतु विभिन्न वैकल्पिक समाधानों की खोज करनी होती है। यहाँ यह स्पष्ट करना भी उपयुक्त होगा कि शायद ही कोई ऐसी समस्या होगी जिसके लिए वैकल्पिक समाधानों की खोज नहीं की जा सकती। अन्य शब्दों में, किसी समस्या का एक समाधान न होकर अनेक समाधान हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी उपक्रम में पुरानी एवं अप्रचलित मशीनरी के प्रयोग के कारण उत्पाद की किस्म एवं विक्रय की मात्रा निरन्तर घटती जा रही है, तो इस परिस्थिति का सामना करने के लिए अनेक वैकल्पिक हल

हो सकते है, जैसे - (i) पुराने संयन्त्रों को प्रतिस्थापित करके नवीन व आधुनिक संयन्त्रों को उपयोंग में लाना (ii) किसी अन्य निर्माता को (जहाँ आधुनिकतम मशीनें लगी हो) उत्पादन का ठेका देना, (iii) उत्पादन-कार्य को पूर्णत: स्थगित कर देना, (iv) किसी अन्य निर्माता को विक्रय प्रतिनिधि बनाना आदि। अन्तिम निर्णय लेने के पूर्व इन सभी विकल्पों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए तथा बाद में सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना चाहिए।

4. **विकल्पों का मूल्यांकन करना :** निर्णयन के द्वारा हम सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करते हैं। इसके लिए सभी उपलब्ध वैकल्पिक साधनों के गुण-दोष जानना आवश्यक होता है। सामान्यत: वैकल्पिक समाधानों का मूल्यांकन, विकल्पों की उपयुक्तता, विकल्पों का उद्देश्य-पूर्ति में योगदान, समय एवं परिणाम आदि बातों को ध्यान में रखकर किया जाता है। वैकल्पिक समाधानों के मूल्यांकन का कार्य एक जटिल कार्य है। अत: समस्या की व्याख्या और विश्लेषण का कार्य योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों को ही सौंपा जाना चाहिए।

5. **सर्वोत्तम विकल्प का चयन :** वैकल्पिक समाधानों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करने के लिए अनेक प्रमाप या आधार होते है। सर्वश्रेष्ठ समाधान के चयन के लिए निम्नलिखित प्रमापों या आधारों का प्रयोग किया जा सकता है -

   – **जोखिम -** किसी समसया के समाधानों में अल्प अथवा अधिक जोखिम अवश्य विद्यमान होती है। अत: प्रबन्धक को प्रत्येक समाधान के सम्भावित लाभों के सन्दर्भ में उससे उत्पन्न होने वाली जोखिमों पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

   – **प्रयास में मितव्ययता -** उपलब्ध वैकल्पिक समाधानों में से ऐसे समाधान का चयन किया जाना चाहिए, जिससे न्यूनतम प्रयत्नों से अच्छे परिणामों की प्राप्ति की जा सके।

   – **समाप्ति दर -** समाधानों की संख्या में कमी करने के लिए समाप्ति दर का प्रयोग भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक संस्था अपने साथ अन्य संस्थाओं को सम्मिलित करने के सम्बन्ध में निर्णय लेना चाहती है। इस निर्णय के उद्देश्य में यह संस्था का समाप्ति दर निश्चित कर लेती है अर्थात ऐसी संस्था को सम्मिलित नहीं किया जाएगा जो करों की अदायगी के पश्चात् 10% या उससे कम शुद्ध लाभार्जन करती हो। ऐसी दशा में निर्णय लेते समय वे सस्थाएँ स्वत: ही विचार-क्षेत्र में पृथक हो जाएँगी जो करों की अदायगी के पश्चात् 10% या इससे कम शुद्ध लाभार्जन करती हों।

   – **समयानुकूलता -** प्रत्येक निर्णय किसी एक विभाग को ही नहीं अपितु अनेक विभागों को प्रभावित करता है। अत: लिया जाने वाला निर्णय समयानुकूल होना चाहिए ताकि इससे सम्बन्धित व्यक्तियों को उचित समय पर सूचित किया जा सके।

   – **बाह्य प्रभाव -** वैकल्पिक समाधानों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करते समय इस बात पर भी पर्याप्त विचार कर लेना चाहिए कि लिए गए निर्णय का संस्था के बाहर क्या प्रभाव होगा।

   – **साधनों की सीमा -** वैकल्पिक समाधानों में से किसी का चयन करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि लिए गए निर्णयों को क्रियान्वयन करने के लिए संस्था के पास मानवीय साधन (कर्मचारी) उपलब्ध है या नहीं। **आर. एस. डाबर** के शब्दों में, किसी

समस्या का तब कोई समाधान नहीं होता जब वह कागजों तक ही सीमित रह जाए और लागू करने पर साधनों की कमी से असफल सिद्ध हो जाए।"

वैकल्पिक समाधानों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करते समय उपरोक्त आधारों पर विचार करने की भी कुछ प्रमुख विधियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं - (i) अनुभव (ii) प्रयोग (iii) अनुसन्धान एवं विश्लेषण

(i) अनुभव - अनुभव व्यक्ति का सबसे बड़ा शिक्षक एवं मार्गदर्शक होता है। अत: प्रत्येक प्रबन्धक वैकल्पिक समाधानों में सर्वश्रेष्ठ का चयन करते समय अपने स्वयं के अनुभवों के साथ-साथ अन्य प्रबन्धकों के अनुभवों का भी लाभ उठाता है। **कूण्ट्ज एवं ओं डोनेल** के अनुसार, "अनुभव एवं तथ्य इतिहास के विषय होते हैं और उनका सम्बन्ध भूतकाल से होता है। अच्छे निर्णयों का मूल्यांकन भावी घटनाओं के आधार पर होना चाहिए।" अत: अन्त में यह कहा जा सकता है कि पूर्व अनुभवों का वैज्ञानिक विश्लेषण करके भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सर्वश्रेष्ठ समाधान का चयन करना चाहिए।

(ii) प्रयोग - किसी कार्य को करने के सर्वश्रेष्ठ ढंग का चयन विभिन्न प्रयोगों पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक समाधान को व्यवहार में लागू करके उसकी उपयोगिता की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। चयन की इस विधि का सदैव प्रयोग लाभप्रद नहीं होता क्योंकि इसमें श्रम, समय एवं पूँजी आदि का व्यय होता है।

(iii) अनुसन्धान एवं विश्लेषण - समस्या के वैकल्पिक समाधान संस्था के मूर्त और अमूर्त घटकों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। इस विधि के अन्तर्गत वैकल्पिक समाधानों का गणितीय अध्ययन किया जाता है और प्रत्येक की उपादेयता जानी जाती है।

6. **निर्णय क्रियान्वयन -** निर्णय लेना ही पर्याप्त नहीं होता। निर्णय का तब तक कोई महत्व नहीं है जब तक उसे सही प्रकार लागू न किया जाए। किसी निर्णय के' कार्यान्वयन से पूर्व यह नितान्त आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति निर्णय से प्रभावित हों; उन्हें सम्पूर्ण निर्णय की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो जाए। कोई भी निर्णय उसी दशा में सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है जबकि सभी सम्बन्धित व्यक्ति उसे अपना निर्णय समझें। निर्णय को लागू करने वाले व्यक्तियों को निर्णय की सूचना उसी भाषा में दी जानी चाहिए जिसे वे अच्छी तरह समझते हों। इसके अतिरिक्त, निर्णय को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए यह भी आवश्यक है कि निर्णय से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों का निर्णय प्रक्रिया में एवं विशेष तौर से एवं वैकल्पिक समाधानों को विकसित करने में, उनका मूल्यांकन करने में और सर्वश्रेष्ठ का चयन करने में सहयोग प्राप्त किया जाए। इसके लिया गया निर्णय सम्बन्धित व्यक्तियों की अलोचना का विषय नहीं बन पाता, अपितु उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है और क्रियान्वयन में सभी का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर लेता है।

7. **निर्णयों का अनुगमन अथवा प्रतिपुष्टि -** निर्णय लागू करने के बाद उसका अनुसरण एक महत्वपूर्ण कदम है, जिसके आधार पर त्रुटियों को सुधारा जाता है। निर्णय का अनुसरण करके ही निर्णय लेने वाले व्यक्तियों की कुशलता एवं निर्णय की व्यवहारिकता का पता लगाया जा सकता है। यदि निर्णय गलत एवं अव्यवहारिक हे तो प्रबन्धकों को समस्या पर पुन: विचार

करके उसमें आवश्यक संशोधन करना प्रबन्धकों की प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं करता अपितु यह उनकी बुद्धिमत्ता का प्रतीक ही होता हे।

11.5 निर्णयन विधियाँ अथवा तकनीकें

व्यवसाय के क्षेत्र में जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं। अनेक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं तकनीकी परिवर्तन इस तीव्र गति से हो रहे हैं कि निर्णयन प्रक्रिया जटिलतम होती जा रही जिसके कारण उचित निर्णय तक पहुंचने के लिए विविध परिमाणात्मक व अपरिमाणात्मक तकनीकों का उपयोग किया जाता है। निर्णयन की इन तकनीकों को निम्न दो प्रमुख वर्गो में विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता हैं -

I. **अपरिमाणात्मक तकनीकें या विधियां :** सामान्य एवं आवर्ती प्रकृति के निर्णयों के लिए जिनमें विशेष जटिलता न हो, विशेष तथ्यान्वेषण की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे निर्णय सरल एवं अपरिमाणात्मक विधियों से लिये जा सकते हैं। इन **विधियों में प्रमुख निम्न हैं -**

1. **अनुमान विधि -** निर्णयन की यह सरलतम व मितव्ययी विधि है जिसका उपयोग कम जोखिम एवं सीमित प्रभाव वाले सामान्य निर्णयों में किया जाता है। इसके अन्तर्गत विविध विकल्पों के परिणामों का वैज्ञानिक तथ्यान्वेषण करने की अपेक्षा अनुमानों के आधार पर ही उचित विकल्प का चयन कर निर्णय ले लिया जाता है।
2. **अन्र्तज्ञान विधि -** व्यक्तिगत विश्वासों एवं आन्तरिक प्रेरणाओं के आधार पर लिये गये निर्णय अन्र्तज्ञान पर आधारित निर्णय कहलाते हैं। ऐसे निर्णय तर्क की अपेक्षा भावनाओं पर आधारित होते हैं जिससे इनमें गलतियों की भी पूरी सम्भावना रहती है। इसलिए सामन्यत: अल्प महत्व के दैनिक उपयोग के निर्णयों में इस विधि का उपयोग होता हैं।
3. **मानवीय व्यवहार पर आधारित विधि -** इस विधि में मानवीय व्यवहार के मनोविज्ञान को दृष्टिगत रखकर निर्णय लिये जाते हैं। सामान्यत: उपक्रम के मानव संसाधनों को प्रभावित करने वाले निर्णय लेते समय इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत ऐसे विकल्प को चुना जाता है जो उपक्रम के कार्यरत व्यक्तियों की क्रियाओं को अधिक उद्देश्योन्मुख बनायें व उनके मनोबल को बढ़ाये।
4. **प्रबन्धकीय सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय लेने की विधि -** प्रबन्ध के संस्थापित सिद्धान्तों के आधार पर लिये गये निर्णय इस श्रेणी में आतें है। वातावरण में हो रहें परिवर्तनों को देखते हुये, किसी भी सिद्धान्त के आधार पर निर्णय लेने से पूर्व उस सिद्धान्त की सामयिक सार्थकता आवश्यक रूप से परख ली जानी चाहिए।
5. **पूर्व अनुभव एवं आदत -** अनुभव मनुष्य का सबसे बड़ा शिक्षक तथा मार्गदर्शक होता है। इस कथन को लागू करते हुए अनेक प्रबन्धक अपने निजी अनुभवों तथा नए प्रबन्धकों के अनुभवों के आधार पर निर्णय लेते हैं। इस विधि के समर्थकों का कहना है कि जो अनुभव समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं उनके आधार पर निर्णय लेना सफलता का आश्वासन देता है। लेकिन आलोचकों का कहना है कि समय परिवर्तनशील है और परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदल. रही हैं कि पिछला अनुभव वर्तमान समय में व्यर्थ सिद्ध होता है। कून्टज एवं ओं डोनेल ने लिखा है कि 'अनुभव एवं आदत इतिहास से सम्बन्धित होते हैं। यद्दपि

अच्छे निर्णयों का मूल्यांकन भविष्य की कठिनाईयों के आधार पर होना चाहिए तथापि भावी परिस्थतियों का अनुमान लगाकर पूर्व अनुभव के आधार पर निर्णय लिए जाने चाहिए। दिन-प्रतिदिन की समस्याओं एवं कार्य निष्पादन में इस विधि का उपयोग किया जाना सम्भव है।

II. **परिमाणात्मक एवं वैज्ञानिक विधियाँ अथवा तकनीकें :** निर्णयन की कुछ प्रमुख वैज्ञानिक एवं परिमाणात्मक विधियाँ निम्नलिखित है -

1. **प्रयोग -** इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करने के लिए हम पहले उसे प्रयोग के रूप में लागू करते हैं। जब उसका परिणाम सफल होता है तो उसका चयन कर लिया जाता है, लेकिन इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह विधि अधिक मंहगी होती है क्योंकि इसमें समय, श्रम एवं पूंजी का व्यय करना पड़ता है। जिन समस्याओं के लिए हमारे पास अधिक समय नहीं है, उनके लिए हम इस विधि का प्रयोग नहीं कर सकते। यह विधि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही लाभदायक होती है। उदाहरण के लिए, कोई प्रबन्ध अधिकारी किसी उच्च पद को संभाल सकेगा या नहीं, इसका निर्णय करने के लिए हम कुछ समय के लिए उस प्रबन्ध अधिकारी को उच्च पद का कार्यभार सोंप सकते हैं। इसी प्रकार यदि हमने किसी नई वस्तु का उत्पादन किया है और यह जानना चाहते हैं कि यह उत्पाद ग्राहकों में लोकप्रिय होगा या नहीं तो इसके लिए किसी क्षेत्र विशेष में उस उत्पाद को बेचकर ग्राहकों की राय ली जा सकती है। अत: स्पष्ट है कि इस विधि का प्रयोग हमें कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही करना चाहिए।
2. **अनुसन्धान प्रणाली -** यह बड़े निर्णय लेने के लिए विकल्पों का चुनाव करने का अत्यधिक प्रयोग में लायी जाने वाली अत्यन्त प्रभावपूर्ण तकनीक, शोध एवं विश्लेषण है। इस विधि के अर्न्तगत हम सबसे पहले समस्या को समझने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में समस्या से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों में क्या आपसी सम्बन्ध हैं, यह जाना जाता है। इसके बाद उस समस्या को उचित भागों में बाँट कर विभिन्न संख्यात्मक और गुणात्मक खण्डों का अध्ययन किया जाता है। इसके बाद ही हम निर्णय लेते है। यह प्रणाली प्रयोग प्रणाली से सस्ती है क्योंकि इसमें सभी अध्ययन तथा विश्लेषण सैद्धान्तिक तौर पर किए जाते हैं। आजकल इस विधि का प्रयोग अधिक किया जाता है।
3. **मॉडल निर्माण -** प्रतिरूप निर्माण विधि यदि देखा जाए तो कोई अलग विधि नहीं हैं। यह शोध एवं विश्लेषण का ही एक भाग है। अनेक दशाओं में जब सम्भव नहीं होता तो शोध एवं विश्लेषण के कार्य को सरल बनाने की दृष्टि से इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इसमें हम समस्या के अनुरूप मॉडल का विकसित कर लेते हैं। प्राय: भवनों के मॉडल तथा बड़े-बड़े उपकरणों एवं मशीनों के मॉडल बनाए जाते हैं। ये मॉडल गणितीय सिद्धान्तों पर आधारित होते है।
4. **आर्थिक एवं वित्तीय विधियाँ -** भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए आर्थिक तथा वित्तीय तत्व भी बहुत महत्वपूर्ण होते हैं तथा जिन निर्णयों में इनकी प्रमुखता होती है वहाँ आर्थिक एवं वित्तीय विधियों का प्रयोग किया जाता है। वित्तीय विधियों में निम्नलिखित आधारों का प्रयोग किया जा सकता है -

(i) पूर्व लाभ का आधार

(ii) विनियोजित पूजी तथा प्रत्याय की दर

(iii) पुर्नभुगतान या विनियोजन विश्लेषण

आर्थिक तथा वित्तीय विधियों का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि एक ओर ये विधियाँ विश्लेषण एवं मूल्यांकन का एक तरीका है वहाँ दूसरी ओर उपलब्ध विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करने का साधन भी है।

5. **सांख्यिकीय विधियाँ -** वर्तमान समय में निर्णय लेने के सम्बन्ध में अनेक सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया जाता है। सांख्यिकीय विधियों से तात्पर्य उन विधियों से है जिनमें संख्यात्मक तथ्यों या आकड़ों का विश्लेषण करके कोई निर्णय लिया जाता है। प्रमुख सांख्यिकीय विधियाँ निम्नलिखित हैं-

(i) संभाविता का सिद्धान्त

(ii) निदर्शन विधि

(iii) अनुमान परीक्षण

6. **क्रियात्मक अनुसंधान विधियाँ -** विभिन्न विद्‌वानों ने इसे विभिन्न तरह से परिभाषित किया है। कुछ व्यक्ति इसे वैज्ञानिक निर्णयन की एक विधि मानते हैं जबकि कुछ अन्य विद्‌वान समस्त वैज्ञानिक तकनीकों का सार मानते हैं।

कूण्ट्ज एवं ओ डोनेल : "किसी पूर्व-निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न विकल्पों का अध्ययन करने में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग इस उद्देश्य से करना कि सर्वश्रेष्ठ विकल्प निश्चित करने का गुणात्मक आधार प्राप्त हो सके. क्रियात्मक अनुसंधान कहलाता है।"

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि क्रियात्मक अनुसन्धान पूर्व-निर्धारित व्यावसायिक लक्षयों की प्राप्ति के विभिन्न विकल्पों के अध्ययन करने की एक वैज्ञानिक विधि है। यह गणितीय तथ्यों पर आधारित है तथा यह समस्या का समग्र रूप में विचार के सर्वश्रेष्ठ विकल्प का बोध कराती है। इसमें गतिशीलता होती हैं।

यह एक प्रक्रिया है जिसमें समस्या की प्रकृति निश्चित करना, तथ्यों को एकत्रित करना, गणितीय समीकरण तैयार करना, तथ्यों को समीकरण में स्थापित करना तथा सर्वश्रेष्ठ कार्य-प्रणाली तय करना आदि कदम सम्मिलित रहते हैं।

क्रियात्मक अनुसंधान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है तथा इसमें सभी गणितीय एवं वैज्ञानिक विधियों को सम्मिलित किया जा सकता है। इसकी सहायता से अधिक विवेकपूर्ण, तर्कसंगत तथा सार्थक निर्णय लिए जा सकते है।

इसकी कुछ सीमाएँ निम्नलिखित है -

(i) प्रत्येक तथ्य का परिमाणन सम्भव नहीं,

(ii) अत्यधिक गणना कार्य

(iii) अधिक लागत, व्यावहारिकता का अभाव आदि।

इन सभी सीमाओं के बावजूद भी आधुनिक युग में क्रियात्मक अनुसंधान का उपयोग सर्वाधिक होता है। क्योंकि यह वैज्ञानिकता पर आधारित है तथा इसका उद्देश्य निर्णयों

की शुद्धता में वृद्धि करना है। क्रियात्मक अनुसंधान की कुछ विशिष्ट **तकनीकें या उपकरण** निम्नलिखित हैं :

(i) रेखीय कार्यक्रम - इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम संयोजन ज्ञात करने की प्रक्रिया को ही रेखीय कार्यक्रम कहा जा सकता है। इस कार्यक्रम के माध्यम से विकल्पों के विभिन्न संयोजनों का परिणात्मक रूप में मूल्यांकन करने के पश्चात् मितव्ययी एवं साधनों के सर्वाधिक उपयोग करने वाले विकल्प का निर्धारण किया जा सकता है। रेखीय कार्यक्रम के लिये निम्नलिखित शर्तो का पूरा करना आवश्यक है :

(i) उद्देश्य, सर्वोत्तम संयोजन स्थापित करता हो ।

(ii) समस्या के विभिन्न चलों में रेखीय सम्बन्ध हो ।

(iii) निश्चयात्मक माप सम्भव हो अर्थात् विभिन्न तत्वों को समंकों में व्यक्त किया जा सकता हो तथा

(iv) चलों के सम्बन्ध में कोई बाधा न हो।

किसी समस्या में ऊपर वर्णित आवश्यकताओं के होने पर उसका हल रेखीय कार्यक्रम की मदद से किया जा सकता है। रेखाचित्रीय पद्धति, सिम्पलेक्स विधि, वोगल अनुमान विधि इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

(ii) प्रतीक्षा - रेखा विधि - मनुष्य, मशीन तथा सामग्री के उपयोग में देरी तथा उपलब्ध साधनों के उपयोग के क्रम निर्धारण करने में देरी के कारण होने वाले समय, श्रम तथा मुद्रा के नुकसान को न्यूनतम करने के लिए ही इस सिद्धांत को अपनाया जाता है। इस प्रणाली के माध्यम से दो बातों का ज्ञान होता है, **प्रथम** प्रतीक्षा रेखा बनने तथा न बनने की स्थिति एवं **द्वितीय** प्रतीक्षा रेखा बनने पर उस तत्व के उपयोग की प्रतीक्षा-अवधि।

प्रतीक्षा रेखा विधि की सहायता उन सभी प्रकार के निर्णयों में मिलती है, जहाँ पर किसी तत्व को तुरन्त उपयोग में लाने की समस्या रहती है। इसके माध्यम से वक्त के उपयोग का क्रम तथा अवधि का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है।

(iii) क्रीडा विधि - इस विधि के समर्थकों का मत है कि प्रतिस्पर्धा की स्थिति में व्यूहरचना तैयार करने में यह बड़ी उपयोगी है। उदाहरणार्थ जब एक फर्म अपने नियोजन में परिवर्तन कर अधिक उत्पादन करने का निर्णय लेती है, तो प्रतिस्पर्धी उपक्रम इस सन्दर्भ में क्या नीति अपनायेंगे? इसका हल क्रीडा विधि में निहित है। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि व्यवसाय का संचालन भी एक खेल के संचालन की तरह से है। जिस तरह से एक खिलाड़ी अपना बचाव करते हुए प्रतिद्वन्दी खिलाड़ी से बाजी मारना चाहता है उसी प्रकार एक व्यवसायी को भी अपने प्रतियोगी उपक्रमों की चालों, दाँव-पेचों का पूर्वानुमान कर ऐसी विधि का निर्माण करना होगा जिससे वह अपने नुकसानों को न्यूनतम करते हुए अपने प्रतियोगी पर विजय प्राप्त कर सके।

(iv) सम्भाविता विधि - सम्भाविता विधि निर्दिष्ट परिस्थितियों में एक अनुकूल घटना के घटित होने तथा न होने के अवसरों की संख्या को प्रकट करता है। यह इस मान्यता

पर आधारित है कि भावी घटनायें एक नियमितता के साथ घटती हैं तथा उनका पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। इस नियम की यह मान्यता है कि यदि एक विशाल क्षेत्र में इसका उपयोग किया जाये तो घटने तथा न घटने वाले अवसरों में वही सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा जो कि एक आदर्श में है। उदाहरणार्थ यदि एक सिक्के को 1000 बार उछाला जाये तो उसके 500 बार सीधे गिरने और 500 बार ही उलटे गिरने की सम्भावना रहती है। इस नियम के माध्यम से भविष्य की घटनाओं का पूर्वनुमान लगाया जा सकता है यद्यपि उसका शत-प्रतिशत ठीक होना बिल्कुल ही आवश्यक नहीं है।

(v) निदर्शन विधि - इसका आशय समग्र में से कुछ प्रतिनिधि सामग्री लेकर उसका विश्लेषण करना एवं समय के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाल लेने से होता है। उन समस्याओं का जिनका सम्पूर्ण अध्ययन सम्भव नहीं है वहाँ पर यह प्रणाली बहुत अधिक काम में आती है। निदर्शन की यह सामग्री या तो प्राथमिक रूप से स्वयं एकत्रित की जा सकती है या फिर द्वितीयक समंको को इस हेतु काम में ले लिया जाता है। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि निदर्शन समग्र पर आधारित होता है तथा समग्र में वे सभी विशेषताएँ मिलती है जो निदर्शन में है। यदि समुचित आकार का निदर्शन हो,- निदर्शन पक्षपात-रहित; तथ्यों को प्राथमिक रूप से एकत्रित किया गया हो तथा तथ्यों के बारे में कोई भ्रम भी नहीं हो तो निदर्शन से अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते है।

(vi) सर्वो सिद्धांत - जिन परिस्थितियों में तीव्रता से परिवर्तन आता है उनमें वर्तमान कार्य-प्रवाह के अनुरूप समायोजन करने के लिए इस विधि का अधिक उपयोग होता है। मूल क्रियाओं में किस सीमा तक परिवर्तन आवश्यक है, इसका ज्ञान सर्वो सिद्धांत के माध्यम से किया जा सकता है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त अनुरूपण, कार्यक्रम मूल्यांकन, मान्टो कालों विधि, प्रतीपगमन विश्लेषण, तत्व विश्लेषण, कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग आदि विधियों का उपयोग भी सर्वश्रेष्ठ विकल्प के चुनाव के लिए किया जा सकता है।

इनके साथ ही जोखिम विश्लेषण जिसके अन्तर्गत निर्णयकर्ता चुने जाने वाले विकल्प से उत्पन्न होने वाली जोखिम का निर्धारण करता है, निर्णयन पेड जिसमें निर्णयनकर्ता विभिन्न भावी दिशाओं के अध्ययन के आधार पर निर्णय ले पाता है तथा पूर्वाधिकार सिद्धांत आदि कुछ नवीन तकनीकों को भी निर्णयन में काम लिया जा सकता है।

11.6 निर्णयन सिद्धान्त

निर्णयन से सम्बन्धित कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त हैं जो इसे विज्ञान के रूप में स्थापित करते हैं तथापि निर्णयन में अनुभव व वैयक्तिक भावनाओं को भी ध्यान में रखना होता है जो निर्णयन के कला पक्ष को दर्शाते हैं। निर्णयकर्ता को अनेक आधारों को दृष्टिगत रखकर ही निर्णय करना होता है। कभी- कभी परस्पर विरोधी आधारों में से उचित आधार का चयन अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस स्थिति में कुछ सर्वमान्य व मार्गदर्शन सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है जो

श्रेष्ठ निर्णय लेने के मार्ग को प्रशस्त करते है। कुछ प्रमुख निर्णयन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

1. **मानवोचित व्यवहार का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त का स्पष्ट आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति पहले मानव और उसके बाद कर्मचारी है। मानव होने के नाते वह सामान्यत: उचित प्रकार से व्यवहार करता है तथा यह आशा भी करता है कि अन्य व्यक्ति भी उसके साथ मानवता का व्यवहार करेंगे। यद्यपि मन चंचल है एवं मनोदशाएँ भी परिवर्तनशील होती हैं, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के सामान्य आचरण एवं उसकी क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं का आसानी से पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी योग्य व्यक्ति का पदावनयन कर दिया जाए, तो क्या प्रतिक्रया होगी? यदि किसी गर्भवती महिला कर्मचारी का अवकाश स्वीकार न किया जाए तो उस पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा आदि? प्रबन्धकों को निर्णय लेते समय मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर समस्या का समाधान इस प्रकार करना चाहिए जिससे कि उसके द्वारा लिए गए निर्णय की कोई प्रतिकूल या भयंकर प्रतिक्रिया न हो।
2. **व्यक्तिगत हित का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार निर्णय लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निर्णय से कर्मचारियों के व्यक्तिगत स्वार्थ, उद्देश्य या हितों पर इसका बुरा प्रभाव न पड़े। प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति को सर्वाधिक महत्व देते हैं तो कुछ अनार्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति को। व्यक्ति इन दोनों उद्देश्यों में से सर्वप्रथम की पूर्ति करना चाहता है जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अत: इस बात को ध्यान में रखकर ही निर्णय लिए जाने चाहिए।
3. **आनुपातिकता का सिद्धान्त -** उत्पादन के साधन सीमित होते है। यह सिद्धान्त इस बात की ओर संकेत करता है कि सीमित साधनों से अधिकतम परिणामों की प्राप्ति के लिए उपलब्ध साधनों का आनुपातिक समायोजन किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उत्पादन के विभिन्न उपलब्ध साधनों का समायोजन इस अनुपात में करना चाहिए जिससे अधिकतम परिणामों की प्राप्ति हो सके। इस सिद्धान्त के अनुकरण से संस्था के समस्त उपलब्ध साधनों में एक श्रेष्ठतम संयोजन की स्थापना की जा सकती है, साधनों के दुरूपयोग को रोका जा सकता है तथा उत्पादकता एवं लाभदायकता को अधिकतम किया जा सकता है। यह सिद्धान्त निर्णय लेने हेतु सबसे बेहतर विकल्प के चुनाव हेतु निर्देशित करता है।
4. **समयानुकूलता सिद्धान्त -** व्यवसाय में समय को धन माना जाता है अत: यह आवश्यक है कि प्रबन्धक के समस्त कार्य जैसे नियोजन, संगठन, स्टाफिंग, संचालन, नियंत्रण आदि समय पर किये जाने चाहिए। इस प्रकार यदि किसी साधन विशेष की पूर्ति उपयुक्त समय पर नहीं की जाती तो उत्पादन का कार्य रूक सकता है। इसके साथ ही सभी साधनों: का पूर्व संग्रह करना भी लाभप्रद हो सकता है। ऐसा करने से केवल मुद्रा ही नही फंसती वरन् विविध साधनों को रखने की भी समस्या पैदा होती है। अत: निर्णयों में समयानुकूलता का सिद्धांत इस बात की चेतावनी देता है कि सही समय पर संस्था के पास सही अनुपात व मात्रा में सभी साधन उपलब्ध होने चाहिए।

5. **लोचशीलता का सिद्धान्त -** 'परिवर्तन' प्रकृति का नियम है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में निरन्तर परिवर्तन होते आए हैं और होते रहेंगे। फलत: एक विशेष परिस्थिति एवं काल में लिया गया निर्णय सदैव उसी रूप में लाग नहीं हो सकता। एक उपक्रम के लक्ष्यों में परिवर्तन, कर्मचारियों की मनोवृति आन्तरिक परिस्थितियों एवं श्रम-संघों की मनोवृत्ति में परिवर्तन, राजकीय नीति में परिवर्तन बाह्य परिस्थितियों में सम्मिलित होता है। गतिशीलता का सिद्धान्त प्रबन्धकों का ध्यान उन परिवर्तनों की ओर आकर्षित करता है तथा यह चेतावनी भी देता है कि उन्हें परिवर्तनों के अनुरूप निर्णयों को समायोजित करते रहना चाहिए, जिससे कि संस्था की भावी विकास एवं योजनाएँ विपरीत रूप से प्रभावित न हों।

6. **सीमित घटक का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ ऐसे तत्व होते है, जिनका प्रभाव किसी समस्या पर सबसे अधिक पड़ता है। हमें किसी समस्या को हल करने के लिए उचित विकल्प का निर्णय लेने से पूर्व इन्हीं घटकों की जानकारी करनी चाहिए, अन्यथा ये निर्णय अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने में बाधक तत्व प्रमाणित हो सकते हैं।

7. **अधिकतम लाभ का सिद्धान्त -** निर्णय लेते समय ऐसे विकल्पों का चयन करना चाहिए जिससे उपक्रम को सर्वाधिक लाभ हों। क्योंकि व्यवसाय की स्थापना व संचालन का उद्देश्य ही लाभ होता है। लेकिन तात्कालिक एवं अल्पकालिक लाभों की अपेक्षा दीर्घकालिक लाभों को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए।

8. **व्यावहारिकता का सिद्धान्त -** निर्णय लेते समय सदैव ऐसे विकल्प का चयन करना चाहिए जिसे व्यवहार में क्रियान्वित किया जा सके। ऐसे विकल्प जिन्हें व्यवहार में क्रियान्वित करना सम्भव न हो को चुनना ही निरर्थक है।

9. **सहभागिता का सिद्धान्त -** निर्णय लेते समय उस निर्णय के क्रियान्वयन से सम्बन्धित व्यक्तियों को भी सहभागिता प्रदान की जानी चाहिए जिससे वे निर्णय के क्रियान्वयन में उनका सहयोग प्राप्त कर सकें व उनके अच्छे सुझाव भी प्राप्त कर सकें।

10. **अनुवर्तन का सिद्धान्त -** किसी भी निर्णय को लागू करने के उपरान्त उसके क्रियान्वयन के परिणामों पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए ताकि लक्ष्य प्राप्ति से कोई अवांछित विचलन होने पर उसे दूर करने के प्रयास किये जा सकें।

11.7 विवेक, निर्णयन एवं परिबद्ध विवेकशीलता

निर्णय लेने के कार्य को प्रभावी बनाने के लिए कार्य करने की विधि का चयन विवेकपूर्ण ढंग से किया जाना आवश्यक है। विवेक वह स्थिति है जब कोई व्यक्ति विवेकपूर्ण विचार करता है अथवा निर्णय लेता है। विवेक को उद्देश्यपूर्ण तथा बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। प्राय: इसे उद्देश्य तथा साधनों के बीच एक निर्धारित व्यवहार में रूप बताया जाता है। यदि किसी साधन का चुनाव वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है तो हम ऐसे निर्णय को विवेक आधारित मानते है।

किसी व्यक्ति के विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करने के लिए पहली बात होती है लक्ष्य की। प्रयास लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। दूसरी आवश्यकता है वैकल्पिक उपायों की पूरी समझ। जिनमें से किसी एक को अपनाकर वे निश्चित स्थान तक पहुँचा जा सके और तीसरी

आवश्यकता है विकल्पों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन अपने उद्देश्य के सन्दर्भ में करने की योग्यता और अन्तिम महत्वपूर्ण बात उन विकल्पों में से किसी एक सर्वश्रेष्ठ को चुनने की है जिससे' कि हम अपने लक्ष्य को भी सर्वश्रेष्ठ ढंग से प्राप्त कर सकें। इस प्रक्रिया के अनुसरण द्वारा जब कोई निर्णय लिया जाता है तो हम इसे विवेकपूर्ण निर्णय कहेंगे। **हरबर्ट ए. साइमन** के अनुसार - एक निर्णय को संगठनात्मक रूप से विवेकपूर्ण कहेंगे, यदि यह संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से लिया गया है और इसे व्यक्तिगत रूप से विवेकपूर्ण कहेंगे, यदि इसे व्यक्तिगत लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से लिया गया है। **साइमन** ने किसी निर्णय लेने की प्रक्रिया को विवेकपूर्ण मानने के सम्बन्ध में निम्नलिखित शर्तें बतायी हैं -

- निर्णय, साधन, लक्ष्य-भावना में पूर्ण रूप से विवेकपूर्ण होगा।
- प्राथमिकताओं की एक पूर्ण तथा संगत-प्रणाली जिसके आधार पर विभिन्न विकल्पों में से एक का चयन हो सकेगा।
- सभी विकल्पों की पूर्ण जानकारी।
- कानून की सीमा नहीं होंगी. जिनके आधार पर सर्वश्रेष्ठ विकल्प निर्धारित किए जाएँ।
- संभावित कठिनाईयाँ न तो संकोच पर आधारित होंगी और न ही रहस्य पर।

आर्थिक व्यक्ति पूर्ण रूप से विवेक के आधार पर निर्णय लेता है। उसमें निर्णय में उपर्युक्त विशेषताएँ पाई जाती है, लेकिन **मैकगुरे** ने इस अवधारणा की आलोचना की है। उनका कहना है कि व्यवहार, वातावरण तथा बाहरी तत्वों से भी प्रभावित होता है इसलिए एक आर्थिक व्यक्ति के द्वारा सभी परिस्थितियों में विवेकपूर्ण निर्णय नही लिये जा सकते।

विवेक के आधार पर निर्णय लेना आसान नहीं हैं क्योकि निर्णय भविष्य हेतु लिए जाते हैं और भविष्य अनिश्चित होता है। इसके अलावा लक्ष्य प्राप्ति के लिए कितने विकल्प चुने जाते हैं, यह निश्चित करना कठिन है। विशेष रूप से उस समय जब कोई ऐसा कार्य करना पड़े जो पहले नहीं किया गया है। कुछ दशाएँ ऐसी हैं जिनमें विकल्पों का विश्लेषण कम्प्यूटर द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।

कून्ट्ज एवं ओं डोनेल के शब्दों में, प्रबन्ध को सीमित विवेक से कार्य करना चाहिए। इसको 'चारदीवारी' वाला विवेक भी कहते है अर्थात् अपनी सीमा में सीमित रहने वाला विवेक। **साइमन** ने इसे "सैटिसफाईसिंग" शब्द से सम्बोधित किया है। इसका अर्थ दी हुई परिस्थितियों में एक ऐसा मार्ग बनाना है जो संतोषजनक अर्थात् पर्याप्त रूप से उचित हो। यद्यपि यह सच है कि बहुत से प्रबन्धकीय निर्णय जहाँ तक हो सके जोखिम से बचकर, चलने की नीति से प्रेरित होते हैं फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि अनेक प्रबन्धक विवेक की सीमाओं में रहकर, अनिश्चितता से सम्बद्ध जोखिम की प्रकृति एवं आकार को ध्यान में रखते हुए श्रेष्ठ निर्णय लेने का प्रयास करते हैं।"

प्रबन्धकीय निर्णयन व्यवहार के दो महत्वपूर्ण आधार - प्रबन्धकों के निर्णयन व्यवहार के आधार है, विवेकपूर्ण व्यवस्था तथा व्यवहारात्मक व्यवस्था। दोनों ही आधारों का केन्द्रीय विचार विवेक है। इसके अनुसार विवेकपूर्ण आधार विवेक को लेकर चलता है जबकि व्यवहारात्मक मॉडल विवेक के चंगुल से निकलने का प्रयास करता है। विवेक तथा आर्थिक व्यक्ति की विचारधारा आदर्शमूलक तथा सुझावात्मक है। यह स्पष्ट करती है कि निर्णय कैसे लिये जायें तथा कैसे

प्रबन्धक निर्णयकर्ता के रूप में व्यवहार करें? **आर्थिक व्यक्ति** इस आदर्शमूलक व्यवस्था का नायक होता है, जो निश्चित रूप से विवेक का अनुसरण करता है। वह अपनी तर्क शक्ति से काफी व्यवस्थित, तर्किक तथा सुलझा हु आ होता है तथा इतना वस्तुनिष्ट होता है कि कभी भी किसी के दबाव में नहीं आता एवं अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखता है। वह वास्तविकता का पता लगाने का इच्छुक रहता है तथा बिना जाँच पड़ताल के कुछ भी स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं होता। अपनी विचारधारा में बहु त कुछ वैज्ञानिक होने के साथ-साथ उसे पर्याप्त जानकारी होती है तथा जिन सूचनाओं की उसे आवश्यकता होती है उन्हें पाने के लिए वह पूर्णत: समर्थ होता है। वह सूचनाओं की भली प्रकार समीक्षा कर सकता है अपने लाभों को अधिकतम करने के लिए स्वयं के समक्ष स्पष्ट एवं निश्चित लक्ष्य रखता है तथा स्वयं की प्राथमिकताएँ भली प्रकार निर्धारित करता है। अपने लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए वह उद्देश्य मूलक गतिशीलता को अपनाता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए उचित साधनों का चयन करता है। इस प्रकार ऐसा प्रबन्ध निर्णयन की अपेक्षा करने वाली समस्याओं पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रखता है। वह सावधानीपूर्वक अपने लक्ष्यों का निरूपण करता है, अनेक विकल्पों विकास करता है तथा वैज्ञानिक रूप से उनका मूल्यांकन करके सर्वोतम निर्णय करता है। निर्णयन प्रक्रिया में वह अत्यधिक व्यवस्थित एवं चरणबद्ध व्यवस्था का अनुसरण करता है। पूरी जानकारी रखना तथा निर्णयन प्रक्रिया को प्रभावित करने वाली सभी बातों को दृष्टिगत रखकर ही वह कदम आगे बढ़ाता है। **लाभों को अधिकतम करने के लिए सर्वोतम परिणामों के साथ अनुकूलतम निर्णय ही उसका आदर्श होता है।**

आर्थिक मनुष्य स्वयं हित में प्रेरित होता है तथा लाभ को अधिकतम करने में प्रयत्नशील रहता है। वह साधनों का अधिकतम उपयोग करना चाहता है। अनार्थिक, सामाजिक तथा भावनात्मक विचार उसकी सोच से कहीं दूर होते हैं। सूचनाओं तक उसकी पूरी पहुँच होती है। उसमें इतना चातुर्य होता है कि प्रभावी रूप से सूचनाओं का प्रक्रियाकरण गणन कर सके तथा सभी विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन कर सर्वोतम 'विकल्प चुन सकें। विवेकपूर्ण निर्णयनकर्ता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण हैं - वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से दृढ़ तथा पूर्ण निर्णय तक पहुँचे। इस उद्देश्य से वह तथ्यों को परिमाणात्मक गणितीय रूप में प्रस्तुत करता है तथा समंकों की समीक्षा से विकल्पों के मूल्यांकन हेतु एवं दृढ़ तथा अनुकूलतम निर्णयों तक पहुँचनेहेतु तर्क व उपयोग पर बल देता है।

यह निर्णयन व्यवस्था नियमित पुनरावृतक समस्याओं एवं विषयों पर ही लागू होती है। ऐसी समस्याओं हेतु निर्णयों को कार्यक्रमबद्ध किया जा सकता है। इसके लिए क्रियात्मक शोध, गणितीय कार्यक्रमण रेखीय सिद्धान्त, सांख्यिकीय निर्णयन सिद्धान्त, खेल सिद्धान्त तथा प्रतीक्षा सिद्धान्त आदि तकनीकों का अनुसरण किया जाता है। इन तकनीकों से प्रबन्धकों को जटिल उत्पादकीय समस्याओं पर निर्णय लेने से सहायता मिलती है। जटिल संसाधन आबंटन समस्या, स्कंध नियन्त्रण समस्या, निवेश निर्णयन समस्याओं आदि पर निर्णय लिये जा सकते है। इनसे प्रबन्धकों को जटिल व पुनरावृतक समस्याओं से निपटने के लिए वैज्ञानिक आधार मिल पाता है एवं वे सर्वोतम तथा अनुकूलतम निर्णयों तक पहुँच पाते है। बहुधा उच्च गति वाले कम्प्यूटरों को समंक प्रक्रियाकरण उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु काम लाया जाता है क्योंकि

व्यक्तिगत रूप से इसमें बहुत समय लग सकता है। जब निर्णयन के लिए परिमाणात्मक विधियों को अपनाया जाता है तो निर्णयकर्ता को तथ्यों को संख्याबद्ध करना पड़ता है।

व्यवहारवादी आधार : परिबद्ध अथवा सीमित विवेक तथा प्रशासनिक व्यक्ति - निर्णयन का व्यवहारवादी आधार प्रबन्धकों के वास्तविक जीवन वातावरण तथा व्यवहार को सामने रखता है। यह प्रदर्शित करता है कि कैसे दैनिक जीवन में वास्तविक प्रबन्धकीय निर्णय लिये जाते है जबकि पहले आधार में बताया गया था कि निर्णय किस प्रकार से लिये जाने चाहिए। वास्तव में विवेक का आदर्श अनेक बाधाओं तथा परिसीमाओं से ओत-प्रोत है। हर्बर्ट साइमन ने निर्णयन के मार्ग में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों को बताने के लिए ही परिबद्ध विवेक की विचारधारा का उल्लेख किया है। ये सीमाएं इस प्रकार है :

(i) अनेक जटिल समस्याओं बाधाओं को पूरी तरह तथा वस्तुनिष्ट तरीकों से हल नहीं किया जा सकता है। उन्हें वैज्ञानिक रूप से चिन्हित एवं पृथक नहीं किया जा सकता है। प्राय: वे अपने लक्षणों तथा अन्य समस्याओं से मिल जाती है। कुछ समस्याएं तो निर्णय लिये जाने के बाद तक भी अस्पष्ट ही बनी रहती है। यही बात अवसरों के साथ है जिनको कई बार गलत समझ लिया जाता है।

(ii) निर्णयन परिस्थितियों में सामान्यत: स्पष्ट उद्देश्य का अभाव रहता है। विविध उद्देश्य आपस में टकराते हैं। वैसे भी उद्देश्य निरूपण विवेक का विषय न हो कर एक राजनैतिक प्रक्रिया बन गया है। अनेक सौदेबाजियाँ समझौते, लेन-देन लक्ष्य निर्धारण की प्रक्रियाओं का भाग बन जाते हैं तथा संगठनात्मक लक्ष्य व्यक्तियों की व्यक्तिगत महत्वकाक्षाओं एवं प्राथमिकताओं के समक्ष गौण हो जाते है।

(iii) निर्णयन के लिए सूचना एक महत्वपूर्ण तत्व है जो 'बहुधा' उपलब्ध नहीं हो पाती। यदि मिलती भी है तो उन्हें एकत्र करना अत्यन्त व्यय साध्य तथा समय लेने वाला कार्य है। आवश्यकता से अधिक सूचनाओं का भार प्रबन्धकों को अनावश्यक' भार से दबा 'देता है।

(iv) वैकल्पिक मार्गो के सृजन तथा अनेक परिणामों के मूल्यांकन के लिए जिस व्यापक खोज की आवश्यकता होती है उसके लिए प्रबन्धकों के पास समय नहीं होता। अनेक विकल्प व्यावहारिक भी नहीं होते तथा मात्र सैद्धान्तिक महत्व के ही होते हैं।

(v) निर्णयन प्रक्रिया के वातावरण में जोखिम, अनिश्चिता, जटिलता तथा कठिनाई के तत्व पाये जाते हैं। उसका व्यवहार सम्भावना मूलक होता है न कि निर्धारणात्मक। बाहरी परिवेश में अनेक शक्तियाॅ काम करती हैं जो दैव तरीकों से संगठन को प्रभावित करती हैं, ये निरन्तर बदलती रहती हैं तथा उनकी जानकारी होना बहुत कठिन काम होता है। निर्णयन के लिए समस्याओं, अवसरों तथा कठिनाइयों को इस आधार पर नहीं चुना जाता कि वे महत्वपूर्ण है या व्यूहरचनात्मक हैं अपितु इस आधार पर चुना जाता है कि वे सरल हैं तथा उनको शीघ्र हल किये जाने योग्य भी हैं।

(vi) चुनाव हेतु अनुकूलतम बिन्दु तक पहुँचने में अनेक संगठनात्मक बाधाएं आती है। संगठनात्मक दर्शन, नीतियों एवं व्यवहारों की अधिकता सामान्य संगठनात्मक शक्ति सम्बन्ध निर्णयों की रचना पर व्यापक प्रभाव डालते है। एक संगठन मात्र आर्थिक-तकनीकी इकाई ही नहीं है वरन् उसका एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक समाजिक परिवेश भी होता

है। आर्थिक अनार्थिक मूल्य तथा विषय आपस में मिल जाते हैं ओर ऐसी दशा उत्पन्न कर देते हैं जहाँ विचार, समस्याएँ तथा चयन में सन्निहित लोगों द्वारा वर्तमान परिवेश में डालकर सोचना पड़ता है। वस्तुनिष्ट विवेक के साथ अनेक समझौते करने पड़ते है। स्थयित्व, निरन्तरता, अनुरूपता की शक्तियों परिवर्तन तथा चुनौती की शक्तियों पर आधिपत्य स्थापित करने लगती हैं। प्रबन्धकगण न्यूनतम विरोध के मार्ग को चुनते है; सम्भव होने की कला में विश्वास करते हैं तथा अलोकप्रिय निर्णय से बचने का प्रयास करते हैं।

निर्णयों की व्यावहारिकता तथा निचले स्तरों पर उसकी स्वीकृति भी ध्यान में रखनी होती है। वे निर्णय जो पक्के तो हों किन्तु व्यावहारिक नहीं तो उन्हें श्रेष्ठ निर्णय नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में प्रबन्धकीय निर्णयन एक उप विवेकपूर्ण, छितरी तथा उभरती गतिविधि होती है। निरपेक्ष विवेक अतिमानवीय तथा अद्भुत ज्ञान है। यह ऐसा आदर्श है जिसको पाने का प्रयास किया जा सकता है लेकिन शायद उस तक पहुँचा नहीं जा सकता। प्रबन्धक सामान्य व्यक्ति ही होते है यद्यपि वे उच्च बुद्धिमता तथा पहल भावना से सम्पन्न होते हैं। वे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान नहीं है। उनकी भी अपनी सीमाएँ है - बुद्धि, भावना तथा शारीरिक। यहाँ तक कि यदि वे वस्तुनिष्ट निर्णय ले भी लें तो अनेक परिस्थितिगत घटक उन्हें इन निर्णयों को कार्यान्वित करने सें रोक देते हैं।

साइमन ने सुझाव दिया कि एक सर्वसंतुष्टिकारी प्रबन्धक बुद्धिमान होता है यह अपना काम भली प्रकार जानता है तथा अपने काम के प्रति गम्भीर भी होता है। वह उन्हीं निर्णयों को लेता है जो पर्याप्त अच्छे हैं तथा उससे अत्यधिक समय तथा प्रतिभा की माँग नहीं करते। वे वास्तविकता के काफी निकट होते हैं तथा उनको समझाना, स्वीकार करना तथा अभ्यास में जाना सरल रहता है। वे पर्याप्त लोचदार होते हैं। प्रशासनिक व्यक्ति इस प्रकार के निर्णय लेना चाहता है जो व्यावहारिक उद्देश्यों हेतु संतोषजनक तथा पर्याप्त रहें। वह विवेकपूर्ण तथा भावनात्मक भावों, आर्थिक एवं अनार्थिक मूल्यों का एक मिलाजुला रूप होता है। इसमें संदेह नहीं कि वह सर्वोतम निर्णयों तक जाने में प्रयत्नशील रहता है। वही उसका आदर्श है और वह उसकी वांछनीयता को समझता है। लेकिन यह अपनी मर्यादाओं को भी जानता है तथा वातावरण की सीमाओं से परिचित होता है। वह व्यावहारिक रूप से अपनी समस्याओं, की अभिव्यक्ति करता है, जितनी सूचनाएँ सम्भव हो पाती है उन्हें एकत्र करता है, विकल्पों का एक सम्भव तथा परिचित समुच्चय सोचता है, तथा उनमें से ही किसी एक का चयन करता है। वह सूचनाओं के लिए तथा वैकल्पिक मार्गो के लिए किसी व्यापक एवं जटिल प्रक्रिया में नहीं उलझता। किन्तु वह एक पूर्व निर्धारित, व्यवस्थित, क्रमबद्ध निर्णयन प्रक्रिया का पालन नहीं करता। वह अपनी पहुँच में काफी लोचदार रहता है। वह अपने लक्ष्यों तथा उनके पाने के साधनों को वास्तविकताओं के धरातल पर समायोजित करने से भी परहेज नहीं करता।

11.8 निर्णयन हेतु ध्यान रखने योग्य तत्व

व्यवहार में प्रबन्धकों को दिन-प्रतिदिन अनेक निर्णय लेने होते हैं। वे निर्णय तभी प्रभावकारी हो सकते है जबकि कुछ विशेष बातों को निर्णय लेते समय ध्यान में रखा गया हो। प्रबन्धकों को निम्नलिखित तत्वों को ध्यान में रखकर निर्णय करने चाहिए -

1. **अधिकारों के भीतर -** प्रभावकारी निर्णयन के लिए यह प्रथम आवश्यकता है कि फैसले अधिकारों की सीमा के अन्तंगत किए जाने चाहिए। किसी भी प्रबन्धक को अपने अधिकारों के बाहर निर्णय नहीं लेने चाहिए।

2. **प्रत्यायोजन -** निर्णय तभी प्रभावी हो सकते है जबकि उच्च प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को निर्णयन के अधिकार का प्रत्योजन कर दें। इससे यथास्थान सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा एवं समय पर आवश्यक निर्णय लिये जा सकेंगे।

3. **उद्देश्यात्मक -** अच्छे निर्णय उद्देश्यात्मक होते है। निर्णयन से पूर्व ही निर्णय के उद्देश्य निर्धारित कर लिए जाने चाहिए। संस्था के प्रत्येक प्रबन्धक तथा विभाग द्वारा लिये, जाने वाले निर्णय के उद्देश्य संस्था के उद्देश्यों से संगति रखने वाले होने चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक निर्णय का उद्देश्य संस्था की सामान्य प्रगति में योगदान देना होना चाहिए।

4. **मितव्ययी -** निर्णय मितव्ययी होने चाहिए। कई निर्णय बहुत अच्छे हो सकते हैं किन्तु यदि संस्था उन निर्णयों की लागत के भार को उठा नहीं सकती है तो वे निर्णय उस संस्था के लिए उपयोगी नहीं हो सकते हैं।

5. **स्वीकार्य -** निर्णय तभी श्रेष्ठ होते हैं जबकि उन्हें क्रियान्वित करने वालों की स्वीकृति प्राप्त हो। यदि किसी निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों का आवश्यक सहयोग प्राप्त न हो सके तो वह निर्णय श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। अत: निर्णय समान्यत: सभी सम्बन्धित पक्षकारों की स्वीकृति प्राप्त करके लिया जाना चाहिए।

6. **व्यावहारिक पक्ष से परिपूर्ण -** निर्णय व्यावहारिक भी होने चाहिए। कई निर्णय सैद्धान्तिक एवं तकनीकी दृष्टि से बहुत अच्छे होते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप से उनकोक्रियान्वित करना कठिन होता है। इन निर्णयों को श्रेष्ठता का लाभ नहीं मिलता है। अत: निर्णयों का व्यावहारिक होना बहुत आवश्यक है। प्रत्येक निर्णय लेने से पूर्व उसके व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

7. **वैधानिक सीमाओं के अनुरूप -** अच्छे निर्णय तभी अच्छे एवं क्रियान्वयन योग्य होते है जब वे वैधानिक सीमाओं के अन्तर्गत आते हों। कानूनी सीमा का उल्लंघन करने वाले निर्णयों को क्रियान्वित करना असम्भव होता है। अत: प्रत्येक प्रबन्धक को निर्णय लेते समय वैधानिक पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए।

8. **पूर्णता एवं व्यापक -** अच्छे निर्णय में पूर्णता एवं व्यापकता का गुण भी होता है। इस हेतु प्रत्येक निर्णय लेते समय उन सभी तत्वों का ध्यान रखना चाहिए जो निर्णय को प्रभावित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, निर्णय करते समय निर्णय के सम्भावित प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

9. **सामाजिक हितों के अनुरूप -** अच्छे निर्णय के लिए आवश्यक है कि वे समाजोन्मुखी हों। निर्णयों में सामाजिक रूप से संवेदनशीलता होना चाहिए। प्रत्येक निर्णय को समाज के हितों की पूर्ति

में पर्याप्त योगदान देना चाहिए। इतना ही नहीं, किसी भी निर्णय में समाज के हितों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।

10. **नैतिक -** किसी निर्णय को तभी अच्छा कहा जा सकता हैं जबकि वह नैतिक मूल्यों के अनुरूप हो। निर्णय नीतिशास्त्रीय मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए। नैतिकता के अभाव में कोई भी निर्णय अच्छा नहीं हो सकता।

11. **सामयिक -** निर्णयों की सफलता एवं विफलता में समय का बड़ा हाथ होता है। सही समय पर लिये गये एवं क्रियान्वित किये गये निर्णय ही अच्छे निर्णय हो सकते है। अत: निर्णय समय पर लिये जाने चाहिए। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शीघ्र निर्णय का महत्व होता है किन्तु जल्दबाजी में लिए गये निर्णयों का कोई महत्व नहीं होता है।

11.9 सारांश

निर्णयन एक सार्वभौमिक एवं बौद्धिक क्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न उपलब्ध विकल्पों में से एक श्रेष्ठतम एवं व्यावहारिक विकल्प का चुनाव किया जाता है। यह एक विवेक आधारित प्रक्रिया है जिसकी मुख्य विशेषताएँ सर्वव्यापकता, तार्किकता, वचनबद्धता, पारस्परिक विचार-विमर्श, सामयिकता इत्यादि है। व्यवसाय की वातावरण, निर्णयकर्ता की योग्यता, निर्णय का उद्देश्य, विकल्पों की उपलब्धता, पारस्परिक सहयोग एवं समय तत्व निर्णयन की प्रकृति व क्षेत्र को निर्धारित करते हैं। यह सभी प्रबन्धकीय कार्यो में अर्न्तनिहित है अत: इसे **'व्यवसाय की आत्मा'** एवं **'प्रबन्धन का पर्याय'** माना जाता है। यह प्रबन्धन की सफलता का मापक है तथा उपक्रम के लक्ष्यों को सुगमता से प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है।
निर्णयन प्रक्रिया के अनेक चरण निहित होते हैं जिनका परिणाम निर्णय के रूप में आता है। वर्तमान में जटिल समस्याओं के समाधान के लिए परम्परागत तकनीकों के अलावा परिमाणात्मक विधियों, क्रियात्मक अनुसंधान, प्रबन्ध सूचना प्रणाली एवं कम्प्यूटर का उपयोग किया जाता है। निर्णयन सदैव विवेक आधारित नहीं हो सकता। इसमें मानवीय व्यावहारिक एवं सामाजिक पहलुओं को भी ध्यान में रखना होता है। इसलिए **साइमन** ने **'सम्पूर्ण विवेकशीलता'** के स्थान पर **'परिबद्ध विवेकशीलता'** का तर्क प्रस्तुत किया है।

11.10 शब्दावली

कार्यपथ	:	कार्य निष्पादित करने हेतु उपलब्ध विकल्प।
कार्यक्रमबद्ध	:	दिनबार लिये जाने वाले निर्णय।-प्रतिदिन अथवा बार-
व्यूहरचनात्मक निर्णय	:	संगठन की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले आधारभूत निर्णय जो संगठन के जीवनकाल में एक बार ही लिए जाते हैं।
विवेकशीलता	:	व्यवस्थित रूप में तर्क आधारित, निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
परिबद्ध विवेकशीलता	:	मानवीय एवं वातावरणीय सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए लिए गये संतोषजनक निर्णय।
निर्णय अनुगमन	:	निर्णय के क्रियान्वयन के पश्चात् उसके प्रभावों का मूल्यांकन।

11.11 प्रश्न

1. निर्णयन से आप क्या समझते है? निर्णयन की प्रकृति एवं महत्व को समझाइये।
2. "निर्णयन प्रबन्धक का प्रमुख कार्य है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा प्रबन्धकीय कार्यो के निष्पादन में निर्णयन की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
3. "प्रशासन मूलत: निर्णयन प्रक्रिया है।" इस कथन की विवेचना कीजिए तथा निर्णयन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. निर्णयन की प्रकृति एवं सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
5. विवेकपूर्ण निर्णय से आप क्या समझते है? निर्णयन में विवेकशीलता की मान्यताओं एवं सीमाओं को समझाइये।
6. विवेकपूर्ण निर्णयन प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण चरणों को स्पष्ट रूप में समझाइये।
7. निर्णयन की विभिन्न तकनीकों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
8. निर्णयन की विशेषताएँ बतलाइये। अच्छे निर्णय के आवश्यक तत्वों को भी स्पष्ट कीजिए।
9. निर्णयन क्या है? निर्णय लेने की प्रक्रिया को सविस्तार समझाइये।

11.12 उपयोगी पुस्तकें

- **जी.एस सुधा -** प्रबन्ध अवधारणाएँ एवं संगठनात्मक व्यवहार (रमेश बुक डिपो, जयपुर, 2003)
- **आर. एल. नौलखा -** प्रबन्ध के सिद्धान्त (आदर्श प्रकाशन. जयपुर, 2005)

इकाई-12: नियोजन (Planning)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 परिभाषाएँ

12.2 नियोजन के सिद्धान्त

12.3 नियोजन के प्रकार

12.4 नियोजन प्रक्रिया

12.5 नियोजन के संघटक अथवा तत्व

12.6 नियोजन का महत्व

12.7 नियोजन की सीमाएँ

12.8 श्रेष्ठ नियोजन के आवश्यक तत्व

12.9 सारांश

12.10 शब्दावली

12.11 प्रश्न

12.12 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नियोजन की संकल्पना एवं प्रकृति से परिचित हो सकेंगे।
- कुशल एवं प्रभावी नियोजन के सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।
- विभिन्न आधारों पर नियोजन का वर्गीकरण कर सकेंगे।
- नियोजन प्रक्रिया में निहित चरणों को समझ सकेंगे।
- नियोजन की तकनीकों एवं घटकों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नियोजन की सीमाओं अथवा बाधाओं को अनुभव कर सकेंगे।

12.1 परिभाषाएँ

नियोजन किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु एवं सर्वश्रेष्ठ क्रिया विधि का चयन करने तथा विकास करने की सचेत प्रक्रिया है। यह वह क्रिया है, जिसके द्वारा भावी प्रबन्ध कार्य अस्तित्व में आते हैं।

नियोजन प्रबन्ध का सबसे प्रथम, आधारभूत एवं प्रमुख कार्य है, क्योंकि अन्य कार्य इसके पश्चात् उत्पन्न हुआ, होते हैं। नियोजन की क्रिया; लक्ष्यों व उद्देश्यों के निर्धारण से प्रारम्भ होती है और उनकी सफलतापूर्वक प्राप्ति पर समाप्त हो जाती है। नियोजन का आशय यह निर्धारित करना है कि कोई कार्य क्यों करना है, कैसे करना है, कब करना है, कहीं करना है और किसके द्वारा सम्पन्न किया जाना है?

जार्ज आर. टैरी के अनुसार, “नियोजन भविष्य में देखने की एक विधि या तकनीक है। भावी आवश्यकताओं का एक रचनात्मक पुर्ननिरीक्षण है ताकि वर्तमान क्रियाओं को निर्धारित लक्ष्यों के सन्दर्भ में समायोजित किया जा सके।”

विलियम एच. न्यूमैन के शब्दों में, **“सामान्यतया भविष्य में क्या करना है. इसे पहले ही निश्चित करना नियोजन कहलाता है।”**

हेनरी फेयोल ने प्रबन्ध के पाँच कार्यो में नियोजन को प्रमुख कार्य माना है। नियोजन बौद्धिक कार्य है, जिसके लिए पर्याप्त अध्ययन, चिन्तन व मनन की आवश्यकता होती है। **हेयन्स तथा मैसी** ने भी कहा है नियोजन बौद्धिक प्रक्रिया है जिसके लिए सृजनात्मक विचारधारा तथा कल्पना की आवश्यकता होती है। नियोजन का उपयोग संगठन के सभी स्तरों पर किया जाता है। संगठन की स्थापना के समय, नियुक्तियाँ करते समय, निर्देश देते समय तथा नियन्त्रण करते समय नियोजन को ध्यान में रखना पड़ता है। यह एक व्यापक व निरन्तर प्रक्रिया है। वास्तव में, प्रबन्ध की सफलता कुशल एवं श्रेष्ठ नियोजन पर निर्भर होती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक **एफ. डब्ल्यू टेलर** ने व्यवसाय में एक पृथक योजना विभाग की स्थापना पर बल दिया था। अत: नियोजन का अर्थ है संस्था के व्यापक उद्देश्यों को निश्चित करके योजना अवधि के लिए व्यावसायिक पूर्वानुमान करना, लक्ष्य निर्धारित करना और एक समय बद्ध कार्यक्रम तैयार करना जो लक्ष्यों को निम्न लागत और उच्च कुशलता के साथ प्राप्ति को सुनिश्चित करे।

1. **कून्ट्ज तथा ओं डोनेल** के अनुसार नियोजन का अर्थ पहले से ही तय करना है कि क्या करना है, कैसे करना है, कब करना है और किसने करना है। नियोजन हम जहाँ हैं से जहां हमें जाना है, के बीच की दूरी को पाटता है। यह उन बातों को सम्भव बनाता है जो अन्यथा नहीं होती।'
2. **जार्ज आर. टैरी** के शब्दों में “नियोजन भविष्य में देखने की विधि या कला है। इसमें भविष्य की आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाया जाता है जिससे निर्धारित लक्ष्यों की दृष्टि से किए जाने वाले वर्तमान प्रयासों को उनके अनुरूप बनाया जा सके।”
3. **हेनरी फेयोल** “कार्य की योजना से अभिप्राय उन परिणामों से है जिनको प्राप्त करना है, कार्य की उस रूपरेखा से है जिसका पालन करना है, उन अवस्थाओं से है जिनसे होकर कार्य को गुजर है तथा उन विधियों से है जिनका प्रयोग किया जाना है।”
4. **हेयन्स और मैसी** का कथन है कि “नियोजन प्रबन्ध का वह कार्य है जिसमें इस बात का पूर्व निर्णय करना पड़ता है कि उसे क्या करना है। यह निर्णय लेने की एक विशेष क्रिया है। यह बौद्धिक कार्य है जिसके लिए सृजनात्मक विचार और कल्पना की आवश्यकता है।”
5. **एम. ई हर्ले** का कथन है कि “क्या करना चाहिए इसका पहले से ही निर्णय करना, योजना बनाना या नियोजन कहलाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न वैकल्पिक उद्देश्यों, नीतियों, विधियों और कार्यक्रमों में से सर्वोत्तम का चुनाव किया जाता है।”

6. **एल. उर्विक** के अनुसार "व्यावसायिक नियोजन मुख्य रूप से कार्यो को व्यवस्थित रूप से करने, पूर्व में मनन करने और अनुमानों की तुलना में कार्यो को तथ्यों के आधार पर करने का मानसिक चिन्तन है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने के वास्ते उपलब्ध संसाधनों की सहायता से भावी कार्यक्रम के लिए किये जाने वाले कार्यो हेतु सर्वश्रेष्ठ कार्यपथ का चुनाव करने का निर्णय लेना ही नियोजन है।

नियोजन की प्रकृति :

नियोजन की प्रकृति को निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर समझा जा सकता है :

1. **निश्चित लक्ष्य -** नियोजन प्रत्येक संस्था के लक्ष्यों को निर्धारित करता है उसके कर्मचारियों एवं विभागों का ध्यान लक्ष्यों की ओर केन्द्रित करता है। नियोजन लक्ष्य के अनुरूप योजनाएँ निश्चित करता है। वस्तुतः उद्देश्यों के बिना नियोजन नहीं किया जा सकता।

2. **पूर्वानुमान -** नियोजन पूर्वानुमानों पर आधारित होता है। इसलिये पूर्वानुमानों को नियोजन का सार कहा जाता है। भविष्य का मूल्यांकन तथा उसके लिये प्रावधान दोनों ही तत्व इसमें समविष्ट हैं। अतः यह स्पष्ट है कि नियोजन पूर्वानुमानों पर आधारित होते हैं, परन्तु सिर्फ पुर्वानुमान ही नियोजन नहीं होता।

3. **सर्वोत्तम विकल्प का चयन -** नियोजन की अन्य प्रमुख विशेषता उसकी चयन प्रक्रिया है। नियोजन में सर्वोत्तम विकल्प का चयन किया जाता है। किसी कार्य को करने की विभिन्न विधियाँ, प्रणालियाँ, नीतियाँ होती है और नियोजनकर्ता इन तरीकों में से किसी एक सर्वोत्तम तरीके का चयन करता है।

4. **निरंतरता एवं लचीलापन -** नियोजन को मानसिक, बौद्धिक, निरन्तर एवं लोचयुक्त प्रक्रिया कहा जाता है। मानसिक एंव बौद्धिक इसलिये कहा जाता है क्योंकि नियोजन करते समय तर्क-वितर्क, विवेक एवं बुद्धि की सहायता से सर्वोतम कार्यपथ का चुनाव किया जाता है। इसे निरन्तर प्रक्रिया इसलिये कहा जाता है कि नियोजन का कार्य कभी रुकता नहीं, अपितु निरन्तर चलता रहता है।

5. **नियोजन एक सतत् प्रक्रिया है -** नियोजन एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है; क्योंकि इसकी आवश्यकता व्यवसाय के प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है। नियोजन क्रिया की निरन्तरता इस बात में भी निहित होती है कि व्यवसायी को नियोजन की आवश्यकता न केवल व्यवसाय की स्थापना के समय ही होती है, बल्कि इसके कुशल संचालन के लिए भी इसका अविच्छिन्न रूप में अविलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। वास्तविकता यह है कि परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहने से व्यवसाय के उद्देश्यों, नीतियों, क्रिया-विधियों, कार्यक्रमों आदि में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाते है, जिसके लिए नियोजन की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि **नियोजन एक सतत् प्रक्रिया है।**

6. **नियोजन एक बौद्धिक क्रिया है -** नियोजन न केवल सतत् प्रक्रिया ही है वरन् यह एक बौद्धिक क्रिया भी है इस सम्बन्ध में **हेयन्स एवं मेसी** ने कहा है, 'नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है,

जिसके लिए रचनात्मक चिन्तन एवं कल्पना अनिवार्य है। 'वस्तुत: नियोजन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न वैकल्पिक नीतियों, कार्य पद्धतियों एवं कार्यक्रमों में से सर्वोत्तम का चयन करना होता है, इस हेतु पर्याप्त ज्ञान, अनुभव, चिन्तन एवं दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। अत: स्पष्ट है कि **नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है** जिसकी पुष्टि **कुन्ट्ज एवं ओ डोनेल** के इन शब्दों से भली-भाँति स्पष्ट होती है. नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है, क्रियाओं के क्रम का सचेत निर्धारण है, उद्देश्य, तथ्यों और सुविचरित अनुमानों पर आधारित निर्णयों की आधारशिला है।'

7. **नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक एवं सर्वोपरि कार्य है -** नियोजन का स्थान प्रबन्ध-कार्यो में प्रथम एवं सर्वोपरि है; क्योंकि नियोजन का अवलम्बन व्यवसाय की स्थापना से पूर्व ही लिया जाता है। संगठन. नियंत्रण, नियुक्ति, निदेशन आदि सभी प्रबन्धकीय कार्यो का अस्तित्व बाद में उत्पन्न होता है। वास्तविकता तो यह है कि नियोजन के अभाव में प्रबन्ध के अन्य कार्यो की कोई उपयोगिता नहीं होती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रबन्ध के अन्य सभी कार्य महत्वहीन है। ये सभी कार्य महत्व की दृष्टि से नियोजन के समकक्ष अवश्य है, परन्तु फिर भी नियोजन इन सभी कार्यो से पूर्व जन्म लेता है, तत्पश्चात अन्य कार्यो का अस्तित्व पैदा होता है, जिसके कारण नियोजन प्रबन्धकीय कार्यो का केन्द्र-बिन्दु हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रबन्ध की प्रक्रिया नियोजन से आरम्भ होती है और नियोजन पर ही समाप्त होती है। अत: **नियोजन प्रबन्ध का सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि कार्य होना स्वत: सिद्ध हो जाता है।**

8. **नियोजन लक्ष्य-प्राप्ति को सुनिश्चित करता है -** प्रत्येक योजना का मुख्य उद्देश्य उपक्रम के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान देना होता है। इसलिए नियोजन निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्ति के लिए न केवल नीतियों, कार्यविधियों, कार्यक्रमों का निर्माण करता है, बल्कि उनके कार्यान्वयन के लिए भी भरसक प्रयत्न करता है। अत: कहा जा सकता है कि **नियोजन उपक्रम के लक्ष्य-प्राप्ति में भी पर्याप्त योगदान देता है।** इस बात की पुष्टि **बिली ई. गोट्ज** के इन शब्दों से भी होती है केवल योजनाएँ ही उपक्रम को सफल नहीं बनातीं। योजनाऐं उद्देश्य की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकती है, और निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्ति हेतु आवश्यक क्रियाओं की भविष्यवाणी कर सकती है। ' उपक्रम की सफलता. के लिए तो क्रियाएँ अति आवश्यक है, जिन्हें प्रत्येक उपक्रम को अवश्य निष्पादित करना चाहिए। उन्होंने आगे स्पष्ट किया है कि 'बिना योजनाओं के क्रियाएँ अनुपयोगी है।'

9. **सर्वव्यापी कार्य -** नियोजन की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि नियोजन एक सर्वव्यापी कार्य है; क्योंकि इसकी आवश्यकता हर जगह होती है - चाहे वह सामाजिक संस्था हो या धार्मिक, व्यावसायिक हो या राजनैतिक, छोटी या बड़ी। यही नहीं, नियोजन कार्य संगठन के प्रत्येक स्तर पर सम्पन्न किया जाता है, इसलिए नियोजन केवल शीर्ष प्रबन्धक की ही बपौती नहीं है, बल्कि प्रत्येक स्तर के प्रबन्धक को भी यह कार्य करना पड़ता है। स्पष्ट है कि नियोजन प्रबन्ध का एक सर्वव्यापी कार्य है।

10. **कार्य - कुशलता का मापदण्ड -** नियोजन प्रबन्धकों की कार्यक्षमता का आधार माना गया है, क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर के प्रबन्धक द्वारा निर्मित योजनाओं का

मूल्यांकन किया जाता है तथा उनकी सामर्थ्य व प्रभावशीलता की जानकारी की जाती है। वस्तुत: वही योजना अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है, जो न्यूनतम लागत पर अधिकतम परिणामों की उपलब्धि कराती हो। अत: यह स्पष्ट है कि **नियोजन कार्यकुशलता का मापदण्ड है।**

11. **नियोजन निर्णयन नहीं -** प्रबन्ध के प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए निर्णय लेना पड़ता है। चूंकि नियोजन भी प्रबन्ध का एक कार्य है, इसलिए इसमें भी निर्णय लेना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रबन्ध के अन्य कार्यो में। इससे 'यह स्पष्ट होता है कि नियोजन का क्षेत्र लेने की क्रिया से अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें निर्णय लेने के अतिरिक्त अन्य क्रियाएँ भी सम्मिलित होती है।

12.2 नियोजन के सिद्धान्त

नियोजन की प्रभावोत्पादकता हेतु कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों का पालन करके योजना की लक्ष्याभिमुखता, व्यावहारिकता, प्रभावीपन व क्रियान्वयन सुगमता में वृद्धि की जा सकती है। अतएव श्रेष्ठ व सुदृढ़ योजनाओं के निमार्ण में **निम्न सिद्धान्तों** को दृष्टिगत रखना चाहिए -

1. **उद्देश्य का सिद्धान्त -** योजना के उद्देश्य पूर्व निर्धारित एवं स्पष्ट होने चाहिए और योजना के समस्त संघटक इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सार्थक होने चाहिए। ये उद्देश्य व्यावहारिक भी होने चाहिए।

2. **सरलता -** योजनायें जिन व्यक्तियों द्वारा क्रियान्वित की जानी हैं के लिए आसानी से समझने योग्य और स्पष्ट होनी चाहिए जिससे वे उन्हें सही अर्थो में क्रियान्वित कर सकें। योजनान्तर्गत किसी तथ्य के दो अर्थ न निकलें एवं न ही भ्रम की स्थिति उत्पन्न होनी चाहिए।

3. **व्यावहारिकता -** नियोजन व्यवहार में क्रियान्वित के योग्य होना चाहिए। अव्यवहारिक एवं अत्यधिक (क्षमता से अधिक) महात्वाकांक्षी योजनाएं जिन्हें बीच में ही छोड़ना पड़े पर श्रम, समय एवं साधनों का अपव्यय करने से बेहतर है कि किसी भी योजना को अन्तिम रूप देने एवं क्रियान्वित करने से पूर्व उसकी व्यावहारिकता को परख लिया जाए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि उसे व्यवहार में क्रियान्वित किया जा सकता है या नही।

4. **लोचशीलता -** प्रत्येक योजना में इतनी लोचशीलता होनी चाहिए की भविष्य में होने वाले आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों के अनुरूप उसमें उचित संशोधन किये जा सके। अन्यथा आकस्मिक परिवर्तनों के उपरान्त योजनायें अपनी प्रासंगिता खो सकती हैं।

5. **निरन्तरता -** प्रत्येक योजना में विविध क्रियाओं का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इसमें निरन्तरता बनी रहे तथा किसी प्रकार का व्यवधान या कार्यावरोध उत्पन्न न हो।

6. **व्यापकता -** योजना इतनी विस्तृत व व्यापक होनी चाहिए कि उसमें उपक्रम के सभी विभागों के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रावधान हो तथा किसी भी स्तर पर किसी भी विभाग के कार्यो का विवरण उससे छूटने न पाये।

7. **प्रतिबद्धता -** योजना में उपक्रम के लक्ष्य निश्चितता के साथ प्राप्त कराने के लिए प्रतिबद्धता होनी चाहिए अर्थात् योजना में उपक्रम के लक्ष्यों को निश्चिता से प्राप्त कराने की वचनबद्धता

होनी चाहिए। वचनबद्धता के अन्तर्गत संगठन के अतिरिक्त अन्त हित समूहों के प्रति वचन व दायित्व का निर्वाह भी सम्मिलित है।

8. **मान्यताओं का सिद्धान्त -** व्यावहारिकता की दृष्टि से योजना भावी परिस्थितियों के स्पष्ट अनुमानों पर आधारित होनी आवश्यक है। इसलिए नियोजन से पूर्व पूर्वानुमान द्वारा भावी परिस्थितियों के बारे में स्पष्ट मान्यताएं विकसित की जानी चाहिए, जो कि वस्तुत: नियोजन का आधार होती है।

9. **तालमेल -** योजना की समस्त अंगभूत योजनाओं एवं तत्वों में परस्पर तालमेल होना आवश्यक है जिसमें न तो कार्यो का दोहराव हो और न ही कोई कार्य छूटे। क्रमिक एवं समवर्ती क्रियाओं में भी वांछित समायानुकूलता होनी चाहिए जिससे कार्यो की निरन्तरता अवरूद्ध न हो।

10. **मितव्ययता -** नियोजन में साधनों व श्रम दोनों का ही व्यय होता है, इसलिए इस बात को ध्यान रखना चाहिए कि योजना से प्राप्त होने वाली लाभों के अनुपात में इनके निर्माण पर कम से कम साधन व श्रम व्यय हो।

11. **सहभागिता -** नियोजन को व्यावहारिक और प्रभावी बनाने के लिए योजनाओं के क्रियान्वयन से सम्बन्धित अधिकारियों एवं कर्मचारियों को भी नियोजन में सहभागी बनाया जाना चाहिए अर्थात् उनसे सुझाव आमंत्रित करके अच्छे सुझावों को अपनाना चाहिए।

12. **परिवर्तन का सिद्धान्त -** नवीन योजनाओं से संस्था के कार्यो व कार्यशैली में जो परिवर्तन आते हैं वे संगठन के सभी स्तरों पर स्वीकार्य होने चाहिए। नियोजन की सफलता के लिए सभी स्तरों पर परिवर्तनों की स्वीकारोक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

13. **विकल्पों का सिद्धान्त -** योजना की प्रत्येक अवस्था में समुचित विकल्प उपलब्ध होने चाहिए जिससे समय-समय पर परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर उचित विकल्प के माध्यम से लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।

14. **समयबद्धता -** विभिन्न कार्यो के लिए समय का महत्व भिन्न-भिन्न होता है। कुछ कार्यो के निष्पादन में विलम्ब का कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता है जबकि कुछ कार्यो के विलम्ब से भारी हानि की सम्भावना रहती है। अत: योजना बनाने में भिन्न-भिन्न क्रियाओं में समय के सापेक्ष महत्व को ध्यान में रखना चाहिए।

15. **प्राथमिकता का सिद्धान्त -** नियोजन का यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि तार्किक आधार पर प्रबन्धकों को सर्वप्रथम नियोजन ही करना चाहिये। नियोजन करने के बाद ही प्रबन्ध प्रक्रिया के अन्य कार्य करने चाहिए।

16. **सही पूर्वानुमान का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त यह कहता है कि नियोजन सही पूर्वानुमानों के आधार पर ही किया जाना चाहिये। इस हेतु प्रबन्धकों को नियोजन करते समय भावी अवसरों, चुनौतियों तथा अपनी एवं संस्था की कमजोरियों का सही-सही पूर्वानुमान लगाकर ही नियोजन करना चाहिये। इस हेतु पूर्वानुमान की समुचित विधियों को अपनाना चाहिये।

17. **सर्वव्यापकता का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त बतलाता है कि नियोजन सम्पूर्ण संगठन में किया जाना चाहिए। नियोजन संगठन के प्रत्येक स्तर पर तथा प्रत्येक विभाग में किया जाना चाहिये। इतना ही नहीं, नियोजन सभी प्रकार के संगठनों के लिए आवश्यक है।

18. **कार्य-कुशलता का सिद्धान्त -** नियोजन को कार्य-कुशलता में योगदान देने वाला होना चाहिए। कुशल नियोजन तभी कहा जाएगा जबकि न्यूनतम प्रयत्नों से संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त कर लिया जाये तथा इसकी लागत की तुलना में प्रतिफल अधिक प्राप्त हों।

19. **सीमाकारी घटकों का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि प्रत्येक कार्य के अनेक विकल्प हो सकते हैं। किन्तु, सभी विकल्पों की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। अत: नियोजन करते समय उस विकल्प का चयन करना चाहिये जिसकी सीमाएँ न्यूनतम हों।

20. **नीति-निर्धारण का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त बतलाता है कि संस्था के नियोजन को ठोस एवं प्रभावकारी बनाने के लिए सुदृढ़ नीतियां, कार्यक्रम तथा नियोजन के अन्य घटकों का निर्धारण कर लेना चाहिए। साथ ही सभी प्रबन्धकों को इन नीतियों, नियमों को भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

21. **प्रतिस्पर्धात्मक व्यूहरचना का सिद्धान्त -** यह सिद्धान्त बतलाता है कि जब एक संगठन की कई प्रतिद्वन्दी संस्थाएँ विद्यमान हों तो नियोजन करते समय प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं की नियोजन तकनीक एवं क्रियाओं को भी ध्यान रखना चाहिए।

12.3 नियोजन के प्रकार

नियोजन विभिन्न आधारों पर किया जाता है। अत: नियोजन के कई प्रकार हो सकते हैं। विभिन्न प्रबन्ध विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नियोजन के प्रकार बतलाये हैं।

डेनिंग के अनुसार, नियोजन के तीन प्रकार होते हैं -

– कियाशील नियोजन
– परियोजना नियोजन, एवं
– मोर्चाबन्दी नियोजन

जार्ज आर. टैरी के अनुसार, नियोजन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता हैं-

– भौतिक नियोजन
– कियात्मक नियोजन
– व्यापक नियोजन, एवं
– सामान्य मिश्रित नियोजन

जॉन जी. ग्लोवर ने नियोजन को तीन भागों में विभक्त किया हैं -

– प्रशासकीय नियोजन
– संचालनात्मक नियोजन, एवं
– परियोजना नियोजन

प्रो. इगर्स के अनुसार नियोजन दो प्रकार के होते हैं -

– सृजनात्मक नियोजन
– नैत्यिक नियोजन

उपरोक्त विवेचन एवं अन्य आधारों के अनुरूप नियोजन के मुख्य प्रकार निम्नलिखित होते हैं-

1. **महत्व के आधार पर -** नियोजन के महत्व के आधार पर नियोजन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(अ) प्रशासकीय नियोजन - प्रशासकीय नियोजन या मोर्चाबन्दी नियोजन का आशय ऐसे नियोजन से है, जो उच्च-प्रबन्ध द्वारा दीर्घकालीन लक्ष्यों एवं प्रमुख नीतियों के निर्धारण के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत उपक्रम की भावी स्थिति का परिवर्तनशील परिस्थितियों (व्यापार चक्र, बाजार की स्थिति, नव-प्रवर्तन एवं अन्य संस्थाओं के साथ सम्बन्ध आदि) में निर्धारण किया जा सकता है। वास्तव में देखा जाए तो यह नियोजन उपक्रम के उद्देश्यों, नीतियों, प्रबन्धकीय दृष्टिकोण एवं आर्थिक सुदृढ़ता का दर्पण होता है। अत: प्रशासकीय नियोजन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, व्यापक एवं दीर्घकालीन होता हैं।

(ब) संचालकीय नियोजन - संचालकीय नियोजन उपक्रम की वास्तविक क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। इनका निर्माण कार्यकारी प्रबन्ध द्वारा मुख्य योजनाओं के आधार पर किया जाता है। उपक्रम की सफलता इन्हीं योजनाओं पर निर्भर करती है।

(स) परियोजना नियोजन - परियोजना नियोजन का सम्बन्ध कार्य विशेष से होता है। इसके अन्तर्गत विज्ञापन अभियान, बाजार अनुसन्धान, नव-उत्पादन अनुसन्धान आदि योजनाओं को शामिल किया जाता है। अर्थात् परियोजना नियोजन में उपक्रम के वर्तमान नैत्यिक कार्यो के अतिरिक्त नये कार्य या विशेष कार्य हेतु योजना बनाई जाती है। इसमें पर्याप्त विनियोजन की आवश्यकता होती है।

2. **अवधि के आधार पर -** योजना की अवधि के आधार पर नियोजन के तीन प्रकार होते हैं -

(अ) दीर्घकालीन नियोजन - दीर्घकालीन नियोजन का आशय लम्बी अवधि (प्राय:1 वर्ष से 5 वर्ष या अधिक) के लिए योजना बनाना होता है। इस योजना के अन्तर्गत उपक्रम के दीर्घकालीन उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। तत्पश्चात् इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट योजनाओं का निर्माण किया जाता है।

(ब) मध्यकालीन नियोजन - मध्यकालीन नियोजन प्राय: 1 से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत दीर्घकालीन योजना की सफलता हेतु बनाई गई उप-योजनाओं को शामिल किया जाता है।

(स) अल्पकालीन नियोजन - अल्पकालीन नियोजन का आशय छोटी अवधि की योजनाओं से होता है। ये प्राय: मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक या वार्षिक बनाई जाती है। अल्पकालीन योजनाएँ प्राय: तात्कालिक समस्याओं के समाधान के लिए बनाई जाती है।

3. **क्षेत्र के आधार पर -** योजना के क्षेत्र के आधार पर नियोजन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -

(अ) विस्तृत योजना - व्यापक नियोजन का आशय ऐसी योजना से है जो संस्था की सम्पूर्ण समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है। अर्थात् मास्टर योजना के अन्तर्गत सभी विभागों के लक्ष्यों एवं समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण किया जाता है।

(ब) क्रियात्मक / विभागीय नियोजन - क्रियात्मक नियोजन उपक्रम की विशिष्ट समस्या या विशिष्ट विभाग, जैसे - उत्पादन, विपणन, वित्त, भवन के उपकरण आदि से सम्बन्धित होता है यह योजना विस्तृत योजना के उद्देश्यों के अनुरूप तैयार की जानी चाहिए।

4. **स्तर के आधार पर -** प्रबन्ध के स्तर के आधार पर नियोजन तीन प्रकार होते हैं -

(अ) उच्च स्तरीय नियोजन - इसके अन्तर्गत उच्च प्रबन्ध द्वारा बनाई गई योजनाओं को शामिल किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण संस्था के लिए सामान्य नीतियों. लक्ष्यों, कार्यक्रमों एवं बजट का स्पष्ट उल्लेख होता है। जो सम्पूर्ण उपक्रम को प्रभावित करती है।

(ब) मध्य स्तरीय नियोजन - इन योजनाओं का निर्माण मध्य स्तरीय प्रबन्ध द्वारा किया जाता है। ये योजना लक्ष्यों के प्राप्त करने से सम्बन्धित होती है।

(स) निम्न स्तरीय नियोजन - कभी-कभी पर्यवेक्षकों व सुपरवाइजरों द्वारा भी योजनायें बनाई जाती है। उन्हें निम्नस्तरीय नियोजन कहते है। ये योजनायें मुख्य रूप से कार्यकारी योजनायें होती है जो अल्पकाल के लिए तैयार की जाती है।

5. **प्रकृति के आधार पर -** प्रकृति के आधार पर नियोजन को दो भागों में बाँटा जा सकता है -

(अ) स्थायी नियोजन - स्थायी नियोजन से आशय ऐसी योजनाओं से होता है जिनका बार-बार प्रयोग किया जा सकता है। ये योजनाएँ स्थाई प्रकृति की होती है। इसके अन्तर्गत उपक्रम की नीतियों संगठन संरचना, उत्पादन प्रकृति आदि से सम्बन्धित योजनाओं को शामिल किया जाता है।

(ब) अस्थाई या एकल चक्र नियोजन - यह वह नियोजन है जो विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति अथवा विशिष्ट समस्या के समाधान हेतु बनाया जाता है। उद्देश्य की पूर्ति या समस्या का समाधान होते ही यह योजना मत ही समाप्त हो जाती है।

6. **उद्‌गम के आधार पर -** उद्‌गम के आधार पर नियोजन को प्रमुखत दो भागों में बाँटा जा सकता है -

(अ) उच्च स्तरीय नियोजन - इसके अन्तर्गत उच्च प्रबन्ध द्वारा बनाई गई योजनाओं को शामिल किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण संस्था के लिए सामान्य नीतियों, लक्ष्यों, कार्यक्रमों एवं बजट का स्पष्ट उल्लेख होता है। जो सम्पूर्ण उपक्रम को प्रभावित करती हैं।

(ब) अनुरोधित नियोजन - कुछ योजनाएँ अधीनस्थों एवं सहयोगियों के अनुरोध पर तैयार की जाती हैं। इन्हें अनुरोध पर आधारित योजनाएँ कहते हैं जैसे सुझाव योजना।

7. **उद्देश्य के आधार पर -** उद्देश्य के आधार नियोजन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है -

(अ) सृजनात्मक / नवाचार नियोजन - नयी नीतियों तकनीकी परिवर्तनों. अनुसन्धानों आदि बातों को लागू करने वाली योजनाओं को सृजनात्मक नियोजन कहते है। ये योजनाएँ मूलरूप से नई होती हैं।

(ब) सुधारात्मक नियोजन - वर्तमान योजनाओं एवं क्रियाओं में आवश्यक सुधार अथवा परिवर्तन हेतु तैयार की गई योजनाओं को सुधारात्मक नियोजन कहते है। यह उत्पादन प्रणाली, कार्यविधि आदि से सम्बन्धित होती है।

(स) नैत्यिक नियोजन - इन योजनाओं का सम्बन्ध उपक्रम में प्रत्येक स्तर पर होने वाली दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं से होता है ये योजनाएँ व्यापक योजना के सहायक के रूप में कार्य करती हैं।

12.4 नियोजन प्रक्रिया

कूण्टज एवं ओं डोनेल के अनुसार नियोजन प्रक्रिया में निम्नलिखित कदम आवश्यक हैं -

- उद्देश्यों का निर्धारण।
- नियोजन मान्यताओं की स्थापना।
- वैकल्पिक कार्यपथों का निर्धारण।
- वैकल्पिक कार्यपथों का मूल्याकंन
- सर्वश्रेष्ठ कार्यपथ का चुनाव।
- सहायक योजनाओं का निर्माण।

जार्ज आर- टैरी के अनुसार नियोजन प्रक्रिया के प्रमुख कदम निम्न हैं -

- समस्या का स्पष्टीकरण।
- अर्न्तनिहित क्रियाओं के सम्बन्ध में पूर्ण सूचनाएँ प्राप्त करना।
- सूचनाओं का विश्लेषण एवं वर्गीकरण।
- नियोजन की बाधाओं एवं मान्यताओं की स्थापना।
- वैकल्पिक योजनाओं को निश्चत करना।
- प्रस्तावित योजना का चुनाव।
- प्रस्तावित योजना के लिए समय एवं विस्तृत कार्यक्रम का निर्धारण।
- प्रस्तावित नियोजन के अनुवर्तन के लिए प्रावधान।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नियोजन प्रक्रिया में विभिन्न विद्वानों ने अनेक तथ्यों को सम्मिलित किया है। इस सभी के विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते है कि नियोजन प्रक्रिया में निम्नलिखित चरण सम्मिलित होते हैं -

1. **अवसरों की पहचान :** योजना बनाने के लिए उचित अवसर खोजने होते हैं। योजना बनाने की आवश्यकता ही किसी अवसर का लाभ उठाने के लिए पडती है। जब कोई समस्या या चुनौती हो तो उसको सुलझाने या उसका सामना करने के लिए योजना बनाने की आवश्यकता पड़ती है। अत: प्रबन्धकों को कोई भी योजना बनाने से पहले उस अवसर, समस्या या चुनौती की सही पहचान कर लेनी चाहिए। यदि हम समस्या की सही पहचान करके भविष्य के लिए कार्य प्रारम्भ नहीं करेंगे तो परिणाम गलत हो सकते हैं। अत: योजना बनाने से पहले समस्या या चुनौती को स्पष्ट एवं विश्लेषित कर लेना आवश्यक है।

2. **उद्देश्यों का निर्धारण :** नियोजन प्रक्रिया का महत्वपूर्ण चरण उद्देश्यों का निर्धारण करना है। यह एक प्रारम्भिक बिन्दु है। क्योंकि संगठन में प्रत्येक व्यक्ति यह जानना चाहेगा कि भविष्य में क्या प्राप्त करना है। सर्वप्रथम, सम्पूर्ण संगठन के उद्देश्यों को निश्चित किया जाता है तत्पश्चात् उद्देश्यों को निर्दिष्ट किया जाता है। उद्देश्यों को प्राथमिक तथा सहायक रूप में तय किया जाना अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। प्राथमिक अथवा प्रमुख उद्देश्य संगठन में सभी कर्मचारियों को स्पष्ट रूप से ज्ञात होने चाहिए, क्योंकि ये भावी परिणामों को निर्दिष्ट

करते है तथा यह दर्शाते हैं कि क्या कार्य करना है। नियोजन के उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किए जाने चाहिए कि उन्हें सरलता से सम्बन्धित व्यक्तियों को समझाया जा सके।

3. **नियोजन आधारों का निर्धारण :** नियोजन प्रक्रिया का दूसरा क्रमानुसार कदम उसके आधारों का निर्धारण, उपयोग पर सहमति और नियोजन आधारों का विच्छेदन करना है। नियोजन के आधारों को पूर्वानुमान भी कहते है। ये पूर्वानुमान भावी स्थितियों के विषय में किए जाते हैं। इनका ठीक ढंग से अनुमान लगाना नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक होता है। ये आधार भविष्य की अनिश्चित परिस्थितियों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराते हैं। अतएव नियोजन की सफलता में आधारों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। पूर्वनुमान उन तत्वों के सम्बन्ध में होते हैं जो कि योजना की व्यवहारिकता को प्रभावित करते हैं। इन्हें दो वर्गो में बाँटा जा सकता है। बाहरी तत्व तथा आन्तरिक तत्व। बाहरी तत्वों से अभिप्राय ऐसे तत्वों से है जो संस्था को बाहर से प्रभावित करते हैं, जैसे - सरकार की आर्थिक, औद्योगिक व कर सम्बन्धी नीति, जनसंख्या में वृद्धि व इसकी संरचना में परिवर्तन, व्यावसायिक प्रतियोगिता, ग्राहकों की पसन्द व रूचि में परिवर्तन आदि। ये तत्व सामान्यतया संस्था के नियन्त्रण के बाहर माने जाते है जिनका पूर्वानुमान लगाया जाना आवश्यक है।

   आन्तरिक तत्वों में भी अनेक तत्व सम्मिलित हैं जैसे - संस्था के पास प्रस्तावित योजना को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक साधनों पूँजी, कर्मचारी, कच्चे माल, मशीनों और तकनीकी निपुणता की उपलब्धता, संस्था की चालू योजनाओं के साथ नई योजनाओं को जोड़ने की सम्भावनायें, तथा संस्था की चालू तथा दीर्घकालीन नीतियाँ, कार्यनीतियाँ व अपेक्षाएँ। योजना को प्रभावित करने वाले इन तत्वों में से कुछ तत्व संस्था के नियन्त्रण में होते हैं अर्थात् वह उन्हें अनुकूल बना सकती है।

   पूर्वानुमान के बाद, इनके आधार पर उन निर्णायक तथा महत्वपूर्ण तत्वों को परिभाषित किया जाता है जो योजना की व्यवहारिकता में सबसे अधिक प्रभावी होते हैं। उदाहरण के लिए, पूँजी की उपलब्धता, कर्मचारियों का सहयोग, औद्योगिक लाइसेंस की शर्ते प्रतियोगी संस्था की घुसपैठ आदि ऐसे तत्व हैं जो योजना की व्यापकता को सीमित करते हैं। सम्पूर्ण योजना का ताना-बाना इन तत्वों को ध्यान में रखकर ही बुना जाना चाहिए।

4. **वैकल्पिक कार्यविधियों का निर्धारण :** पूर्वानुमान लगाने के बाद एक व्यावसायिक संस्था के समक्ष समस्या आती है कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कौन से वैकल्पिक साधनों का प्रयोग कर सकती है? वैकल्पिक साधन निश्चित हो जाने पर उन सभी साधनों का प्रयोग करके जाँच की जाती है और इस बात का पता लगाया जाता है कि उनमें कौन-सा साधन सबसे अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। एक बड़ी संस्था में विकल्पों का परीक्षण कठिन होता है क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों से सम्बन्धित आकड़े संकलित करने पड़ सकते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि विभिन्न कार्यविधियों में से सर्वोत्तम कार्यविधि का चुनाव करने के लिए प्रबन्धकों को सभी कार्यविधियों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

   वैकल्पिक उपायों की पहिचान प्रबन्धकों के स्वयं के अध्ययन, अनुभव और अवलोकन पर आधारित हो सकती है तथा सहयोगियों, अधीनस्थों व विशेषज्ञों के साथ विचार-विनिमय पर भी। नये-नये वैकल्पिक उपायों की खोज के लिए प्रबन्धक को चाहिए कि वह अपनी और अपने

सहयोगियों की कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति और सृजन को स्वतन्त्रता दे ताकि नए और श्रेष्ठ विचार जन्म ले सकें। विचार करने से प्रबन्धक को चुने गए उपाय के रास्ते में कठिनाई आ जाने पर, उसके स्थान पर तुरन्त अन्य बेहतर उपाय का चुनाव करने से सरलता रहती है।

5. **वैकल्पिक कार्यविधियों का मूल्यांकन :** किसी व्यावसायिक संस्था में नियोजन करने के लिए विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन किया जाता है और उनके पारस्परिक गुण-दोष का मूल्यांकन किया जाता है जिससे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि कौन-सा विकल्प किस स्तर पर अधिक उपयोगी एवं लाभदायक है। इसके लिए प्रबन्धक सर्वप्रथम, यह जाँच करता है कि यह उपाय निर्धारित उद्देश्यों को कितनी मितव्ययता, कुशलता तथा शीघ्रता से प्राप्त कर सकते है। स्पष्ट है कि प्रबन्धक उस उपाय का चुनाव करना चाहेगा जो निर्दिष्ट उद्देश्यों को कम-से-कम व्यय और अधिक-से-अधिक कुशलता व तेजी के साथ प्राप्त करने से सहायक होंगें। द्वितीय, प्रबन्धक प्रत्येक उपाय की अर्न्तनिहित धारणाओं तथा सीमाओं का विश्लेषण करके यह मालूम करता है कि वे संस्था को कितना लाभ पहुंचा सकते है, व्यवसाय की दीर्घकालीन नीतियों के साथ कितना मेल रख पाते हैं, उनकी लागत व पहुंच क्या है, क्या व्यवसाय इन उपायों के अनुसार काम करने के लिए सक्षम है; क्या योजना की आधारभूत धारणाओं और इन उपायों के अनुसार काम करने के लिए सक्षम है, क्या योजना को आधारभूत धारणाओं और इन उपायों में पारस्परिक मेल है।

6. **सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव -** नियोजन प्रक्रिया के इस चरण में किसी कार्य को करने की विभिन्न विधियों का मूल्यांकन करने के पश्चात् सर्वोत्तम कार्यविधि का चयन किया जाता है। वही कार्यविधि सर्वोत्तम मानी जाती है जो संस्था को अत्यधिक लाभ प्राप्त करने में सहायक होती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी वैकल्पिक कार्यविधियों का मूल्यांकन करने से यही स्पष्ट होता है कि उपक्रम के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कोई एक विधि उपयोगी न होकर अनेक विधियों के मिश्रण (मिली-जुली कार्यविधि) का चयन लाभदायक होता है। योजना को अन्तिम रूप देने का अर्थ है कि विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना। वास्तव में योजना का श्रीगणेश इसी स्थान से होता है।

7. **विस्तृत योजनाओं का निर्धारण -** प्रबन्धक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए चुने कार्य-मार्ग को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विभागों व कार्यो की विस्तृत योजना बनाता है कि किसने, कब, क्या, कैसे और कहीं क्या कार्य करना है? उत्पादन, विपणन तथा वित्त-प्रबन्ध की ये व्यापक योजनाएँ योजना के मूल उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ही बनाई जाती हैं। अत: इनमें पारस्परिक तालमेल होना आवश्यक है।

8. **समय-सारणी तथा बजट बनाना -** प्रबन्धक मुख्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनाई गई विभिन्न उप-योजनाओं को समय और साधन की दृष्टि से एक-दूसरे के साथ समन्वित करता है। इसके लिए सर्वप्रथम, प्रत्येक उप-योजना के पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए समयबद्ध कार्यक्रम बनाए जाते है और फिर इन पर व्यय और प्राप्ति के बजट बनाए जाते है। समय-सारणी व बजट भिन्न योजनाओं को एक-सूत्र में पिरो देते हैं और समय व साधनों के कुशल उपयोग को सम्भव बनाते हैं। इनके आधार पर वास्तविक प्रगति का समय-समय

पर सही मूल्यांकन किया जाता है और किसी भी कमी को सुधारात्मक कार्यवाही करके पर्याप्त समय रहते दूर किया जा सकता है। साथ ही निम्नस्तरीय पदाधिकारियों के निर्देशन, नियन्त्रण के लिए तथा योजना को अधिक कुशलतापूर्वक लाग करने के लिए अनेक उपयोगी नीतियों, नियमों, कार्यविधियों तथा कार्य-प्रणालियों की घोषणा की जाती है।

9. **योजनाओं का क्रियान्वयन एवं पुनरावलोकन -** नियोजन का कार्य केवल योजना बनाने के साथ ही समाप्त नहीं होता अपितु नियोजन एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसमें एक योजना समाप्त होने पर दूसरी योजना बनायी जाती हैं और दूसरी के बाद तीसरी। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस दौरान हमें इस बात का ध्यान रखना होता है कि योजना को ठीक प्रकार से क्रियान्वित किया गया है या नहीं। इसके लिए नियोजन कार्यक्रमों की तुलना वास्तविक निष्पादन से की जाती है और इसमें जो कमियाँ या गलतियाँ पाई जाती है उनमें भावी योजना के द्वारा सुधार कर लिया जाता है। इस प्रकार योजना का पुनरावलोकन करना भी महत्वपूर्ण है। योजनाओं का क्रियान्वयन करना तथा उनका पुनरावलोकन करना नियोजन का अन्तिम और महत्वपूर्ण अंग है।

12.5 नियोजन के तत्व

कून्ट्ज एवं ओ डोनेल, थियो हेमन, टेरी आदि विद्वानों ने नियोजन के तत्त्वों या संघटकों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया है

1. **उद्देश्य -** 'उद्देश्य' वे वांछित परिणाम हैं जिनके लिए समस्त क्रियायें निर्देशित की जाती हैं। वस्तुतः उद्देश्य वे व्यापक प्रयोजन होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए संस्था की स्थापना और संचालन किया जाता है। उद्देश्यों के अभाव में संस्था की वही स्थिति होती है जो कि पतवार के अभाव में एक नौका की होती है। उद्देश्य अथवा लक्ष्य वे अन्तिम बिन्दु है जिनकी ओर सम्पूर्ण संस्था अपने प्रयासों और साधनों को निर्देशित करती है। उद्देश्यों के अभाव में नियोजन करना सम्भव नहीं है।

उद्देश्यों के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बातें इस प्रकार है -

- उद्देश्यों का उल्लेख यथासम्भव स्पष्ट और सरल होना चाहिए।
- उद्देश्य सौपानिक होते है अर्थात हर प्रबन्ध स्तर के अपने उद्देश्य होते हैं।
- उद्देश्य एक से ज्यादा होते हैं और वे परस्पर सम्बन्धित होते हैं।
- उद्देश्य निर्धारण के कई क्षेत्र हो सकते हैं जैसे - बाजार स्थिति, नवा-चार, उत्पादकता, भौतिक और वित्तीय संसाधन, लाभदेयता, प्रबन्धकीय निष्पादन एवं विकास, कर्मचारी निष्पादन एंव प्रवृत्तियाँ, जन दायित्व, प्रतिष्ठा, मनोबल, सामुदायिक स्थिति, औद्योगिक नेतृत्व आदि।
- लाभार्जन व्यवसाय का एकमात्र उद्देश्य नहीं होता है।
- उद्देश्य दीर्घकालीन, मध्यकालीन या अल्पकालीन हो सकते हैं।
- उद्देश्य सामान्य अथवा विशिष्ट भी हो सकते हैं। लाभदेयता जन-कल्याण, किस्म सुधार, विकास विस्तार आदि सामान्य उद्देश्य हैं। प्रतिस्पर्द्धा का सामना, कीमत कम करने, बाजार पर अधिकार करना अल्पकालीन उद्देश्य हैं।

- उद्देश्य कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों की क्रियाओं का प्रबन्ध करते है तथा योजनाओं को आधार प्रदान करते हैं।
- उद्देश्य कार्य-निष्पादन के मूल्यांकन का आधार बनते हैं।
- उद्देश्य कार्यो की प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित करते हैं।
- उद्देश्य दीर्घकालीन योजनाओं एवं प्रबन्धकीय नीतियों के विकास में नींव का काम करते हैं। उद्देश्य विकेन्द्रित निर्णयन में एकरूपता और संगतता पैदा करते हैं।
- उद्देश्य कर्मचारियों को प्रेरित करने में सहयोग करते हैं।
- बदली हु यी दशाओं में उद्देश्यों का पुर्नमूल्याकन तथा पुर्ननिर्धारण आवश्यक्र होता है।

2. **नीतियाँ -** उद्देश्य या लक्ष्य बतलाते हैं कि कहीं पहुँचना है और क्या करना है, जबकि नीतियाँ बतलाती है कि उन्हें कैसे प्राप्त करना है? **'नीतियाँ' सामान्यत: लक्ष्य प्राप्ति में प्रबन्धकों का मार्गदर्शन करने वाले सैद्धान्तिक कथन होती हैं। कून्ट्ज एवं ओ डोनेल** के शब्दों में नीतियाँ वे सामान्य विवरण हैं जो निर्णयन में चिन्तन का मार्गदर्शन करते हैं।

नीतियों की कुछ विशिष्ट बातें इस प्रकार है :

- नीतियों का सम्बन्ध प्रत्येक विभाग से होता है। इनको विभागीय नीतियाँ कहते हैं, जैसे- क्रय नीति, विक्रय नीति, उत्पादन नीति आदि।
- नीतियाँ पूर्व दृष्टान्तों का कार्य करती हैं और व्यक्तिगत निर्णयन में लगने वाले समय को बचाती हैं।
- स्वस्थ, स्पष्ट एवं सरल रूप में उल्लेखित नीतियाँ निर्णयन में भारार्पण को प्रोत्साहित करती हैं। संगठन को स्थायित्व प्रदान करती हैं। कर्मचारी निराशा को दूर करती हैं, विचलनों को रोकती हैं, समन्वय को सुविधाजनक बनाती हैं, स्वत: प्रेरणा को सम्भव बनाती हैं, भावी नियोजन में मार्गदर्शन करती हैं। कर्मचारी सहयोग उपलब्ध कराती हैं।
- कुछ नीतियाँ उच्चाधिकारी स्वत: ही बनाते हैं और कुछ नीतियाँ कर्मचारियों की प्रार्थना पर बनायी जाती हैं।
- नीतियाँ लिखित या अलिखित, स्पष्ट या गर्भित, याचित या आरोपित हो सकती हैं।
- नीतियाँ संयोग से पैदा नहीं होती। वे प्रबन्धकों तथा कई बार बाहरी शक्तियों के कारण पैदा होती हैं।
- नीतियाँ चिन्तन को व्यापक मार्गदर्शन प्रदान करती हैं।
- नीतियाँ लोचपूर्ण होती हैं। उनमें प्राय: 'Whenever Possible", “Whenever Feasible" Under usual condition जैसे शब्द जुड़े रहते हैं। किन्तु लोचशील इतनी अधिक भी नहीं होनी चाहिए कि वे प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों को भ्रम में डाल दें या विरोध को जन्म दें।

3. **पद्धतियाँ -** पद्धतियाँ भी नियोजन का आवश्यक अंग हैं। पद्धतियाँ प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों को लक्ष्यों को पूर्ति की विधि बतलाती है। पद्धतियाँ क्रियापथ की निर्देशक होती हैं, न कि चिन्तन की। नीतियाँ, वस्तुत: उस व्यापक क्षेत्र की स्थापना करती है जिसका निर्धारण उद्देश्यों एवं सीमाओं के द्वारा होता है। किन्तु पद्धतियाँ निश्चित क्रियाओं के क्रम को दर्शाती हैं और किसी कार्य को करने का निश्चित तरीका बतलाती हैं। उदाहरणार्थ, संस्था में कार्यरत व्यक्तियों को

चिकित्सा-लाभ प्राप्त करने का अधिकार है, तो संस्था की नीति मानी जावेगी। किन्तु ऐसा चिकित्सा लाभ प्राप्त कराने के लिए डॉक्टर की दवा की चिट्ठी, बिल आदि नियत ढंग से प्रस्तुत करना पद्धति कहलायेगी। इसी प्रकार, कर्मचारियों को अवकाश कितना मिलेगा, वह पद्धति बतलाती है। ग्राहक सदैव सही है, यह नीति की बात होगी, किन्तु ग्राहक के शिकायत करने पर उसके निवारण-हेतु क्या तरीका अपनाया जायेगा, इसे पद्धति निश्चित करेगी।

4. **विधियाँ - टैरी** के अनुसार विधि उद्देश्य, उपलब्ध सुविधाओं, समय, धन एवं प्रयत्नों के कुल व्ययों पर पर्याप्त ध्यान देते हुये किए कार्य के निष्पादन का निर्धारित तरीका है। पद्धति एवं विधि में अन्तर होता है। विधि अधिक विस्तृत तरीका होती है। **थियो हैमन** लिखते है कि पद्धति लिये जाने वाले कदमों की श्रृंखला को बतलाती है जबकि विधि किसी एक क्रिया से सम्बन्ध रखती है। विधि वस्तुत: किसी कार्य को करने का सर्वोत्तम तरीका होती है।

5. **कार्यक्रम -** कार्यक्रम भी नियोजन का आवश्यक तत्व हैं। कार्यक्रम संस्था में किये जाने वाले कार्यो के क्रम का निर्धारण करते है। कार्यक्रम संक्षिप्त एवं सही रूप से निर्धारित कार्य की योजना होते हैं जो लक्ष्यों के अनुरूप कार्यो के सम्पादन का क्रम निर्धारित करते हैं। इसलिए संस्था द्वारा निर्धारित लक्ष्यों एवं स्थापित नीतियों की क्रियान्विति के लिए तय किये गये कार्य-पथ कार्यक्रम कहलाते हैं। पुनरात्मक एवं अपुनरात्मक क्रियाओं के लिए कार्यक्रम को आवश्यक समझा गया है। कार्यक्रम प्रमुख एवं सामान्य हो सकते हैं। जैसे - कम्प्यूटर संस्थापन प्रमुख कार्यक्रम है तथा प्रशिक्षण सामान्य कार्यक्रम।

   कार्यक्रम से सम्बद्ध कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं -

   – कार्यक्रम नीतियों का जटिल समूह होते हैं।
   – कार्यक्रम में विभिन्न प्रकार की नीतियाँ, पद्धतियाँ, बजट, विधियाँ आदि सम्मिलित होती हैं।
   – कार्यक्रम के पूरा हो जाने पर सम्बद्ध योजनाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं। उनका पुन: प्रयोग नहीं होता।

6. **बजट -** व्यवसाय के प्रत्येक कार्य को मितव्ययी व उपयुक्त ढंग से करने के लिए बजट तैयार किये जाते हैं जो कि आय-व्यय एवं भौतिक साधनों आदि के प्रत्याशित अनुमान होते हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे - मास्टर बजट, वैयक्तिक विभागीय, क्रय बजट, विक्रय, श्रम, वेतन आदि। बजट नियन्त्रण के साधन होते हैं और कार्यो एवं प्रयासों को मौद्रिक एवं भौतिक रूप प्रदान करते हैं। **कून्ट्ज एवं ओ डोनेल** ने लिखा है कि नियोजन के रूप में बजट भावी परिणामों को संख्यात्मक रूप में स्पष्ट करने का विवरण है। इसे संख्यात्मक कार्यक्रम भी कहा जा सकता है। बजट नियन्त्रण करने के उपाय के रूप में काम आता है। किन्तु बजट बनाना नियोजन का एक अंग है। 'बजट, व्यवहार में न केवल प्रबन्धकों को नियोजन करना सिखाते है, बल्कि नियोजन में निश्चितता उत्पन्न करते हैं तथा संस्था की योजनाओं को समेकित भी करते हैं।

7. **रीति-नीति या मोर्चाबन्दी -** मोर्चाबन्दी, व्यूह-रचना रणनीति एवं रण-कौशल से सम्बन्ध रखते हैं। ये वे युक्तियाँ हैं जिनका उपयोग प्रतिपक्ष को हराने के लिए किया जाता है। व्यवसाय भी रण क्षेत्र ही है। यहाँ भी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला करना होता है। अतएव व्यवसाय के क्षेत्र में

भी मोर्चाबन्दी करनी होती है। उदाहरण के लिए यदि एक संस्था विक्रय वृद्धि करने हेतु कीमत में कमी कर देती है तो दूसरी प्रतियोगी संस्था को क्या करना चाहिए कि प्रथम संस्था की यह पहल व्यर्थ हो जाये? क्या दूसरी संस्था को भी कीमत में कमी करनी चाहिए या विज्ञापन पर ध्यान देना चाहिए या किस्म में सुधार करना चाहिए? ये निर्णय ही व्यूह-रचना कहलाते हैं। क्रीड़ा सिद्धान्त इसी रणनीति का उदाहरण है।

संक्षेप में, रीति-नीतियों या मोर्चाबन्दी एक विशिष्ट नीति मानी गयी है जो स्वभाव में विवेचनात्मक होती है। **कून्ट्ज एवं ओ डोनेल** ने लिखा है कि **"रीति-नीतियाँ कार्य विधि के एक सामान्य कार्यक्रम का ज्ञान कराती हैं जिसमें उद्देश्य प्राप्ति के लिए साधनों के प्रयोग का मोटे रूप में निर्धारण किया जाता है। इनका उद्देश्य मोटे-मोटे उद्देश्यों और नीतियों के द्वारा यह तय करना और बतलाना है कि कम्पनी को क्या काम करना है।"**

8. **नियम -** नियम भी लक्ष्यों, नीतियों एवं पद्धतियों की भाँति नियोजन का एक अंग होते है। नियम पद्धतियों का मार्गदर्शन हैं और योजनाओं के सूक्ष्म, स्पष्ट तथा सरल रूप होते है। कुछ लोग नीतियों, नियमों एवं पद्धतियों को एक मान बैठते हैं जो कि दोषपूर्ण है। नियम पद्धतियों का मार्गदर्शन करते हैं। नियम पद्धतियों का भाग भी हो सकते हैं और अनेक दशाओं में नहीं भी। उदाहरणार्थ, सिनेमा हाल में सिगरेट न पीना या राष्ट्रीय गान के समय खड़े हो जाना एक नियम है, पद्धति नहीं। इसी प्रकार नियमों एवं नीतियों में भी अन्तर होता है, नीतियों में प्रबन्धकीय विवेक की प्रयुक्ति के लिए स्थान होता है किन्तु नियमों में इनके लिए कोई गुँजाइश नहीं होती है।

नियमों की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं -

(i) नियम न तो नीति है और न पद्धति ही, क्योंकि न तो यह चिन्तन को दिशा देता है और न ही स्व-विवेक' के प्रयोग हेतु कोई मार्ग दर्शाता है।

(ii) नियम पद्धतियों से जुड़े होते है क्योंकि क्या करना अथवा नहीं करना चाहिए, यह नियम बतलाते है।

9. **समय-चक्र -** व्यवसाय में समय को 'धन' कहा गया है। यदि समय पर निर्णय न लिये जायें तो लाभ के अवसर हाथ से निकल जाते है। समय समस्त प्रबन्ध-कार्यो को प्रभावित करने वाला मुख्य घटक है जिसकी उपेक्षा से असफलता का मुँह देखना पड़ता हैं। अतएव संस्था में समय-चक्र बनाये जाते हैं। नियोजन में पर्ट तथा सी. पी. एम. जैसी तकनीकों का महत्वपूर्ण योगदान है।

10. **प्रमाप -** प्रमाप भी नियोजन का एक तत्व है। व्ययसाय में अनेक तरह के प्रमाप, जैसे - परिणाम प्रमाप, किस्म प्रमाप, समय प्रमाप, व्यय प्रमाप आदि निश्चित किये जाते हैं। वस्तुत: ये प्रमाप आवश्यकीय रूप से अल्पकालीन होते हैं। इन प्रमापों में स्थिरता, शुद्धता एवं मापन-योग्यता के गुण होने चाहिए।

नियोजन के विभिन्न संघटकों या योजनाओं के बीच सूक्ष्म अन्तर को निम्न तालिका द्वारा व्यक्त किया जा सकता है -

संघटक	तुलनात्मक गुण	प्रमुख लक्षण	उपयोग उद्देश्य	जटिलतायें

1. उद्देश्य	क्रियाओं के लिए मार्गदर्शक लक्ष्य उपलब्ध करते है।	अति व्यापक	प्रत्येक परिचालनात्मक स्तर पर व्याख्या हेतु	परिशुद्ध रूप में पहचान तथा उल्लेख कठिन।
2. नीति	क्रियाओं के लिए सीमाऐं निर्धारित करती है।	विस्तृत,सामान्य एवं अति व्यापक	व्याख्या, विवेचन एवं निर्णय हेतु	हर प्रबन्धकीय निर्णय के लिए अनुपयुक्त पहिचान।
3. पद्धति	क्रियाओं की समयवार श्रृंखला परिभाषित करती है।	टेलरमेड - स्वरूप	पालन हेतु कुछ विवेचना जरूरी	स्थायी बने रहने की प्रवृत्ति
4. विधि	किसी कार्य के सम्पादन हेतु क्रिया पथ का निर्धारण करती है।	कार्य करने के विशिष्ठ एवं विस्तृत तरीके को बतलाती है।	पालन जरूरी	प्रायउपेक्षा की : जाती तथा अपर्याप्त नियोजन का परिणाम होती है।
5. प्रमाप	निष्पादन के वांछित स्तर को बतलाना।	टेलर मेडस्वरूप-	पालनार्थ निर्माण	वर्तमान क्रियाओं के अनुसार अद्यतन न बना पाना
6. बजट	वित्तीय सीमायें निर्धारित करता है।	टेलर मेडस्वरूप-	अनुपालना हेतु व्याख्या जरूरी	संशोधन कठिन।
7. कार्यक्रम	विभिन्न किन्तु समयबद्ध क्रियाओं को	व्यापक क्षेत्र	विवेचन, निर्णय एवं प्रबन्ध क्षमता जरूरी	किसी योजना मात्र के लिए निर्माण अर्थात स्थिरता का

	एकीकृत करताहै।			अभाव।
8. रणनीति	सामयिक घटनाओं का सामना करने में मदद करती है।	अल्पकालिक	प्रभावी नेतृत्व जरूरी	सफल प्रयोग तथावांछित परिणाम की प्राप्ति अनिश्चित।
9. नियम	मार्गदर्शन करते है।	कठोरता	पालना जरूरी	सर्वमान्यता का

12.6 नियोजन का महत्व

नियोजन प्रबन्ध का एक आधारभूत कार्य है, जिसकी आवश्यकता की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को कदम-कदम पर होती है। एक व्यवसायी को आरम्भ से अंत तक इसका अवलम्बन लेना पडता है। अत: प्रबन्ध में व्यवस्था, कुशलता एवं निश्चितता लाने के लिये योजना का महत्त्व अत्यधिक है, जो निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है -

1. **प्रबन्धकीय कार्यो का आधार -** नियोजन प्रबन्ध के अन्य कार्यो जैसे - संगठन, कर्मचारियों की भर्ती, निर्देशन, समन्वय, नियन्त्रण आदि का आधार माना गया है क्योंकि यह उन्हें समुचित दिशा प्रदान कर प्रभावपूर्ण बनाता है और उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि करता है। नियोजन द्वारा क्रियाओं का निर्धारण किये बिना कोई ऐसी क्रिया नहीं होगी जिसका संगठन किया जाये, जिसे गति प्रदान की जाये और जिसका नियन्त्रण किया जाये।
2. **भावी अनिश्चतता एवं परिवर्तनों का सामना करना -** यह सर्वविदित है कि भविष्य सदैव अनिश्चित एवं परिवर्तनशील रहा है अत: इस अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता का सामना करने के लिये नियोजन अतिआवश्यक है। इसलिये एक कुशल प्रबन्धक वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन तथा विश्लेषण करके भविष्य के बारे में अनुमान लगाता है और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये योजना तैयार करता हैं।
3. **उद्देश्यों की ओर ध्यान केन्द्रित करना -** लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर प्रबन्धकों का ध्यान केन्द्रित करने में नियोजन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुत: सभी योजनाएँ किन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाई जाती है। जब एक बार, उद्देश्य निर्धारित हो जाते हैं तो प्रबन्धक निर्णय लेते समय सदैव उनकी पूर्ति के लिये अपने दायित्व के प्रति सजग रहते हैं।
4. **समन्वय में सहायक -** नियोजन द्वारा उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या भिन्न-भिन्न विभागों के उद्देश्यों एवं कार्यो में समन्वय स्थापित करती है, जिसके फलस्वरूप उनमें पारस्परिक संघर्ष नहीं हो पाता है और सारा उपक्रम एकजुट होकर अपने तथ्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है।
5. **संचालन में मितव्ययता -** नियोजन द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये वैकल्पिक साधनों तथा कर्मचारियों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करना तथा विकास करना होता है। इस तालमेल के कारण लागत में कमी आ जाती है।

6. **नियन्त्रण में सुगमता -** नियोजन प्रबन्धकीय नियन्त्रण को सुगम बनाता है, इसलिये इसको नियन्त्रण का प्राण कहा गया है। नियोजन से यह निश्चित हो जाता है कि किस विभाग या व्यक्ति को कब, क्या और किस प्रकार कार्य करना है।
7. **उतावले निर्णय पर रोक -** नियोजन प्रबन्ध की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वैकल्पिक कार्यविधियों का विश्लेषण कर सर्वश्रेष्ठ का चुनाव किया जाता है। जिसमें पर्याप्त समय लगता है क्योंकि चयन पूर्ण सोच-विचार कर किया जाता है। इससे उतावले निर्णय पर रोक लग जाती है।
8. **संगठन की प्रभावशीलता में वृद्धि -** नियोजन से संगठन की प्रभावशीलता में वृद्धि होती है, क्योंकि इससे कार्य में अनावश्यक विलम्ब नहीं होता, लालफीताशाही समाप्त हो जाती है और कार्य निष्पादन में तेजी आ जाती है।
9. **अधिकारी के प्रत्योजन में सरलता -** नियोजन प्रबन्ध की ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से निर्धारित उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों तथा कार्यक्रमों के अनुसार उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों पर अधिकारों का प्रत्यायोजन सरलतापूर्वक कर सकते हैं जिससे प्रबन्धकीय कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
10. **राष्ट्रीय समृद्धि में योगदान -** योजनाओं के माध्यम से देश उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिये यह सहज ही कहा जा सकता है कि नियोजन राष्ट्रीय समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाएँ इस महत्व को दर्शाने के लिये एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

12.7 नियोजन की सीमाएँ

नियोजन के मार्ग में अनेक कठिनाईयाँ आती हैं जिन्हें नियोजन की सीमाएँ कहते है। प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं -

1. **अविश्वसनीय पूर्वानुमान -** पूर्वानुमान को नियोजन की आधारशिला कहा जाता है। इसलिये जब तक पूर्वानुमान सही नहीं होते तब तक नियोजन विश्वसनीय और प्रभावी नहीं बन पाता। इसलिये पुर्वानुमान सही ढंग से लगाये जाने चाहिए। दीर्घकालीन पूर्वानुमान करना कठिन होता है इसलिये अल्पकालीन की अपेक्षा दीर्घकालीन नियोजन अविश्वसनीय होते है।
2. **व्यक्तिगत रूचि का अन्त -** नियोजन ने प्रबन्धकों तथा विभागाधिकारियों की मौलिकता एवं व्यक्तिगत रूचि को समाप्त कर दिया है क्योंकि नियोजन से पहले ही संगठन, कर्मचारियों को पूर्व निर्धारित नीतियों, कार्यक्रमों एवं कार्यविधियों से बांध देता है।
3. **व्ययशील एवं समय-साध्य कार्य -** नियोजन में पर्याप्त धन, समय एवं शक्ति व्यय करनी पड़ती है। नियोजन की ऊँची लागतें इसकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण सीमा है जो इस बात पर सोचने को विवश करती है कि नियोजन किया जाये अथवा नही। इसलिये अनेक कम्पनियाँ नियोजन जैसे लाभप्रद कार्य को नहीं अपना पातीं।
4. **लोचहीनता -** यद्‌यपि नियोजन में लोच का गुण होता है, किन्तु नियोजन के परिणामों में लघु परिवर्तन करने ही सम्भव होते हैं। बड़े परिवर्तन न तो सम्भव होते हैं और न ही संस्था के लिये हितकर होते हैं।

5. **विश्वसनीय जानकारी का अभाव -** जानकारी और भविष्य के विषय में तथ्यों में अनिश्चितता होने से योजना का कार्यक्षेत्र सीमित रह जाता है कोई भी प्रबन्धक भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में सही और पूर्व भविष्यवाणी नहीं कर सकता। यदि नियोजन के द्वारा अनुमानित परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो योजना का महत्व ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उपलब्ध जानकारी के अभाव में योजना की उपयोगिता संकुचित हो जाती है।

6. **कार्यो में देरी -** योजना कार्यो में विलम्ब का कारण बनती है जबकि वास्तविक रूप से जब कुछ निश्चित क्षेत्रों में तुरन्त कार्य की आवश्यकता होती है। संकट काल में तत्काल निर्णय लेना आवश्यक होता है। वास्तविक रूप से जब कुछ निश्चित क्षेत्रों में तुरन्त कार्य की आवश्यकता होती है तो इस दशा में स्थितियों पर विचार करने में ही मूल्यवान समय खोना उचित नहीं होता। किन्तु इसके साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि योजना पर व्यय किया समय कभी व्यर्थ नहीं जाता। समय आने पर इससे अच्छे परिणाम भी प्राप्त होते हैं। संकटकाल को छोड़कर योजना के बिना कार्य करना नासमझी ही होती है।

7. **पहल पर रोक -** योजना के आधार पर यदि कठोरता से कार्य किया जाता है तो कर्मचारियों के कार्य करने की स्वतन्त्रता तथा पहले करने की क्षमता का हास होता है। टैरी के अनुसार, नियोजन कर्मचारियों की पहल की भावना का गला घोंट देता है और यह प्रबन्धकों को कठोर विधि से कार्य करने के लिए बाध्य करता है।

8. **शीघ्र परिवर्तन का प्रभाव -** वर्तमान युग में व्यापार एवं उद्योग में इतनी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं कि उनके बारे में पूर्वानुमान लगाकर नियोजन करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कई बार इन परिवर्तनों के कारण तैयार की गई योजनाएँ व्यर्थ हो जाती है।

9. **सर्वोत्तम विकल्प की समस्या -** सर्वोत्तम विकल्प का चयन व्यावहारिक परिस्थितियों में इतना आसान नहीं है जितना कि सोचा जाता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सभी विकल्पों में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार गुण-दोष होते हैं, अत: सर्वोत्तम विकल्प का निर्णय करना यदि असम्भव नहीं हो तो कठिन अवश्य है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी कही जाती है कि जो आज सर्वोतम है उसके लिए यह कैसे कहा जा सकता है कि वह सदैव ही सर्वोत्तम रहेगा।

10. **अन्य सीमाएँ -**
    - जिन व्यवसायों में अधिक परिवर्तन होते हैं उनके लिये नियोजन का उपयोग करना सम्भव नहीं होता है।
    - जब समस्याओं की बारम्बारता को समाप्त करने के लिये जो स्थायी सीमाएँ बनाई जाती हैं तो योजनाएँ तत्कालीन योजनाओं से अपना समन्वय नहीं कर पाती हैं।

12.8 श्रेष्ठ नियोजन के आवश्यक तत्व

1. **सुनिश्चित एवं स्पष्ट उद्देश्य -** एक उत्तम नियोजन का प्रथम तत्व यह है कि नियोजन के उद्देश्य स्पष्ट तथा सुनिश्चित होने चाहिये ताकि नियोजन का आधार सुदृढ़ बन सके।

2. **सरल एवं बौधगम्य -** श्रेष्ठ नियोजन का दूसरा तत्व उसकी सरलता होना चाहिये जिससे संस्था में संलग्न सभी व्यक्तियों को वह आसानी से समझ में आ सके। अनावश्यक रूप से जटिल योजना क्रियान्वयन एवं नियन्त्रण में कठिनाई पैदा कर सकती है।

3. **लोचशील -** कोई भी योजना अपने में परिपूर्ण नहीं होती उसमें भावी परिस्थितियों के परिवर्तनों के कारण परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए वही नियोजन उत्तम माना जाता है जिसमें परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जा सके।

4. **मितव्ययी -** प्रत्येक संगठन के पास सीमित साधन होते हैं और इन साधनों के अनुरूप ही योजना का निर्माण होना चाहिये जिससे वह न्यूनतम व्ययशील बन सके। वही योजना उच्छी मानी जाती है जो मितव्ययी ढंग से बनायी जाये।

5. **संतुलित व्यवहार्य एवं उपयुक्त -** उत्तम नियोजन का संतुलित, व्यवहार्य एवं उपयुक्त होना आवश्यक है अन्यथा निर्मित योजनाएँ निरर्थक ही सिद्ध होंगी।

6. **तर्कसम्मत निर्णय -** उत्तम नियोजन वह होता है जो वैकल्पिक विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करता है। ऐसा चयन तभी सम्भव हो सकता है समस्त उपलब्ध विकल्पों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये।

7. **अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन योजनाओं में समन्वय -** उत्तम नियोजन वह है जिसके अन्तर्गत अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन योजनाओं में पूर्ण समन्वय हो। यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि अल्पकालीन योजना दीर्घकालीन योजना के विपरीत न हो।

8. **उद्देश्योन्मुख -** श्रेष्ठ नियोजन का आवश्यक तत्व उसका उद्देश्योन्मुख होना माना जाता है। उत्तम नियोजन वह होता है जो न तो नियोजनकर्ता की मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों से प्रभावित होता है और न ही अधिकारियों की सामाजिक व मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों से।

12.9 सारांश

नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य है। **सामान्य अर्थो में नियोजन का अभिप्राय क्या करना है, कैसे करना तथा क्यों करना है? का पूर्व-निर्धारण करना है।** इसलिए ही नियोजन को 'आगे देखने की प्रक्रिया कहा गया है।

उपक्रम में मितव्ययिता, कार्यो के मापन, साधनों का सदुपयोग, कुशलता में वृद्धि, निश्चितता, समन्वय, कार्यक्रम तैयार करने तथा विकास की सम्भावनाओं का पता लगाने के उद्देश्य से नियोजन का निर्माण किया जाता है।

उद्देश्य, नीतियाँ, कार्य-प्रणाली, रीति या विधि, नियम, पूर्वानुमान, बजट, व्यूह रचना तथा कार्यक्रम नियोजन के मुख्य तत्व हैं, जो विस्तृत व्याख्या करते हैं।

अवधि के आधार पर नियोजन अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन; प्रकृति के आधार पर स्थायी एवं अस्थायी; नियोजन के आधार पर उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय, निम्नस्तरीय; महत्व के आधार पर विस्तृत, व्यूहरचनात्मक एवं संचालनात्मक नियोजन के रूप में माना जा सकता है।

प्रभावशाली नियोजन हेतु नियोजन-प्रक्रिया में उद्देश्यों का निर्धारण, तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण, मान्यताओं का निर्धारण, विकल्पों का विकास एवं मूल्यांकन, श्रेष्ठ विकल्प का चुनाव, सहायक योजनाओं का निर्माण तथा अनुवर्तन के कार्य करने होते हैं।

नियोजन का क्षेत्र बाहरी तत्व अर्थात् आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, विधिवत् एवं प्रतिस्पर्धात्मक एवं आन्तरिक क्रियाओं जैसे विक्रय, उत्पादन सामग्री, वित्त एवं मानवीय

शक्ति के संयोजन है। वास्तविकता तो' यह है कि नियोजन सर्वव्यापक है तथा इसकी सभी प्रबन्धकीय कार्यो में आवश्यकता होती है।

12.10 शब्दावली

व्यूहरचना	:	किसी संगठन द्वारा जटिल एवं गतिशील वातावरण में प्रतिस्पर्धी, उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने हेतु बनायी गयी कार्य योजना।
नीतियाँ	:	सामान्य कथन जो संगठन के अधिकारियों / कर्मचारियों को निर्णयन में मार्गदर्शन प्रदान करती हैं।
कार्यविधियाँ	:	विभिन्न चरणों की क्रमबद्ध श्रृंखला जो किसी विशिष्ट कार्य को निर्धारित करने हेतु निर्धारित की जाती है।
प्रमाप	:	किसी कार्य का आदर्श स्तर।
कार्यक्रम	:	विभिन्न संपादित की जाने वाली क्रियाओं का व्यवस्थित विवरण।
बजट	:	भावी आवश्यकताओं का परिमाणात्मक अनुमान।
परियोजना	:	किसी बड़े कार्य अथवा योजना के विशिष्ट चरण के लिए बनायी गयी उप योजना।

12.11 प्रश्न

1. 'नियोजन' शब्द की परिभाषा दीजिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. नियोजन से आप क्या समझते हैं' इसकी आवश्यकता और महत्व का विवेचन कीजिए।
3. नियोजन के तत्व कौन से हैं? प्रत्येक का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. नियोजन प्रक्रिया में निहित आवश्यक कदमों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
5. "नियोजन मूल रूप से चयन प्रक्रिया है तथा नियोजन समस्या का उदय कार्य के वैकल्पिक तरीके की खोज के साथ ही होता है।" स्पष्ट कीजिए।
6. नियोजन के लाभों और सीमाओं का वर्णन कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) कार्यक्रम,
   (ii) समय चक्र,
   (iii) व्यूह-रचना और
   (iv) बजट

12.12 सन्दर्भ पुस्तकें

– **जी.एस सुधा -** प्रबन्ध अवधारणाएँ एवं संगठनात्मक व्यवहार (रमेश बुक डिपो, जयपुर, 2003)

– **आर.एल. नौलखा -** प्रबन्ध के सिद्धान्त (आदर्श प्रकाशन, जयपुर, 2005)

इकाई-13: उद्देश्यानुसार प्रबन्धन (Management by Objectives)

इकाई की रूप रेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 उद्देश्य से अभिप्राय
13.2 उद्देश्यों का वर्गीकरण
13.3 उद्देश्यानुसार प्रबन्धन की अवधारणा
13.4 उद्देश्यानुसार प्रबन्धन की प्रक्रिया
13.5 लाभ व सीमाएँ
13.6 सफल क्रियान्वयन हेतु आवश्यक तत्व
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 प्रश्न
13.10 उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

– नियोजन प्रक्रिया में उद्देश्य निर्धारण सम्बन्धी पहलुओं एवं तत्सम्बन्धी औचित्य को समझ सकेंगे।
– विभिन्न आधारों पर उद्देश्यों के प्रमुख प्रकारों को जान सकेंगे।
– उद्देश्यानुसार प्रबंध की संकल्पना से अवगत हो सकेंगे।
– उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की प्रक्रिया में निहित चरणों से परिचित हो सकेंगे।
– उद्देश्यानुसार प्रबन्ध से प्राप्त होने वाले लाभों को अनुभव कर सकेंगे।
– इस प्रबन्धन कार्यक्रम नौ सफलतापूर्वक स्थापित एवं क्रियान्वित करने हेतु आवश्यक तत्वों को जान सकेंगे।

13.1 उद्देश्य से अभिप्राय

उद्देश्य किसी संगठन में प्राप्त किये जाने वाले निष्पादन की जानकारी कराते हैं। ये वे अंतिम गंतव्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिए उपक्रम के सभी प्रयास एवं क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। ये किसी कार्य को पूरा करने का अंतिम बिन्दु होते हैं जिन्हें दृष्टिगत रखते हुए ही समस्त प्रबन्धकीय प्रक्रियायें यथा-नियोजन, संगठन, कार्मिक व्यवस्था, निर्देशन, अभिप्रेरण, नियंत्रण इत्यादि संचालित की जाती हैं। उद्देश्यों के द्वारा यह जाना जा सकता है कि इच्छित परिणामों को प्राप्त करने के लिए किन क्रियाओं को प्रारम्भ किया जाये व किन्हें अधिक प्राथमिकता प्रदान की जाए? उद्देश्य नियोजन का प्रमुख संघटक है तथा इन्हें प्राप्त करने के लिए ही अन्य

नियोजन तत्वों - नीतियों, योजनाओं, कार्य पद्धतियों, कार्यक्रमों, व्यूहरचनाओं, नियमों बजट व प्रमापों का निर्धारण किया जाता है।

ऐलन के अनुसार, "उद्देश्य वे लक्ष्य हैं जो संस्था तथा इसके प्रत्येक घटक के प्रयासों के मार्गदर्शन हेतु निर्धारित किये जाते हैं।"

प्रो. डॉन हार्वे के अनुसार, "उद्देश्य अन्तिम परिणामों अथवा अन्तिम दशाओं के विवरण हैं जो समयबद्ध, मापनयोग्य तथा परिमाणात्मक रूप में प्रकट करने योग्य होते हैं। उद्देश्य समय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूह तथा इसके सदस्यों के कार्यकलापों का मार्गदर्शन करते हैं।"

मेक्फारलेण्ड के मतानुसार, "उद्देश्य वे लक्ष्य हैं जिन्हें एक संगठन विभिन्न समयावधियों में प्राप्त करना चाहते हैं।"

देरी के अनुसार, "एक प्रबन्धकीय उद्देश्य वह अभीष्ट लक्ष्य है जो प्रबन्धक का क्षेत्र निर्धारित करता है तथा उसके प्रयासों की दिशा का सुझाव देता है।"

कूंट्ज तथा ओ डोनेल के अनुसार, "उद्देश्य वह शब्द है जो सामान्यत: किसी प्रबन्ध-कार्यक्रम के चरम बिन्दु को प्रकट करने के लिए उपयोग में लाया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **उद्देश्य वे अपेक्षित परिणाम हैं जिन्हें कोई संस्थान व उसके सदस्य एक निर्धारित समयावधि में प्राप्त करना चाहते हैं। ये वे बिन्दु हैं जो परिणात्मक व गुणात्मक रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा जिनकी प्राप्ति के लिए एक संगठन व उसके सदस्य समन्वित रूप से प्रयास करते हैं।**

उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बिन्दु इस प्रकार हैं :

- उद्देश्य सरल एवं स्पष्ट होने चाहिए।
- उद्देश्यों से श्रेणीबद्धता होती है अर्थात् प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर हेतु उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। शीर्ष स्तर से उद्देश्य सर्वप्रथम निर्धारित होते हैं।
- उद्देश्य एक संरचना तंत्र तैयार करते हैं उनमें पारस्परिक सम्बन्ध होता है। एक उद्देश्य के पूरा होने पर दूसरा उद्देश्य प्राप्त करना होता है और इस प्रकार यह चक्र चलता है।
- प्रत्येक उपक्रम में उनके उद्देश्य होते हैं जिनकी कोई अधिकतम सीमा नहीं है।
- उद्देश्य दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन हो सकते हैं।
- उद्देश्य प्रबन्धकों व कर्मचारियों की क्रियाओं का निर्देशन करते हैं।
- उद्देश्य कार्य-मूल्यांकन एवं प्रगति के मापन के आधार हैं।
- उद्देश्य कार्य प्राथमिकताओं का निर्धारण करते हैं। अर्थात् नीतियां, उद्देश्य प्राप्ति में सहायक होनी चाहिए।
- उद्देश्य संख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं।
- उद्देश्यों का निर्धारण साधनों, समय, पूँजी सामग्री, कर्मचारी आदि के अनुरूप किया जाता है। उद्देश्य निर्णयों में एकरूपता व संगतता उत्पन्न करते हैं।
- उद्देश्य कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने में सहायक होते हैं।
- परिवर्तित दशाओं के अनुसार उद्देश्यों में सुधार करना आवश्यक होता है।
- उद्देश्यों का निर्धारण न केवल संयुक्त रूप से वरन् पुन:चक्रीय रूप में होना चाहिए।

- उद्देश्य गणनायोग्य एवं गुणात्मक अथवा सत्यापन योग्य एवं गैर सत्यापन योग्य हो सकते हैं। उद्देश्य संगठन में कार्यरत लोगों की प्रतिबद्धता का निर्धारण करते हैं।
- संगठन के उद्देश्य समग्र प्रणाली एवं व्यवसाय वातावरण के अनुरूप तय किये जाते हैं।
- उद्देश्य समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन योग्य होते हैं।
- संगठन के प्रतिस्पर्धी उद्देश्यों के मध्य समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

13.2 उद्देश्यों का वर्गीकरण

उद्देश्य वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नानुसार हैं

अ) महत्व के आधार पर'

ब) उद्देश्य स्तर के आधार पर

स) समय के आधार पर

द) प्रकटीकरण के आधार पर तथा

य) क्षेत्र के आधार पर।

अ) महत्व के आधार पर - प्रो. आरसी. डेविस ने महत्व के आधार पर उद्देश्यों को तीन भागों में विभक्त किया है -

प्राथमिक उद्देश्य

गौण उद्देश्य तथा

सामाजिक उद्देश्य

– प्राथमिक उद्देश्य : ये संस्था के आधारभूत उद्देश्य होते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये किसी संगठन की स्थापना की जाती है। ये उद्देश्य संस्था के लाभ, विकास, ग्राहक सेवा तथा संस्था को दीर्घ अवधि तक बनाये रखने से सम्बन्धित होते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति द्वारा संगठन के विभिन्न हितधारियों को संतुष्ट किया जा सकता है। उचित मूल्य पर वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण कर ग्राहकों को संतुष्ट करना किसी भी व्यावसायिक संगठन का प्राथमिक उद्देश्य हो सकता है।

– ये उद्देश्य संगठन के सहायक उद्देश्यों को तय करते हैं। इतना ही नहीं, प्राथमिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही संगठन का स्वरूप, क्रियाएँ, उत्पादन, वितरण एवं उत्पादन तकनीक को निर्धारित किया जाता है।

– सहायक उद्देश्य - सहायक उद्देश्य संगठन के प्राथमिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं। ऐसे उद्देश्य कर्मचारियों के कल्याण, उत्पाद एवं सेवा की किस्म में सुधार, उत्पाद विविधीकरण, नवप्रवर्तन इत्यादि से सम्बन्धित होते हैं।

– सामाजिक उद्देश्य : व्यवसाय समाज के हित में कार्य करता है अत: सामाजिक उद्देश्य समाज एवं स्थानीय समुदाय के प्रति दायित्वों को पूरा करने के लिये निर्धारित किये जाते हैं। व्यवसाय समाज में एवं समाज के संसाधनों से किया जाता है। अत: व्यवसाय समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। इन्हीं उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये प्रत्येक संगठन अपने कुछ सामाजिक दायित्व भी निर्धारित करता है। ये उद्देश्य संगठन व उसके प्रबन्धकों को समाज के प्रति संवेदनशील बनाये रखते हैं। इनकी प्राप्ति से संगठन की समाज में प्रतिष्ठा बनती है।

ब) **उद्देश्य स्तर के आधार पर -** इस आधार पर उद्देश्यों के निम्नांकित प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है :

- निगमीय
- मण्डलीय
- विभागीय
- उपविभागीय तथा
- कर्मचारी

- **निगमीय उद्देश्य :** निगमीय उद्देश्य सम्पूर्ण संगठन के उद्देश्य होते हैं जिनकी पूर्ति के लिये संस्था के सभी सदस्य प्रयत्न करते हैं। ये उद्देश्य दीर्घकालीन प्रकृति के होते हैं। इनमें लाभ कमाना, अस्तित्व बनाये रखना, बाजार में भूमिका सुनिश्चित करना, सामाजिक दायित्वों को पूरा करना प्रमुख हैं। संक्षेप में, उच्चस्तरीय या निगमीय उद्देश्य संगठन के आधारभूत उद्देश्य हैं जिनसे संस्था के सभी हितधारियो की संतुष्टि की जाती है।
- **मण्डलीय उद्देश्य :** ये वे उद्देश्य हैं जो संस्था के मण्डल स्तर पर तय किये जाते हैं। वस्तुत: ये मध्यवर्गीय प्रबन्धकों के उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की सहायता से ही उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो पाती है। इन उद्देश्यों का निर्धारण निगमीय उद्देश्यों की सीमाओं के अन्तर्गत किया जाता है। अत: ये उद्देश्यों के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।
- **विभागीय उद्देश्य :** एक व्यावसायिक उपक्रम में अनेक क्रियात्मक विभाग होते हैं जैसे उत्पादन, विपणन, कार्मिक, वित्त आदि। अत: उपक्रम के क्रियात्मक विभागों के उद्देश्य को विभागीय उद्देश्यों के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक विभाग अपने कार्यक्षेत्र एवं कार्य की प्रकृति के अनुरूप अपने उद्देश्यों का निर्धारण कर मण्डलीय उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग करता है।
- **उप विभागीय उद्देश्य :** एक विभाग में अनेक उपविभाग हो सकते हैं। अत: प्रत्येक उपविभाग के लिए भी उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं। उपविभाग के उद्देश्य वे विशिष्ट लक्ष्य हैं जिन्हें पूरा करके सम्बन्धित विभाग के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।
- **कर्मचारी लक्ष्य :** प्रत्येक उपविभाग में अनेक कर्मचारी होते हैं। अत: उपविभाग लक्ष्यों को पूरा करने के लिये प्रत्येक कर्मचारी के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं। ये लक्ष्य स्पष्ट एवं परिमाणात्मक रूप में ही होते हैं जिन्हें सम्बन्धित कर्मचारी को एक निर्धारित अवधि में पूरे करने पड़ता हैं। कर्मचारी के लक्ष्य या उद्देश्य वस्तुत: कार्य प्रमाप में होते हैं जिनके अनुरूप ही प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य पूरा करना पड़ता है। अत: स्तर के आधार पर निचले स्तर के उद्देश्य उच्चस्तरीय उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग करते हैं। वस्तुत: उच्च स्तरीय उद्देश्य सम्पूर्ण संस्था के उद्देश्य होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिये सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। उद्देश्यो के स्तरों के क्रम में प्रत्येक प्रबन्धकीय स्तर के उद्देश्य उस स्तर के लिये तो लक्ष्य होते हैं किंतु उससे ऊपर वाले प्रबन्धकीय स्तर के लिये वे साधनों का कार्य करते हैं।

  इस प्रकार प्रत्येक **स्तर के उद्देश्य अपने ऊपर के स्तर के उद्देश्यों के लिये साधनों का तथा स्वयं के स्तर के लिये साध्य का कार्य करते हैं।**

स) **समय के आधार पर -** समयावधि के आधार पर उद्देश्यों को तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है :

- अल्पकालीन उद्देश्य
- मध्यवर्ती उद्देश्य; तथा
- दीर्घकालीन उद्देश्य।

- **अल्पकालीन उद्देश्य :** अल्पकालीन उद्देश्य प्राय: एक वर्ष तक की अवधि के लिए निर्धारित किये जाते हैं। व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर अल्पकालीन उद्देश्य दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, तिमाही. छ:माही अवधि के लिए तय किये जा सकते हैं।
- **मध्यवर्ती उद्देश्य :** मध्यवर्ती उद्देश्य वे हैं जिन्हें एक वर्ष से पाँच वर्षो की अवधि में पूरा करना होता है।
- **दीर्घकालीन उद्देश्य :** दीर्घकालीन उद्देश्य वे हैं जिन्हे पाँच वर्षो से भी अधिक लम्बी अवधि में पूरा करना होता है। व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर इन उद्देश्यों की प्राप्ति की अवधि 15-20 वर्ष तक की हो सकती है।

द) **प्रकटीकरण के आधार पर उद्देश्य -** इस आधार पर उद्देश्यों को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है:

- परिमाणात्मक एवं गुणात्मक;
- घोषित एवं अघोषित; तथा
- वित्तीय एवं व्यूहरचनात्मक

- **परिमाणात्मक एवं गुणात्मक :** इन उद्देश्यों को अंकों की भाषा में प्रकट किया जाता है। ऐसे उद्देश्यों का मापन, मूल्यांकन एवं सत्यापन करना आसान होता है। इन्हें सत्यापन योग्य उद्देश्य भी कहा जाता है।
- **गुणात्मक** उद्देश्य वे हैं जिन्हें अंकों में व्यक्त नहीं किया जाता है। इन्हें शाब्दिक रूप में ही व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये कोई संस्था उचित लाभ कमाने का उद्देश्य निर्धारित करती है तो यह उद्देश्य गुणात्मक हैं जिसका निश्चित अवधि के बाद सत्यापन नहीं किया जा सकता है।
- **घोषित एवं वास्तविक उद्देश्य :** घोषित उद्देश्य वे हैं जिन्हें एक उपक्रम औपचारिक या अधिकृत रूप से प्रकट करता है। ये उद्देश्य संस्था के घोषणा पत्र में, वार्षिक प्रतिवेदन में तथा संस्था को प्रबन्धकों को सार्वजनिक कथनों में प्रकट किये जाते हैं। इन उद्देश्यों का निर्धारण प्राय: जनता एवं समाज में उपक्रम की उत्कृष्ट जन छवि का निर्माण करने के लिये किया जाता है। प्राय: संस्थाएँ इन उद्देश्यों को पूरा करने का इरादा ही नहीं रखती हैं।

  वास्तविक उद्देश्य वे हैं जिन्हें संस्था वास्तव में क्रियान्वित करती है। ऐसे उद्देश्य प्राय: लिखे नहीं जाते बल्कि उस संस्था के प्रबन्धकों एवं सदस्यों के कार्यकलापों, निर्णयों, संसाधनों के उपयोग आदि से प्रकट होते हैं। ऐसे उद्देश्य स्पष्ट, क्रियान्वयन योग्य तथा व्यावहारिक होते हैं। इन्हीं के आधार पर संस्था की सफलता का मूल्यांकन किया जाता है। ये उद्देश्य प्राय: प्रकट व घोषित उद्देश्यों से संगति नहीं रखते हैं।

– **वित्तीय एवं व्यूहरचनात्मक उद्देश्य :** ये उपक्रम के वित्तीय परिणामों से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए, लाभ, विक्रय, पूंजी पर प्रतिफल अर्जित करना आदि वित्तीय उद्देश्यों को प्रकट करते हैं।

व्यूहरचनात्मक उद्देश्य ये उपक्रम के दीर्घकालीन उद्देश्य होते हैं। ये संगठन के अस्तित्व को बनाये रखने, उसका विकास करने, प्रतिस्पर्द्धा में विजय प्राप्त करने, बाजार अंश में वृद्धि करने, जन छवि निखारने आदि सें सम्बन्धित हो सकते हैं। इन उद्देश्यों को दीर्घअवधि में ही पूरा किया जा सकता है।

य) क्षेत्र के आधार पर - क्षेत्र के आधार पर उद्देश्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है

– आन्तरिक; तथा

– बाह्य उद्देश्य

– **आन्तरिक उद्देश्य :** आन्तरिक उद्देश्य उपक्रम की सफलता तथा संस्था के कर्मचारियों की संतुष्टि को प्रभावित करते हैं। इनके अंतर्गत विक्रय, लाभदेयता उत्पाद विकास, विविधीकरण, संस्था की बाजार स्थिति एवं कर्मचारी सन्तुष्टि बनाये रखने के उद्देश्य सम्मिलित होते हैं। आन्तरिक उद्देश्य संस्था के सभी स्तरों के प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों से सम्बन्धित होते हैं। ये उद्देश्य आंतरिक हित समूह के हितों का संरक्षण करते हैं।

– **बाह्य उद्देश्य :** बाह्य उद्देश्य संगठन के बाह्य हित समूहों से सम्बन्धित होते हैं। इनसे उपभोक्ताओं, स्थानीय समुदाय, सरकार आदि के हितों के संरक्षण को सुनिश्चित किया जाता है। इसलिए ये उद्देश्य सेवा उद्देश्यों की श्रेणी में आते हैं। इन उद्देश्यों पर ध्यान देने वाले उपक्रम सामाजिक रूप से संवेदनशील माने जाते हैं।

13.3 उद्देश्यानुसार प्रबन्धन की अवधारणा

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्धन की विचारधारा बहुत पुरानी नहीं है इसका उदय 1950 के दशक में माना जाता है। इसके जनक **अलफ्रेड क्लोन** माने जाते हैं। 1954 में पीटर एफ. ड्रकर ने अपनी पुस्तक **"द प्रेक्टिस ऑफ मैनेजमैंट"** में इसका उल्लेख किया था। ड्रकर से पहले अन्य विद्वानों ने भी अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख किया था। इनमें हेनरी फेयोल, ऊर्विक तथा बर्नार्ड के नाम प्रमुख हैं लेकिन अनेक लोग पीटर एफ. ड्रकर को ही इनका जन्मदाता मानते हैं। 1957 में मैकग्रेगर ने उद्देश्यों पर आधारित मूल्यांकन पर महत्व दिया। 1965 में ऑडिओर्न द्वारा लिखित पुस्तक **"मैनेजमेंट बाई औबजेक्टिव्स"** प्रकाशित हुई, जिसके बाद इस प्रबन्धन विचारधारा का महत्व बढ़ता चला गया। उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध का विकास निम्नलिखित तीन अवस्थाओं से होकर हुआ-

– निष्पादन मूल्यांकन के लिए उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध

– व्यक्तियों को संगठन के साथ मिलाने के लिए उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध तथा दीर्घकालीन निर्णयन के लिए उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध।

1950 के दशक में एक ऐसे प्रबन्ध सिद्धान्त की आवश्यकता अनुभव की गयी जो कार्मिकों को सुदृढ़ और उत्तरदायित्व निर्वहन के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करे तथा साथ ही दूरदर्शितापूर्ण निर्देशित कर दल-भावना का विकास करे एवं सामूहिक लक्ष्यों के साथ, व्यक्तिगत लक्ष्यों के

मध्य सामन्जस्य भी स्थापित करे। पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार, 'यह उपलब्धि केवल उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के माध्यम से ही सम्भव हो सकती है।

अर्थ एवं परिभाषा :

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध का आशय है, उद्देश्यों का निर्धारण कर उनके आधार पर ही प्रबन्धन करना। व्यवहार में इसको अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे लक्ष्यों द्वारा प्रबन्ध, प्रयोजन द्वारा प्रबन्ध लेकिन संक्षिप्त नाम **'एम.बी.ओ'** को सबसे प्रसिद्ध प्राप्त हुई है। व्यावसायिक प्रबन्ध में उद्देश्यों का विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि जिस प्रकार किसी पर्यटक को यात्रा प्रारम्भ करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि उसे जाना कही है, उसी प्रकार प्रबन्धकों के लिए भी यह आवश्यक है की उन्हें इस बात का ज्ञान हो कि उनकी व्यावसायिक क्रियाओं का उद्देश्य क्या है? यह व्यावहारिक जीवन की बहुत ही बुनियादी धारणा है जिसको प्रबन्धकों ने समझने में बहुत अधिक समय लगा दिया। यह प्रबन्ध की एक व्यवहारिक तकनीक है, जिसके द्वारा व्यवसाय में उद्देश्यों के आधार पर ही सभी योजनाओं, नीतियों, कार्यविधियों को तैयार किया जाता है। प्रबन्धकों के कार्य का मूल्यांकन भी संस्था के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध वास्तव में एक दृष्टिकोण है जिसमें अनेक प्रश्नों के समाधान किए जाते हैं- जैसे एक व्यक्ति का कार्य करने का उद्देश्य क्या है, वह क्या कार्य कर रहा है, कैसे कर रहा है तथा संगठन में उस व्यक्ति के कार्य की क्या भूमिका है, क्या संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उनकी सहभागिता आवश्यक है? आदि। व्यक्ति को अपने उद्देश्य के साथ उपक्रम के मूलभूत उद्देश्य भी ज्ञात होने चाहिए और उच्च प्रबन्धकों को यह देखना चाहिए कि क्या ये उद्देश्य भली प्रकार से पूरे किये जा रहे हैं? उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है -

पीटर एफ- ड्रकर के अनुसार, "उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक प्रणाली है जिसके अर्न्तगत संस्था के आधारभूत उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विभागों के प्रभारी अधिकारियों के मध्य कर्त्तव्यों व अधिकारों का विभाजन किया जाता है।"

डेल. डी. मैकीनो के अनुसार, "इस पद्धति के अर्न्तगत प्रत्येक प्रबन्धक के लिए एक वर्ष या कुछ नियत अवधि के लिए लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाते हैं जिनको प्राप्त करना अनिवार्य होता है। निर्धारित अवधि के बाद उपलब्धियों का प्रमापों के अनुसार मूल्यांकन किया जाता है।"

जॉर्ज एस. ओडिओर्न के शब्दों में, "उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत संगठन के शीर्ष व अधीनस्थ प्रबन्ध सामूहिक रूप से संगठन के सामान्य उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के उत्तरदायित्व को उससे अपेक्षित परिणामों में संदर्भ में परिभाषित करते हैं एवं इकाई के संचालन तथा उसके प्रत्येक सदस्य के योगदान का मूल्यांकन करने में इन्हीं मापदण्डों का उपयोग किया जाता है।"

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की विशेषताएँ :

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं -

- **वांछित उद्देश्यों का निर्धारण :** प्रबन्ध की इस, व्यवस्था में सर्वप्रथम संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है जिन्हें प्राप्त करने के लिए 'उस संस्था की स्थापना की जाती है। इतना ही नहीं, कर्मचारी वर्ग के भी लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं जिससे कर्मचारी उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष प्रयत्न कर सकें।
- **कर्मचारियों को प्रेरणा देना :** इस विधि में कर्मचारियों को प्रेरणा देने का भी उद्देश्य होता है। कर्मचारियों को समय-समय पर आवश्यकतानुसार वित्तीय एवं अवित्तीय प्रेरणाएँ दी जाती हैं। इन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर वे अपनी सामर्थ्यानुसार अधिक से अधिक कार्य करने का प्रयत्न करते हैं।
- **समूह भावना :** संस्था के सभी अधिकारी एवं कर्मचारी समूह भावना से कार्य करते हैं, अत: इन दोनों स्तरों के बीच का अन्तर स्वत: ही समाप्त हो जाता है क्योंकि दोनों ही पक्ष समन्वित योजनाओं के आधार पर कार्य करते हैं।
- **उत्तरदायित्व की भावना जागृत होना :** जब किसी व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना जागृत हो जाती है तब वह अपने कार्यो को अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है और यह विधि इस कार्य में पूर्ण योगदान देती है।
- **प्रयोगकर्ता को अधिक महत्व :** इस विधि में एम.बी.ओ. का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है एवं इसके लिए प्रत्येक स्तर पर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है क्योंकि इस विधि के समर्थक इस बात को मानते हैं कि 'कोई भी नवीन विधि इसके प्रयोगकर्ता से अधिक अच्छी नहीं हो सकती।
- **नियन्त्रण सम्बन्धी सूचनाएँ :** उचित सूचनाओं के आधार पर किया गया नियन्त्रण अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। इस विधि में इस बात की व्यवस्था होती है कि सभी आवश्यक सूचनाएँ सभी सम्बन्धित प्रबन्धकों को समय-समय पर मिलती रहें जिससे वे अपने नियमों में आवश्यकतानुसार समय पर उचित सुधार कर सकें।
- **प्रबन्ध का दर्शन :** उद्देश्यानुसार प्रबन्ध को पीटर एफ. ड्रकर ने प्रबन्धकीय दर्शन के रूप में स्वीकार किया था। वे यह मानते थे कि यह दर्शन संगठनात्मक उद्देश्यों को व्यक्तिगत लक्ष्यों में बदलता है एवं प्रभावी निष्पादन को सम्भव बनाता है। इसे प्रजातांत्रिक प्रबन्ध व्यवस्था का दर्शन माना जाता है जिसके अन्तर्गत अधीनस्थ एवं उच्चाधिकारी मिलकर लक्ष्य निर्धारण करते है।
- **गतिशीलता :** उद्देश्यानुसार प्रबन्ध गतिशील विचार है जिसमें उद्देश्य निर्धारण एवं कार्य निष्पादन मूल्यांकन निरंतर रूप में किया जाता है। इसमें वैयक्तिक परिणामों की श्रेष्ठता के द्वारा संगठनात्मक प्रभावोत्पादकता को प्राप्त किया जाता है।
- **व्यवस्थित :** उद्देश्यानुसार प्रबन्ध एक औपचारिक गतिविधि है जो उद्देश्य निर्धारण से प्रारम्भ होकर कार्य निष्पादन को मापने एवं उसकी समीक्षा करने तक निरंतर रूप से चलती रहती है।
- **विकेन्द्रीयकृत जवाबदेयता :** उद्देश्यानुसार प्रबन्ध में चूंकि उद्देश्यों का निर्धारण केन्द्रीयकृत नहीं होता अत: परिणामों की प्राप्ति की जवाबदेयता भी विकेन्द्रीयकृत होती है। संगठन

का प्रत्येक सदस्य स्वयं के लक्ष्यों एवं कार्यो के प्रति जवाबदेह होता है साथ ही प्रबन्धक भी अपने अधिकार क्षेत्र में निष्पादित गतिविधियों के लिए जवाबदेह होते हैं।

– **व्यापक दृष्टिकोण :** यह एक व्यापक विचार है जिसमें उपक्रम की आर्थिक प्राप्तियों में सुधार के साथ ही मानवीय पहलुओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। यह उपक्रम के आंतरिक एवं बाह्य वातावरण के मध्य समन्वय कर उद्देश्य निर्धारण से सम्बन्धित है।

– **प्रमुख निष्पादन बिन्दुओं की पहिचान :** उद्देश्यानुसार प्रबन्धन में उद्देश्य निर्धारण एवं निष्पादन मूल्यांकन के लिए उन प्रमुख परिणाम क्षेत्रों एवं क्रांतिकारी बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाता है जिन पर उपक्रम की सफलता आधारित है। इन सभी क्षेत्रों के मध्य परस्पर सामंजस्य स्थापित कर उद्देश्यों की अधिकाधिक प्राप्ति को सुनिश्चित किया जाता है।

– **सरल तकनीक :** उद्देश्यानुसार प्रबन्ध को स्थापित करना कठिन कार्य नहीं है। एक बार समझने के बाद इसे व्यवहार में उपयोग लाने में किसी जटिलता का सामना नहीं करना पड़ता।

– **सार्वभौमिकता :** उद्देश्यानुसार प्रबन्धन की विचारधारा की उपादेयता व्यावसायिक उपक्रमों के लिए ही सीमित नहीं है अपितु इसे सरकारी, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक संगठनों में भी अपनाया जा सकता है। प्रबन्ध के सभी स्तरों, कार्यकारी क्षेत्रों एवं सभी आकार के उपक्रमों के लिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

13.4 उद्देश्यानुसार प्रबन्धन की प्रक्रिया

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया में अनेक महत्वपूर्ण बातों को शामिल किया जाता है। इसी प्रक्रिया के आधार पर प्रबन्ध की सफलता निर्भर करती है। **कून्ट्ज एवं ओ डोनेल** ने उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया में कई महत्वपूर्ण कदम शामिल किए हैं। उनके अनुसार यह प्रक्रिया उच्च स्तर से प्रारम्भ की जाती है और निरन्तर चलती रहती है। प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण कदम उनके उद्देश्यों का निर्णय तथा उनके आधार पर भूमिकाओं का स्पष्टीकरण तथा वास्तविक क्रिया का मूल्यांकन है। उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया में सहभागी निर्णयन को महत्व दिया जाता है। कून्ट्ज तथा ओ डोनेल ने उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रक्रिया को निम्नलिखित पाँच भागों में बांटा है -

1. उच्च स्तर पर उद्देश्यों का प्रारम्भिक निर्धारण : किसी संस्था के लिए उद्देश्य सबसे पहले उच्च प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं । इन उद्देश्यों को हम प्रारम्भिक उद्देश्य या सामान्य उद्देश्य कह सकते हैं। इनका निर्धारण प्राय: एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है। यह अवधि उच्च स्तर पर सबसे अधिक होती है तथा जैसे-जैसे हम निम्न स्तर की ओर जाते हैं, अवधि कम होती चली जाती है। उद्देश्यों का निर्धारण आपातकालीन या दीर्घकालीन तत्वों से प्रारम्भ किया जाता है। कुछ व्यक्ति इस दृष्टि से आपातकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीन प्रकार के उद्देश्य निर्धारित करने की बात करते हैं। उद्देश्यों के निर्धारण में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमें उपलब्ध अवसरों एवं साधनों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उद्देश्यों को परिभाषित करते समय निम्नलिखित तथ्यों की व्याख्या भी करनी चाहिए -

संगठन की उत्पादन क्षमता क्या है? संगठन का आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र क्या है? इन प्रश्नों में पूर्व निश्चित उद्देश्यों में परिवर्तन किए जा सकते हैं। लक्ष्यों की इस अवधि तक आपके यहां रहने की संभावना है, आदि। लक्ष्यों को हमें परिवर्तनशील मानकर चलने के लिए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उच्च प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित लक्ष्य अधीनस्थों पर थोपे नहीं जाएँ। अधिकांश प्रबन्धकों को यह आशा होती है कि अधीनस्थों के साथ बैठकर लक्ष्यों को निर्धारित करने से उन समस्याओं एवं अवसरों का वर्णन हो जाता है जिनकी जानकारी उन्हें पहले से नहीं पाती। जहां लक्ष्य निर्धारित करते समय उन उपायों पर भी विचार कर लेना चाहिए जिनके द्वारा इन लक्ष्यों को पूरा किया जाना है।

2. **संगठन भूमिकाओं का स्पष्टीकरण :** आदर्श रूप में प्रत्येक लक्ष्य अथवा उप-लक्ष्य की प्राप्ति का दायित्व किसी-न-किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से संगठन में विभिन्न स्तरों पर नियुक्त अधिकारियों के बीच अधिकार एवं उत्तरदायित्व का एक उचित सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध में प्राय: कार्यक्रमों का निर्धारण और प्रचलन करते समय इच्छित पूर्वानुमानों और उनको प्राप्त करने के लिए निर्धारित उत्तरदायित्व के बीच सम्बन्ध स्थापित करना भूला दिया जाता है। अत: इस पहलू को भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

3. **अधीनस्थों के लक्ष्यों का निर्धारण :** अधीनस्थ प्रबन्धकों को संस्था के सामान्य उद्देश्य. कार्यनीति तथा नियोजन समझने के बाद वरिष्ठ अधिकारियों के साथ बैठना एवं उद्देश्य निर्धारित करना चाहिए। वरिष्ठ अधिकारियों को लक्ष्य निर्धारित करने से पूर्व अधीनस्थों के बारे में आवश्यक बातें जान लेनी चाहिए, जैसे उनकी क्या कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ हैं उनकी क्षमता क्या है, वे क्या सुधार कर रहे है, और उच्च प्रबन्धकों से क्या सहयोग चाहते है' इन सभी बातों को ध्यान में रखते हए उनके उद्देश्य निर्धारित किए जाने चाहिए। प्रत्येक प्रबन्धक को इस बात की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए कि निश्चित अवधि के भीतर उसे क्या प्राप्त करना है और इस सम्बन्ध में अपने कितने अधिकारियों से उसे निर्देश और परामर्श लेने होंगे। क्योंकि प्रारम्भ में लक्ष्यों के निर्धारण में कुछ संशोधन आवश्यक हैं इस बात का भी पूर्वाभास अवश्य होना चाहिए। वर्तमान समय में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कि अधीनस्थ प्रबन्धकों को कार्य करने की पद्धति के सम्बन्ध में उचित सहायता दी जाए एवं नए विचारों व नई तकनीक को अपनाया जाए। अधीनस्थों के उद्देश्य निर्धारित करते समय उनके संगठन के उद्देश्यों तथा अन्य सभी प्रबन्धकों के उद्देश्यों में उचित सामन्जस्य होना चाहिए।

4. **लक्ष्य तथा साधन :** ऐसे उद्देश्य निर्धारित किए जाने चाहिए जिन्हें कि प्राप्त किया जा सकता हो। इस दृष्टि से सत्यापन योग्य उद्देश्यों को विचारपूर्वक निर्धारित करना तथा उन्हें प्रभावी ढंग से लागू करना आवश्यक है। अत: यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि समय, पूँजी, सामग्री और मानवीय साधनों का एक ही समय में उचित उपयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। सभी स्तरों पर सभी प्रबन्धकों को लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन साधनों की आवश्यकता रहती है। इन साधनों को लक्ष्यों के साथ स्वयं स्थापित करने से वरिष्ठ अधिकारी इनके विभाजन की आवश्यकता और मितव्ययताओं पर भली प्रकार विचार कर सकते हैं। साधन का वितरण सदैव अधीनस्थ अधिकारियों से परामर्श लेकर ही करना चाहिए।

5. **उद्देश्यों को पुन: चक्रीय बनाना :** उच्च स्तर से आरम्भ कर और फिर उनका विभाजन कर उद्देश्यों को निर्धारित नहीं किया जा सकता। न ही उनको नीचे से आरम्भ करना चाहिए। अत: उद्देश्यों को एक सीमा तक फिर से चक्रीय बनाना आवश्यक है। उच्च स्तर के प्रबन्धकों को यह पता रहता है कि उनके अधीनस्थों के लिए किस प्रकार के उद्देश्य निर्धारित करने चाहिए - जो उच्चतर अधिकारियों को रिपोर्ट देते हैं उन्हें अपने अधीनस्थों के उद्देश्यों का ज्ञान रहता है, परन्तु लक्ष्यों के निर्धारण की क्रिया अधीनस्थों द्वारा दिए गए सहयोग के संदर्भ में, पूर्व विचारे हु ए लक्ष्यों को बदल देगी। अत: लक्ष्यों का निर्धारण न केवल एक संयुक्त क्रिया है वरन् सभी के मध्य तालमेल भी आवश्यक है इसी उद्देश्य के लिए फिर से इस चक्र को चलाना होता है।

यह क्रिया समय के अनुसार चलती है जिससे व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों तथा उनके अनुपालन को भली प्रकार जानकारी हो सके। उन्हें इन लक्ष्यों को पूरा करने के दायित्व का भी ध्यान रहता है। उद्देश्यों की संरचना को और भली-भांति प्रयोग करने के लिए वे प्रयास करते हैं तथा सम्बन्धित व्यक्ति अपने लक्ष्यों को पूरा करने में समर्थ हो जाते हैं।

13.5 लाभ व सीमाएँ

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध आजकल व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में एक चर्चा का विषय है इसकी लोकप्रियता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। व्यवहार में भले ही इसका प्रयोग कम किया जाता हो किन्तु प्रबन्ध की यह प्रणाली बहु त अधिक लाभप्रद मानी जाती है। कून्टज तथा ओ डोनेल ने इसके निम्नलिखित लाभ बतलाए हैं -

1. **अच्छा प्रबन्धन :** प्रबन्धन की यह प्रणाली प्रबन्धकों की कार्यकुशलता को बढ़ाती है। नियोजन के बिना कार्यान्वित किए जा सकने योग्य उद्देश्यों का निर्धारण नहीं किया जा सकता और न ही नियोजन का परिणाम युक्त होना ही अर्थपूर्ण हो पाता है। इससे प्रबन्धक नियोजन कार्य करने के लिए, परिणाम युक्त नियोजन पर विचार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना आसान हो जाता है। उद्देश्य प्राप्ति हेतु प्रबन्धकों को उन उपायों पर विचार करना होता है जिनसे इच्छित परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। उन्हें संगठन के प्रकार और व्यक्तियों की आवश्यकताओं पर तथा उपलब्ध साधनों और सहायता पर विचार करना होता है। तत्पश्चात् न तो इससे अच्छा और कोई उपाय नियंत्रण के लिए है और न ही नियंत्रण के स्तर को निर्धारित करने के लिए। यह लक्ष्यों का स्पष्ट रूप से निर्धारण करता है।

2. **संगठन की स्पष्टता :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध का एक दूसरा बड़ा लाभ है, कि यह संगठन की भूमिका एवं संरचना को भी सुस्पष्ट करने के लिए बाध्य करता है। जहाँ तक सम्भव हो मुख्य परिणाम क्षेत्रों को एक अधिकारी को सुपुर्द कर देना चाहिए जिससे वह लक्ष्य पूर्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सके।

जिन कम्पनियों ने इस कार्यक्रम को प्रभावपूर्ण ढंग से अपनाया है उन्हें प्राय: संगठन से सम्बन्धित कमियों का अनुभव दिया है। एक बात जो प्राय: अनदेखी कर दी जाती है वह यह है कि लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधिकारों का हस्तांतरण किया जाना आवश्यक होता है - अधिकार हस्तांतरण की सीमा लक्ष्यों के परिणामों पर निर्भर करती है। **हनीवैल** कम्पनी के एक अधिकारी ने कहा था. 'दो बातें ऐसी हैं जो उपक्रम में मूल रूप से विचारणीय होनी चाहिए-प्रबन्ध को

विकेन्द्रित किया जला चाहिए और कार्यो को विकेन्द्रीकरण करने के लिए उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध को अपनाना चाहिए।'

3. **वचनबद्धता :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्धन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह कार्य निष्पादन की वचनबद्धता उत्पन्न करता है। जब कर्मचारी केवल काम ही नहीं करते या निर्देशों और निर्णयों की प्रतीक्षा ही नहीं करते बल्कि अब वे अपने आप में पूर्ण हैं और उसके उद्देश्य स्पष्ट हैं तो वे उद्देश्य के निर्धारण में भाग लेते है, उन्हें अपने विचारों को नियोजन कार्यक्रमों के अनुसार कार्यान्वित करने का अवसर मिलता है। वे स्व निर्णय के क्षेत्र, अपने अधिकार क्षेत्र तथा अपने वरिष्ठ अधिकारियों से मिलने वाले सहयोग को समझते हैं और इस आधार पर निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति को सम्भव बना सकते हैं।

4. **प्रभावी नियन्त्रण का विकास :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध. जिस प्रकार एक योजना को प्रभावी बनाता है उसी प्रकार से नियन्त्रण के विकास में भी सहायता पहुँचाता है। नियन्त्रण की मुख्य समस्या होती है कि हम क्या देखें? उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति एवं विभाग के उद्देश्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और नियन्त्रण में हम यह देखते हैं कि उन कर्मचारियों एवं विभागों ने इन उद्देश्यों को सर्वश्रेष्ठ विधि से मितव्ययता के साथ प्राप्त किया या नहीं। यदि कोई कमी पाई जाती है तो सुधारात्मक कदम उठाये जाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रभावी नियन्त्रण को स्थापित करने में सहायता पहुँचाता है।

5. **निष्ठापूर्वक कार्य करना :** इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक कर्मचारी व प्रबन्धक अपने-अपने लक्ष्यों व उद्देश्यों से परिचित होता है। लक्ष्यों के स्पष्ट ज्ञान के कारण वे अधिक निष्ठा व परिश्रम से काम करते हैं। चूंकि कार्य-निष्पादन के अनुसार ही उनका मूल्यांकन होता है, अत: वे मन लगाकर काम कर पाते है।

6. **व्यक्तिगत पहलपन में वृद्धि :** इस पद्धति के अन्तर्गत कर्मचारियों को नियत सीमाओं की भीतर समस्याओं को स्वयं हल करने तथा आवश्यक निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होती है, अत: उनकी वैयक्तिक पहल शक्ति बढ़ जाती है।

7. **टीम भावना :** समूह के सभी सदस्य अपने उद्देश्यों का निर्धारण अपने अधिकारियों के साथ मिलकर करते हैं। इससे उनमें टीम भावना विकसित होती है जिससे संस्था को लाभ होता है। प्रबन्ध एवं संगठन में भागीदारी की भावना पनपती है, जिससे कुशल निष्पादन सम्भव होता है।

8. **स्व-अभिप्रेरणा :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध में कर्मचारियों की भागीदारी, निर्णयन की स्वतन्त्रता तथा प्राप्त परिणामों के आधार पर मूल्यांकन के कारण सभी कर्मचारी स्व-अभिप्रेरित होकर काम करते हैं जिसका सुपरिणाम बढ़ी हुई उत्पादकता के रूप में संस्था को मिलता है।

सीमाएँ -

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के बहुत से लाभ हैं लेकिन इस प्रणाली से सम्बद्ध कुछ दोष या कमियाँ भी पाई जाती हैं, जिसके कारण हमें सावधानी से कार्य करना होता है। इस विधि की मुख्य कमियाँ निम्न प्रकार हैं -

1. **विचारधारा को सिखाने में सफलता :** यद्यपि उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध बहुत सरल दिखाई देता है, तथापि इसको समझने और इसके कार्यान्वयन के लिए प्रबन्धकों को बहुत कुछ करना पड़ता

है। इसके दर्शन का प्रभावी प्रयोग करने के लिए सम्पूर्ण कार्यक्रम को विस्तारपूर्वक से समझना होता है-यह क्या है, कैसे काम करता है, क्या किया जाना है, प्रबन्धकों का मूल्यांकन करने में इसकी क्या भूमिका रहती है और सर्वोपरि इसमें भाग लेने वाले किस प्रकार लाभान्वित होते हैं।

2. **लक्ष्यों के निर्धारकों को निर्देश देने में असफलता :** अन्य प्रकार के नियोजन की भांति उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध भी कार्य नहीं कर सकता, जब तक कि लक्ष्य निर्धारकों को आवश्यक निर्देश नहीं दिए जाते। प्रबन्धकों को पता होना चाहिए कम्पनी के लक्ष्य क्या हैं और इन्हें प्राप्त करने के लिए उनकी कार्य दिशा किस प्रकार सहायक है। यदि कम्पनी के लक्ष्य अस्पष्ट, अवास्तविक अथवा असंगत हैं तो उनमें तारतम्य उत्पन्न करना प्रबन्धकों के लिए सम्भव होगा।
उन्हें नियोजन परिसरों तथा उपक्रमों की नियन्त्रण नीतियों का भी ज्ञान होना चाहिए। उन्हें भविष्य के बारे में कुछ मान्यताएँ लेकर चलाना होगा, अपने कार्यान्वयन क्षेत्र को प्रभावित करने वाली उपक्रम नीतियों को समझना होगा और प्रभावी नियोजन के लिए उद्देश्यों तथा कार्यक्रमों की प्रकृति जिनसे लक्ष्य गुँथे होते हैं, का ज्ञान करना होगा। इन आवश्यकताओं को पूरा न कर पाने पर परिणाम नियोजन के खोखलेपन के रूप में प्रकट होगा।

3. **लक्ष्यों के निर्धारण में कठिनाईयाँ :** सत्यापन योग्य लक्ष्यों को निर्धारित करना कठिन होता है, विशेष रूप से यदि उन्हें सही मात्रा में 'प्रयास और शक्ति' से नहीं बनाया गया है, लक्ष्यों को त्रैमासिक अथवा वार्षिक रूप देना आसान कार्य नहीं है एवं इस सत्य को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार के लक्ष्यों का निर्धारण किसी भी प्रकार के प्रभावी नियोजन से अधिक कठिन नहीं होगा, यद्यपि इस सम्बन्ध में सत्यापन योग्य लक्ष्यों, जो कठिनाई से पूरे हो पाते हैं, का निर्धारण करने के लिए बहुत से नियोजनों की तुलना में (जिसमें बहुत से तो पूरा किए जाने वाले कार्य की दशा बताने के लिए ही किए जाते हैं) अधिक अध्ययन तथा कार्य करने की आवश्यकता रहती है।

4. **लक्ष्यों की अल्पावधि प्रकृति :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के लगभग प्रयोग किए जाने वाले सभी तन्त्रों में, अल्पअवधि के लिए लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है, (कभी-कभी एक वर्ष के लिए परन्तु प्राय: तीन वर्ष अथवा कम के लिए)। अल्प-अवधिय लक्ष्यों को, विशेषकर दीर्घ अवधिय लक्ष्यों के बदले महत्व प्रदान किए जाने का भी भय बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि विशिष्ट अधिकारियों को सदैव इस बात से सन्तुष्टि करते रहना चाहिए कि अन्य अल्प-अवधिय नियोजनों की भांति वर्तमान लक्ष्यों का निर्धारण इस प्रकार किया जा रहा है कि वे दीर्घ अवधिय लक्ष्यों के लिए भी काम आ सके।

5. **आलोचना का भय :** अन्य प्रकार के नियोजनों के साथ जैसा होता है और विशेषकर बजट बनाते समय, प्रबन्धक एवं निर्धारित अवधि के मध्य एवं विशेष रूप से एक वर्ष के भीतर उद्देश्यों में परिवर्तन करने में झिझकते हैं। यद्यपि बहुत अधिक परिवर्तन करने के कारण लक्ष्य अर्थपूर्ण न रह पाएँ और भली प्रकार विचारे हुए तथा भली प्रकार नियोजित परिणामों की प्राप्ति न हो पाए यह सम्भव है। प्रबन्ध से यह आशा करना मूर्खता ही होगी कि वह व्यर्थ हो चुके उद्देश्यों

को कम्पनी के बदले हुए उद्देश्यों, परिवर्तन हुए कार्यक्रमों अथवा परिवर्तित नीतियों से पूरा करने का प्रयास करेगा।

6. **अन्य भय :** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध में अन्य भी बहुत से भय और कठिनाइयाँ हैं। सत्यापन की इच्छा में, लोग संख्यात्मक लक्ष्यों का अत्यधिक प्रयोग कर सकते हैं और उन क्षेत्रों में भी अंकों का प्रयोग करने से' नहीं चूकते जहाँ वे प्रयोग में नहीं लिये जा सकते अथवा गुणात्मक लक्ष्यों के महत्व को कम कर दिया हैं। कभी-कभी वरिष्ठ अधिकारियों के पर्याप्त सहयोग तथा आवश्यक समर्थन के बिना प्रबन्धक उद्देश्यों को रचनात्मक शक्ति के रूप में प्रयोग नहीं कर पाते तथा लक्ष्य निर्धारण से अधिक प्रबन्ध आवश्यक है को भुलाने की तरफ उन्मुख हो जाते हैं।

तथापि उक्त सभी कठिनाइयों तथा भय के रहते हुए भी उद्देश्यों द्वारा प्रबन्धन के बारे में सत्य यह है और जैसा कि बहुत पहले से नियोजन तथा प्रबन्धन के तर्क द्वारा स्वीकार किया जा चुका है कि यह पद्धति व्यवहार में लक्ष्य निर्धारण व प्राप्ति पर अधिक बल देती है।

13.6 सफल क्रियान्वयन हेतु

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रणाली को सफल एवं प्रभावी बनाने 'के लिए निम्नलिखित तत्वों पर ध्यान देना आवश्यक है -

1. संस्था के उद्देश्य निश्चित एवं स्पष्ट होने चाहिए, अस्पष्ट या भ्रमपूर्ण नहीं।
2. उद्देश्य वास्तविक होने चाहिए अर्थात ऐसे होने चाहिए जिन्हें अपने सुलभ साधनों से बिना किसी विशेष कठिनाई के प्राप्त किया जा सकता हो। ऐसे उद्देश्य निर्धारित करना जो आदर्श तो हों लेकिन प्राप्त करने योग्य न हों, व्यर्थ हैं।
3. उद्देश्यों का निर्धारण उच्च प्रबन्धकों को अधीनस्थों से मिलकर करना चाहिए।
4. उद्देश्यों को निर्धारित करते समय उस अवधि को भी स्पष्ट करना चाहिए जिसमें कि उन्हें प्राप्त किया जाना है।
5. उद्देश्यों का निर्धारण सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।
6. उद्देश्यों की जानकारी सभी सदस्यों को दी जानी चाहिए।
7. प्रत्येक स्तर पर टीम भावना बनायी जानी चाहिए।
8. संदेशवाहन की प्रभावी व्यवस्था होनी चाहिए।
9. अभिप्रेरण के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए।
10. आवश्यक समीक्षा के बाद परिस्थितियों के अनुसार संशोधन करने की व्यवस्था होनी चाहिए।
11. कार्यक्रम की सफलता के लिए उच्च प्रबन्धकों का समर्थन आवश्यक है।
12. इस कार्यक्रम की सफलता के लिए प्रत्येक स्तर पर अधिकारी व कार्मिकों का प्रशिक्षण अनिवार्य है।
13. उद्देश्यानुसार प्रबन्धन कार्यक्रम की सफलता स्थापना एवं क्रियान्वयन के लिए पर्याप्त समय प्रदान करने पर निर्भर है।
14. कार्यक्रम की सफलता के लिए सतत् निगरानी एवं प्रतिपुष्टि की व्यवस्था आवश्यक है।

15. इस कार्यक्रम को संगठन के लिए निर्धारित परिश्रमिक प्रणाली से जोड़ा जाना चाहिए ताकि अधिक योगदान देने वाले सदस्य आर्थिक रूप से लाभान्वित हो सकें।

13.7 सारांश

वर्तमान में प्रबन्ध द्वारा निष्पादित क्रियाओं की तुलना में प्राप्त किये जाने वाले परिणामों को ही प्रबन्धन की सफलता का मापदण्ड माना जाता है। यही उद्देश्यानुसार प्रबन्धन का सार है। ड्रकर के अनुसार उस 'प्रत्येक क्षेत्र के लिए उद्देश्य तय किये जाने आवश्यक हैं जिसमें कार्यक्षमता एवं परिणाम व्यवसाय की उत्तरजीवितता एवं अभिवृद्धि को सीधे प्रभावित करते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति को ही उद्देश्यानुसार प्रबन्ध का आधार बनाया जाता है। यह सहभागिता पर आधारित दर्शन है जिसमें स्वत: प्रेरणा, निर्देशन, नियंत्रण एवं समन्वय पर बल दिया जाता है। आधुनिक उद्योग जगत एवं सेवा क्षेत्र में इसका व्यापक उपयोग किया जा रहा है। उद्देश्यानुसार प्रबन्ध एक दर्शन है जिसमें उपक्रम की आवश्यकताओं को प्रबन्धकीय निष्पादन से सम्बद्ध किया जाता है तथा संगठनात्मक व व्यक्तिगत उद्देश्यों को प्रभावी रूप से प्राप्त किया जाता है।

13.8 शब्दावली

दर्शन	:	चिंतन एवं क्रियान्वयन का व्यापक दृष्टिकोण।
गतिशील	:	समय एवं परिस्थिति के अनुरूप निरन्तर परिवर्तनशील।
प्रक्रिया	:	अनेक अन्तनिर्भर क्रियाओं का समूह जो चक्रीय रूप में लगातार - निष्पादित की जाती है।
सहभागिता	:	सामूहिक रूप से विचार एवं निर्णय करने की व्यवस्था।

13.9 प्रश्न

1. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध क्या है?
2. महत्वपूर्ण परिणाम क्षेत्र क्या हैं?
3. क्या उद्देश्यानुसार प्रबन्ध प्रबन्ध का एक दर्शन है?
4. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की प्रकृति सहभागी होती है। समझाइये।
5. "उद्देश्यानुसार प्रबन्ध, प्रबन्ध की एक तकनीक एवं दर्शन दोनों है।" व्याख्या कीजिए।
6. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।
7. निष्पादन की समीक्षा में निहित कदमों का वर्णन कीजिए।
8. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
9. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की प्रक्रिया में निहित कदमों का वर्णन कीजिए।
10. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध क्या है? इसके लाभों एवं सीमाओं का वर्णन कीजिए।
11. "उद्देश्यानुसार प्रबन्ध प्रबन्ध की एक तकनीक एवं दर्शन दोनों है।" व्याख्या कीजिए तथा उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

12. उद्देश्यानुसार प्रबन्ध की परिभाषा दीजिए। एक सफल उद्देश्यानुसार प्रबन्ध कार्यक्रम में किन तत्वों का पाया जाना आवश्यक है?

13. "उद्देश्यानुसार प्रबन्ध व्यवस्था में लाभ तथा सीमाएँ दोनों निहित हैं।" विश्लेषण कीजिए।

13.10 उपयोगी पुस्तकें

– जी.एस.सुधा - प्रबन्ध अवधारणाएँ एवं संगठनात्मक व्यवहार (रमेश बुक डिपो जयपुर 2003)

– आर.एल. नौलखा - प्रबन्ध के सिद्धान्त (आदर्श प्रकाशन, जयपुर, 2005)

इकाई-14: सम्प्रेषण प्रक्रिया (communication process)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सम्प्रेषण : अर्थ एवं परिभाषाएं

14.3 सम्प्रेषण के कार्य

14.4 सम्प्रेषण प्रक्रिया

14.5 सम्प्रेषण प्रक्रिया के तत्व या चरण

14.6 सम्प्रेषण के विभिन्न मॉडल

14.7 सम्प्रेषण का महत्व

14.8 सम्प्रेषण के विविध प्रकार

14.8.1 संदेश प्रवाह के आधार पर सम्प्रेषण

14.8.2 संबधों के आधार पर सम्प्रेषण

14.8.3 अर्न्तवैयक्तिक सम्प्रेषण

14.8.4 संगठनात्मक सम्प्रेषण

14.9 सम्प्रेषण, बाधाएं एवं सुझाव

14.10 सारांश

14.11 शब्दावली

14.12 प्रश्न

14.13 उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद आप -

- सम्प्रेषण का अर्थ एवं परिभाषाएं जान सकेंगे।
- सम्प्रेषण के कार्य समझ सकेंगें।
- सम्प्रेषण प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सम्प्रेषण के विभिन्न चरणों को समझ सकेंगें।
- सम्प्रेषण के सबंध में प्रचलित मॉडलों के बारे में जान सकेंगे।
- सम्प्रेषण के महत्व को प्रतिपादित कर सकेंगे।
- सम्प्रेषण के विभिन्न स्तर और प्रकारों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सम्प्रेषण की बाधाएं, समस्याएं जानकर समुचित समाधान सुझा सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

जीवन और मृत्यु के बीच का फासला कई बार कुछ शब्दों की गलतफहमियां से ही होता है। ऐसे में सम्प्रेषण वह माध्यम है जिसके जरिए गलतफहमियों या परस्पर नासमझी को दूर किया

जा सकता है। ऐसे में सम्प्रेषण को जीवन की अनिवार्यता कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सम्प्रेषण प्रबंध का तो आधारभूत कार्य ही नहीं है बल्कि प्रबंध की बहु त सी समस्याओं का हल भी इसी में निहित है। संगठनात्मक प्रबंध की सफलता की महत्वपूर्ण शर्त वहां प्रभावी सम्प्रेषण ही है। मैगिसन जब यह कहते हैं कि सम्प्रेषण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को विचारों अथवा सूचना के रूप में 'अर्थ' प्रेषित करने की प्रक्रिया है तो इसके गहरे निहितार्थ है। किसी भी संगठनात्मक प्रबंध में जब तक सूचना या विचारों के अर्थ को दूसरों तक पहु चाने की व्यवस्था विकसित नहीं की जाती, तब तक वहां कार्यो का प्रभावी क्रियान्वयन भी संभव नहीं है। शायद इसीलिए चेस्टर बनार्ड ने स्पष्ट तौर पर कहा है- ' 'प्रबंधक का प्रथम कार्य एक सम्प्रेषण प्रणाली को विकसित करना और संगठन को चलाने के लिए उसे निरंतर बनाए रखना है। '

सम्प्रेषण का प्रबंध की क्रियाओं के साथ सीधा संबंध होता है। सम्प्रेषण प्रबंध के कार्य यथा नियंत्रण निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरणा आदि को आसान करता है। ऐसे में सम्प्रेषण का एक अर्थ प्रभावी प्रबंधन से ही है। बगैर सम्प्रेषण के कुशल प्रबंधन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कारण यह है कि एक प्रबंधक अपने संगठन में कार्य करवाने के लिए अपना अधिकांश समय सम्प्रेषण में ही व्यय करता है। वह सम्प्रेषण ही है जिसके जरिए किसी संगठन में कार्यरत व्यक्तियों और प्रबंधकों के लक्ष्यों का परस्पर समन्वय होता है। सम्प्रेषण का अर्थ सूचनाओं और विचारों का स्थानान्तरण ही नहीं है बल्कि एक प्रकार से दूसरे के समक्ष समझ विकसित करने का प्रभावी माध्यम भी है। कहा जा सकता है कि सम्प्रेषण वह पुल है, जिसके जरिए नासमझी की नदी को पार किया जा सकता है।

14.2 सम्प्रेषण : अर्थ एवं परिभाषाएं

सामान्य शब्दों में सम्प्रेषण से आशय दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच संवाद, परस्पर विचारों, भावनाओं, तथ्यों आदि के परस्पर आदान-प्रदान से लिया जाता है। सम्प्रेषण का अर्थ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सूचनाओं, संदेशों को प्रेषित करने से भी है परन्तु इसकी सफलता तभी संभव है जब प्राप्तकर्ता प्रेषक के मंतव्य को पूरी तरह से समझ सके। ऐसे में सम्प्रेषण को मानवीय संवेदनाओं, विचारों, सूचनाओं और संदेशों की समझ का पारस्परिक विनिमय कहा जा सकता है। यहां यह गौरतलब है कि अंग्रेजी का Communication शब्द लेटिन भाषा के Communis से लिया हु आ है, जिसका अर्थ है-समान। इस प्रकार जब हम Communication के तहत किसी दूसरे से संवाद स्थापित करने का प्रयास कर रहे होते हैं तो एक प्रकार से अपने विचारों की दूसरे के समक्ष स्थापना या यूं कहें कि- अपने मत के प्रति समर्थन जुटाने का प्रयास कर रहे होते हैं।

चेस्टर बर्नार्ड ने पहले पहल 1930 में सम्प्रेषण को किसी, व्यावसायिक संगठन की बेहद अनिवार्य आवश्यकता स्थापित करते हु ए कहा था कि वह सम्प्रेषण ही है जिसके जरिए किसी संगठन में मानवीय भागीदारी के साथ सहकारिता व्यवस्था को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है। उन्होंने विशेष रूप से इस अवधारणा को स्थापित किया कि प्रबंध का प्रथम कार्य एक सम्प्रेषण प्रणाली का विकास करना तथा उसे बनाये रखना है। यदि ऐसा कोई संगठन

करता है तो वह भविष्य में आने वाली अपनी बहुत सी समस्याओं का प्रभावी ढ्ंग से निदान स्वत: ही कर सकता है।

व्यावसायिक संबंधों में आने वाली अधिकतर समस्याओं का सीधा सबंध सम्प्रेषण नहीं होने या यूं कहें कि संवादहीनता के कारण ही पैदा होते हैं, ऐसे में सम्प्रेषण ही वह जरिया है जिसके जरिए कोई भी संगठन अपने संबंधों का बेहतरी से निर्वहन कर सकता है। दरअसल सम्प्रेषण व्यवस्थित और सतत प्रक्रिया है। इसके जरिए ही व्यक्ति या समूह अपने विचारों, मनोभावों, सूचनाओं, मत, दृष्टिकोण, तथ्यों आदि का आदान प्रदान करते हैं। सम्प्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच परस्पर समझ का विनिमय है। सम्प्रेषण की विभिन्न विद्वानों ने जो परिभाषाएं दी हैं, वे इस प्रकार से हैं-

कीथ डेविस के अनुसार - "सम्प्रेषण एक प्रक्रिया है जिसमें संदेश और समझ को एक दूसरे तक पहुंचाया जाता है"

डेविड के. बर्लो के शब्दों में - "सम्प्रेषण के जरिए संचार प्रक्रिया को प्रारंभ किया जाता है।"

सिगवैण्ड के मतानुसार - "सम्प्रेषण भावनाओं, विचारों एवं अभिवृतियों के आदान प्रदान से संबंधित है। यह मौखिक एवं गैर मौखिक दोनों ही तरीकों से किया जाता है और जिसके द्वारा प्रक्रियाओं की सम्प्राप्ति होती है।"

न्यूमेन तथा समर की नजर में - "सम्प्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों अथवा भावनाओं का विनिमय है।"

लुइस ए. एलन ने कहा है - "सम्प्रेषण अर्थ का पुल है। इसके अन्तर्गत कहने, सुनने और समझने की व्यवस्थित तथा निरन्तर प्रक्रिया सम्मिलित होती है।"

गिबसन इवेन्सविच के शब्दों में - "समान प्रतीकों के माध्यम से सूचना व समझ का संचारण ही सम्प्रेषण है।"

स्टीवर्ट के अनुसार - "सम्प्रेषण के अंर्तगत भौतिक चिन्हों की जटिलताओं को जान-बूझकर इस प्रकार आंतरिक ढंग से प्रयोग में लाया जाता है कि दूसरे व्यक्तियों के मस्तिष्क में उससे किसी विशेष प्रकार के अर्थ का बोध हो सके।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परस्पर समझ का सम्प्रेषण ऐसा पुल है जिसके माध्यम से विचारों, भावनाओं, सूचनाओं, संदेशों का सुगमता से आदान-प्रदान संभव होता है। यह सूचनाओं, संदेशों, भावनाओं, विश्वासों और आपसी समझ के आदान-प्रदान की ऐसी प्रक्रिया है जिसे मौखिक, लिखित, सांकेतिक, दृश्य-श्रव्य आदि विविध माध्यमों के जरिए संपन्न किया जाता है।

14.3 सम्प्रेषण के कार्य

किसी भी संगठन या समूह में सम्प्रेषण के चार प्रमुख कार्य है-

1 नियंत्रण

2 प्रोत्साहन,

3 भावनात्मक प्रदर्शन और

4 सूचना प्रदान करना।

इन चार कार्यो के अंर्तगत पहले पहल सम्प्रेषण किसी भी संगठन के सदस्यों के व्यवहार को बहुत से स्तरों पर नियंत्रित करता है। यह सही है कि किसी संगठन के पास ये अधिकार होता है कि वह अपने यहां काम करने वालों से कार्य ले और कर्मचारियों के लिए भी यह जरूरी होता है कि वे संगठन के आदेशों की पालना करे। परन्तु यदि उन्हें बेहतर ढंग से इसके लिए समझाया जाए तो निश्चित ही उसके अच्छे परिणाम पूरे संगठन के सामने आते हैं। इसे इस रूप में समझा जा सकता है कि यदि संगठन में कर्मचारियों को अपने कार्य से संबंधित किसी प्रकार की शंकाएं है और उनके बारे में समझाने के लिए उनका अधिकारी सक्षम है तो न केवल कंपनी या संगठन की के कार्य परिणामों में उत्कृष्टता आती है बल्कि बहुत से स्तरों पर इससे कर्मचारियों पर यह नियंत्रण भी होता है कि कैसे वह कंपनी की नीतियाँ, रीतियाँ के अनुसार कार्य को अंजाम दे सकते हैं। इस प्रकार औपचारिक सम्प्रेषण के जरिए कर्मचारियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जा सकता है। सम्प्रेषण प्रोत्साहन की बडी ताकत है। सम्प्रेषण के जरिए संगठन में कर्मचारियों को अपना कार्य कैसे करना है, यह समझाया जाता है। उन्हें इसी से यह बताया जाता है कि क्या कुछ ऐसा किया जाए कि उनका कार्य प्रदर्शन बेहतर से बेहतर हो सके। कार्य करने के उद्देश्य, अच्छा कार्य करने के परिणाम आदि के बारे में प्रभावी सम्प्रेषण जब होता है तो इससे कार्य करने वालों को सभी स्तरों पर प्रोत्साहन मिलता है।

किसी संगठन या कंपनी में बहुत से ऐसे कर्मचारी होते हैं, जिनका कार्य सामाजिक कार्यदशाओं से प्रभावित होता है। ऐसे में सम्प्रेषण के जरिए ही यह तकनीक विकसित की जाती है कि कैसे किसी कर्मचारी से कार्य बेहतरी से लिया जा सकता है या फिर कैसे उसकी भावनाओ को ध्यान में रखते हुए उसके लिए कार्य संस्कृति विकसित की जाए। उसे समझते हुए उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य को बोध सम्प्रेषण के जरिए ही कराया जाता है।

इसी प्रकार सम्प्रेषण किसी भी संगठन में निर्णय लेने की क्षमता को बहुत हद तक प्रभावित करता है। सम्प्रेषण ही वह माध्यम है जिसके जरिए व्यक्तिगत तौर पर और सामुहिक रूप में निर्णय लिए जाने संबंधित आकड़े और वे तमाम प्रकार की सूचनाएँ संबंधित को पहुंचायी जाती है, जिनका विश्लेषण कर वैकल्पिक पंसद के जरिए किसी कार्य को सफलीभूत किया जाता है। इस प्रकार सूचनाएं देने का कार्य मूलत: सम्प्रेषण पर ही आधारित है और उन्हीं से किसी संगठन के विकास को गति मिलती है।

किसी भी संगठन के लिए ये चार ही वे महत्वपूर्ण कार्य है जिनके जरिए वह भविष्य की योजनाएं बनाता है, उन्हे क्रियान्वित करता है और सबसे बड़ी बात उन योजनाओं को अपने उद्देश्य के लिए सफल भी बनाता है। ऐसे में किसी भी संगठन के प्रभावी तरीके से कार्य करने की पहली आवश्यकता सम्प्रेषण ही है।

14.4 सम्प्रेषण प्रक्रिया

संदेश या सूचना प्राप्त करने के दो पक्ष होते हैं। पहला पक्ष देने वाला और दूसरा पक्ष प्राप्त करने वाला। जब कभी किसी को कोई सूचना या संदेश दिया जाता है तो पहले पहल उसकी आवश्यकता को महसूस करते हुए उसके लिए उपयुक्त माध्यम का चुनाव किया जाता है। माध्यम ऐसा होना चाहिए जिससे सुगमता से संदेश या सूचना प्राप्तकर्ता तक पहुंच सके। किसी

संगठन में सम्प्रेषण अनौपचारिक भी हो सकता है और औपचारिक भी। सरल शब्दों में सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंतर्गत पहले पहल किसी विचार या योजना का विकास करें। अच्छा तो यह है कि विचार का विकास उसे प्राप्त करने की इच्छा के आधार पर इस प्रकार से तैयार किया जाए कि वह आसानी से उस तक पहुंचाया जा सके। इस प्रकार जैसे ही विचार या योजना का विकास कर लिया जाए, उससे संबंधित प्रभावी शब्द, चार्ट या अन्य किसी भी प्रकार के प्रतीक, चिन्हों या मौखिक संवाद की तैयारी इस रूप में की जाए कि वह दूसरों तक सहज पहुंचायी जा सके। अब चयनित की गयी विधि के माध्यम से संदेश को भेजे जाने की कार्यवाही की जानी चाहिए। संदेश भेजने वाले का सदा यह प्रयास रहता है कि जिस रास्ते से उसे भेजा जाए वह बाधाओं से रहित होना चाहिए, इसलिए यह जरूरी है कि उसका संदेश प्राप्तकर्ता तक पहुंचने के लिए एक प्रक्रिया सहित हो। इसके बाद दूसरे व्यक्तियों को वह संदेश प्राप्त करने की छूट दी जानी चाहिए। किसी भी संगठन के उद्देश्यों की पालना के लिए सम्प्रेषण बेहद आवश्यक है। सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंतर्गत किसी संगठन के लिए यह जरूरी है कि -

1 सम्प्रेषण के माध्यम के बारे में पूरी तरह से जानकारी हो।
2 किसी भी संगठन के प्रत्येक सदस्य के लिए सम्प्रेषण का एक आवश्यक औपचारिक माध्यम होना चाहिए।
3 सम्प्रेषण संक्षिप्त और सीधे तौर पर होना चाहिए।
4 सम्प्रेषण करने वाला पक्षकार अपने कार्य में योग्यतम होना चाहिए।
5 जब संगठन कार्य कर रहा हो तो सम्प्रेषण उसमें किसी भी स्तर पर बाधक तत्व के रूप में नहीं रहना चाहिए।
6 सारे सम्प्रेषण तथ्यों पर आधारित और वास्तविकता लिए होने चाहिए।

14.5 सम्प्रेषण प्रक्रिया के तत्व या चरण

सूचनाओं, विचारों, संदेशों के आदान-प्रदान की सम्प्रेषण ऐसी प्रक्रिया है, जो विभिन्न तत्वों से मिलकर बनती है। इन तत्वो के अंतर्गत संदेश, सूचना या विचार के मुख्य स्त्रोत, उनके लिपिबद्धकरण उपयोग मे लिए जाने वाले साधन, संदेश प्राप्तकर्त्ता, उसके स्पष्टीकरण, उससे संबंधित प्रतिक्रिया आदि सभी सम्मिलित होते हैं। कहा जा सकता है कि इन सबके योग से ही सम्प्रेषण पूर्णता को प्राप्त करता है।

जॉन वेनबर्ग तथा विलियम विलमांट ने सम्प्रेषण को व्यवहारात्मक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते इसे प्रतिआश्रित (Mutual and Reciprocate) प्रक्रिया माना है। इसके अंतर्गत संगठनात्मक सम्प्रेषण' प्रक्रिया में सभी व्यक्ति साथ-साथ संदेशों का प्रेषण (लिपिबद्धकरण) तथा प्राप्ति (अनुवाद) में संलग्न रहते हैं। यहां हर व्यक्ति सतत् रूप से संदेशों के प्रेषण तथा प्राप्ति की प्रक्रिया में सहभागी तो होते हैं परन्तु एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर रहे होते हैं। **डेविड बर्लो** द्वारा भी एक अन्य मॉडल विकसित किया गया है। इसके अंर्तगत सम्प्रेषण को एक गतिशील तथा अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया (Interactive Process) मानते हुए इस बात पर जोर दिया गया है कि यदि हम प्रक्रिया की विचारधारा को स्वीकार करते हैं तो हम घटनाओं

तथा सम्बन्धों को गतिशील, सदैव बने रहने वाले, परिवर्तनशील तथा सतत क्रिया के रूप में देख सकते हैं।

विलियम आर.स्पीगल का मत है कि तथ्यों की अज्ञानता एवं प्रेरणाओं को गलत ढंग से समझने के कारण अनेक प्रकार के द्वन्द्व एवं संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। दोनों पक्षों के बीच सम्प्रेषण की उचित व्यवस्था (प्रक्रिया) के द्वारा संघर्षो में कमी लायी जा सकती है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंतर्गत अलग-अलग विचारधाराएं हैं। सम्प्रेषण प्रक्रिया की **डेसीबल थ्योरी** इस बात पर केन्द्रित है कि यदि विचारों एवं सूचनाओं का सम्प्रेषण अति उच्च आवाज में बार-बार किया जाए तो प्रारम्भ में भले ही इसका प्रभाव कम हो परन्तु एक समय बाद इस प्रकार के निर्बल सम्प्रेषण का महत्व भी स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार **सेल थ्योरी** के अंतर्गत सम्प्रेषक के ऊपर ही सम्प्रेषण की पूरी जिम्मेदारी पर आधारित है। इसमें सम्प्रेष्य पूर्णत: निष्क्रिय रहता है और **मिनिमल इनफोरमैशन थ्योरी** इस बात पर आधारित है कि सामान्य संदेश प्राप्तकर्ता इस बात में बहुत अधिक रूचि नहीं रखता है कि उसे क्या सूचना दी जा रही है। वह केवल उन्हीं सूचनाओं की प्राप्ति में विशेष रूचि रखता है, जिनका सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत स्वार्थो से होता है। अत: सम्प्रेषण द्वारा यदि संदेश प्राप्तकर्ता को केवल ऐसी ही सूचनाएं दी जाती हैं, जिन्हें ग्रहण करने में वह विशेष अभिरूचि रखता है, तो सम्प्रेषण प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी ढंग से सम्पन्न हो सकती है। सम्प्रेषण की इन मुख्य विचारधाराओ के आधार पर सम्प्रेषण प्रक्रिया के मुख्य तत्व या चरण इस प्रकार से हैं-

1 **स्त्रोत -** सर्वप्रथम किसी भी विचार, संदेश या सूक्तो का कोई मुख्य स्त्रोत अथात कारण होता है। इस स्त्रोत से ही विचार या सूचना या संदेश का प्रवाह प्रारंभ होता है। सम्प्रेषण का प्रथम तत्व यही है।

2 **संदेश या विचार -** किसी विशेष कारण, परिस्थिति से उत्पन्न होने वाला संदेश, सूचना या विचार सम्प्रेषण का दूसरा प्रमुख तत्व है।

3 **लिपिबद्धकरण -** आरंभ में संदेश, विचार या सूचना अमूर्त होती है। उसका कोई स्पष्ट आकार नहीं होता। उसे स्वरूप प्रदान करने के लिए उसका लिपिबद्धकरण किया जाता है। लिपिबद्धकरण का कार्य कम्प्यूटर या अन्य माध्यमों से कर उसे अर्थ योग्य बनाया जाता है।

4 **माध्यम -** संदेश, सूचना या विचार के लिपिबद्ध के पश्चात का प्रमुख चरण उसे प्रेषित करने के लिए उपयोग में लिए जाने वाले माध्यम का चुनाव है। माध्यम वह कड़ी है, जिसके जरिए संदेश प्राप्तकर्ता तक पहुंचता है। आधुनिक समय में माध्यमों में विविधता का समावेश हो गया है। इन्टरनेट, फैक्स, विडियो क्रान्फ्रेन्सिंग, सभा-सम्मेलन, पत्र आदि किसी भी माध्यम से सूचना, संदेश या विचार को प्रेषित करने के लिए काम में लिया जा सकता है। माध्यम लिखित भी हो सकता है तो मौखिक माध्यम का भी प्रचलन भी प्राय: होता है।

5 **संदेश प्राप्तकर्ता -** संदेश, विचार या सूचना तैयार करने के बाद माध्यम से जिसे भेजी जाती है, वही उसका प्राप्तकर्ता होता है। किसी संगठन के अंतर्गत संदेश, सूचना या विचार को जब कर्मचारी, उसके ग्राहक, संगठन के सदस्य, उपभोक्ता समूह आदि को भेजा जाता है तो ये सभी उसके प्राप्तकर्ता ही होते है।

6 **व्याख्या करना -** संदेश जब प्राप्तकर्ता को मिल जाता है तो वह उसकी व्याख्या करता है। वह प्राप्त सूचना, संदेश, विचार को उसी अर्थ में ग्रहण कर उसकी व्याख्या करता हे, जिसे भेजने वाला समझाना चाहता है।

7 **प्रतिपुष्टि या फीडबैक -** संदेश, सूचना या विचार जब प्राप्तकर्ता तक पहुंच जाता है तो उसके बाद वह उसकी व्याख्या करके उस पर अपनी प्रतिक्रियाएं देता है। प्रतिपुष्टि संदेश प्राप्तकर्ता की प्रतिक्रिया को वापस संदेश प्रेषक के पास पहुंचाने की क्रिया है।

8 **विकृति -** विकृति को सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंर्तगत कोलाहल या शोर भी कहा जाता है। संदेश, सूचना या विचार का यह ऐसा तत्व है जिसके अंर्तगत उसकी शुद्वता एवं विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह लगता है। जब भेजा जाने वाला संदेश प्राप्तकर्ता के लिए उपयोगी नहीं होकर उनके विरोध का कारण बनता है तो उसका उलटा असर होता है। यही सम्प्रेषण का विकृति तत्व है।

सम्प्रेषण की उपर्युक्त प्रक्रिया प्रेषक से प्राप्तकर्ता तक के वे सभी चरण बताती है जिससे कि संदेश, विचार या सूचना का प्रेषण संभव बनता है।

14.6 सम्प्रेषण के विभिन्न मॉडल

सम्प्रेषण का सामान्य मॉडल **क्लॉड षेनन तथा वारेन वीवर** ने विकसित किया है। इसके अंर्तगत सम्प्रेषण सूचना के प्रेषण' (Transmission of Information) की एक प्रक्रिया है। इसके तहत -

1 सूचना स्रोत्र सम्प्रेषण प्रक्रिया का प्रारम्भ बिन्दु है। सूचनाएं प्रेषक के उद्देश्य एवं उसके अर्थ को दर्शाती है।

2 प्रेषक सूचना को लिपिबद्ध करके संवाद बनाता है तथा उसे प्राप्तकर्ता के पास भिजवाता है। वह संदेश, विचार या सूचना को चिन्ह, प्रतीक या संकेतों के जरिए व्यवस्थित प्रारूप प्रदान करता है।

3 शोर, कोलाहल सम्प्रेषण का वह हस्तक्षेप है जो संदेश के प्रेषण तथा इसकी प्राप्ति के बीच घटित होता है। इससे यह जाहिर होता है कि संदेश मे किसी प्रकार की तकनीकी रूकावट है या फिर उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है या फि उसे भेजने मे किसी प्रकार की दुर्भावना है। यह विकृति के रूप में होती है।

4 प्राप्तकर्ता संदेश को ग्रहण करके उसका अनुवाद या अपने स्तर पर उसका अर्थ स्पष्ट करता है।

5 सम्प्रेषण प्रक्रिया का अन्तिम बिन्दु गन्तव्य है। यहां सम्प्रेषण प्रक्रिया पूर्ण होती है।

सम्प्रेषण में सूचना आदान-प्रदान की प्रक्रिया को जब निर्धारित किया जाता है तो व्यवस्थागत संदर्भो के अंर्तगत सूचना संदर्भो का विश्लेषण भी प्रमुख रूप से किया जाता है। इसके तहत यह सुनिश्चित किया जाता है कि संदेश या सूचना देने वाले ने जो तकनीक अपनायी है वह तकनीक प्राप्तकर्ता के लिए कितनी कारगर है और उससे लक्ष्य प्राप्त किया जा भी सकता है अथवा नहीं। आधुनिक समय में सूचना प्रौद्योगिकी के तेजी से हुए विकास के साथ ही सम्प्रेषण की तकनीकों और चरणों का भी विकास हुआ है।

जब कभी सूचना या संदेश का सम्प्रेषण किया जाता है तो उसके मार्ग से संबंधित सभी प्रकार की जानकारी देने वाले को होनी चाहिए। इस मार्ग मे आने वाली बाधा, सुविधा, उसके प्रभाव और प्रामाणिकता को परख कर ही सम्प्रेषण करने वाला सम्प्रेषण का मार्ग तय करता है। वह जो मार्ग तय करता है या अपनाता है, वही उसका सम्प्रेषण मॉडल होता है। एक बार इस मॉडल को अपनाने के बाद सम्प्रेषण के लिए फिर से उसी मार्ग को अपनाया जाता है तो उससे संबंधित बहुत सी बाधाएं, समस्याएं भी आती है। इन्हें अनुभूत कर इस मॉडल में फिर परिवर्तन करते नये मॉडलों का निर्माण किया जाता है। अरस्तु से लेकर लासवेल डेविड के, बर्लो, डब्ल्यू कार्ल डाइच, शैनेन एवं वीनर, विलर श्रेम, स्टीवर्ट आदि ने सम्प्रेषण के विविध मॉडलों की संरचना की है। वेस्ते मैकलीन मॉडल के अंतर्गत सम्प्रेषण को किसी संगठन में प्रबंध के 'द्वारपाल की अवधारणा के रूप में स्थापित किया गया है तो विल्बर श्रेम मॉडल के अंतर्गत सम्प्रेषण के प्रेषक और प्राप्त करने वाले की समान अनुभूति पर महत्व दिया गया है। हैराल्ड लासवेल मॉडल के अंतर्गत जनसंचार शोध को महत्व देते हुए सम्प्रेषण की प्रभावशीलता पर जोर दिया गया है।

सम्प्रेषण के इन मॉडलो के अलावा भी जान व्हाइट रिले ओर मथलिदा व्हाइट रिले, गरहर्ट मलेज़्के, इलू कार्टज ओर पौल एफ लेजार्सपील्ट, एवर्ट रोजर्स और फलोइड षूमेकर सम्प्रेषण मॉडल प्रचलन में हैं। ये सभी मॉडल-

- सम्प्रेषण के अंतर्गत संचार प्रक्रिया को स्पष्ट रूप में समझाते हैं।
- सम्प्रेषण के विभिन्न चरणों पर प्रकाश डालते हैं।
- इन चरणों की पृथक भूमिका को परिभाषित करते हैं।
- सम्प्रेषण शोध के मार्ग को स्पष्ट करते हैं।
- सम्प्रेषण के अंर्तगत सूचनाओं और संदेशों के प्रेषण के क्रमिक विकास की व्यापक जानकारी देते है।

14.7 सम्प्रेषण का महत्व

किसी भी संगठन की सफलता के लिए वहां प्रभावी सम्प्रेषण की बेहद आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार के प्रभावी नेतृत्व की अनिवार्य तकनीक प्रभावी सम्प्रेषण ही है। नेतृत्व करने के लिए एक व्यक्ति मे वाक् कौशल होना चाहिए। उसके पास कहने के लिए कुछ न कुछ होना ही चाहिए। उसमें वह क्षमता होनी चाहिए कि वह सुनने वाले को उद्वेलित कर सके। ऐसा तभी संभव है जब वह अपने आपको पूरी तरह से सुनने वाले को संप्रेषित कर सके। प्रबंधन में तो यह और भी जरूरी है। इसलिए कि सम्प्रेषण ही प्रभावी प्रबंधन का आधार है। संगठन में जो कुछ आप कहना या समझाना चाह रहे हैं, वह इस प्रकार से होना चाहिए कि ग्रहण करने वाला उसे पूरी तरह से समझ सके।

किसी भी संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रमुख आधार प्रभावी सम्प्रेषण ही है। कोई भी संगठन, समूह सम्प्रेषण के बगैर अपने अस्तित्व को लम्बे समय तक बचा कर नहीं रख सकते। कार्य में समन्वय तब तक असंभव है जब तक कि किसी संगठन में संवादहीनता रहेगी। किसी संगठन में सहयोग इसलिए असंभव हो जाता है कि वहां के लोग एक दूसरे को अपनी आवश्यकता

और भावनाओं को जताते नहीं है। एक विचार बहु त महान हो सकता है परन्तु उसकी तब तक कोई उपयोगिता नहीं होगी जब तक कि वह दूसरों के द्वारा समझा नहीं जा सके। जब सम्प्रेषण प्रभावपूर्ण होगा तो यह निश्चय ही 'है कि वह दूसरों को बेहतर प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही कार्य संतुष्टि का भाव भी पैदा करेगा। प्रभावी सम्प्रेषण के जरिए ही दूसरों से बेहतर ढंग से कार्य लिया जा सकता है। एक सफल प्रबंधक वही है जो संगठन में अपने आपको संप्रेषित करने की कला जानता हो।

किसी भी संगठन के लिए यह जरूरी है कि आपसी समझ के लिए वहां प्रभावी सम्प्रेषण की व्यवस्था को स्थापित किया जाए। किसी भी संगठन की अर्न्तप्रबंध समस्या सम्प्रेषण है। यह वह ताकत है जिसके जरिए लोग प्रबंधन के साथ हो जाते हैं। इसके जरिए ही लोग परस्पर समझ के समान प्लेटफॉर्म पर आते हैं और इसी के जरिए संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए वे समान रूप से तत्पर होते हैं।

किसी संगठन में अच्छा सम्प्रेषण दो प्रकार का होता है। पहला शीर्ष से सीधे नीचे के स्तर का सम्प्रेषण और दूसरा नीचे से सीधे ऊपर का सम्प्रेषण। एक कुशल प्रबंधक के पास यह योग्यता होनी चाहिए कि वह सूचनाओं को प्राप्त करे, उनका विश्लेषण करे और उनके जरिए अपने अधीनस्थों को सही दिशा में निर्देशों को सम्प्रेषण कर सके। इस प्रकार कुशल प्रबंधन की क्षमता से ही प्रभावी सम्प्रेषण संभव है। सम्प्रेषण को जानकारियाँ और सूचनाओं के बीच का पूल कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। किसी भी प्रकार की जानकारी की तब तक कोई उपयोगिता नहीं है जब तक कि वह सूचना के रूप में संप्रेषित नहीं की जा सके। जब यह कहा जाता है कि 'ज्ञान ही ताकत' है तो वर्तमान संदर्भ में इसमें यह भी जोड़ दिया जाना चाहिए कि तब तक ज्ञान ताकत नहीं बन सकता जब तक कि उसका किसी स्तर पर उपयोग संभव नहीं हो और यह उपयोग उस जानकारी के प्रभावी सम्प्रेषण के जरिए ही संभव है।

14.8 सम्प्रेषण के विविध प्रकार

सम्प्रेषण विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के अंर्तगत अलग-अलग श्रेणियों के अंर्तगत क्रियान्वित किया जाता है। किसी संगठन, संस्थान में सम्प्रेषण के अनेक प्रकार होते हैं। इनके वर्गीकरण के निम्न आधार हैं-

14.8.1 संदेश प्रवाह के आधार पर सम्प्रेषण

किसी संगठन में संदेशों के प्रवाह की मुख्यत: निम्न चार प्रकार की श्रेणियाँ प्रचलन में है-

1 **अधोगामी सम्प्रेषण (Downward Communication) -** किसी भी संगठन या समूह के अंतर्गत जब ऊपर से नीचे की ओर (अधोगामी) सूचनाओं और संदेशों का प्रेषण किया जाता है तो वह इस प्रकार के सम्प्रेषण की श्रेणी में आता है। जब प्रबंधक अपने विचारों, अपनी योजनाओं को अपने कर्मचारियों को बताता है तो वह इस प्रकार का सम्प्रेषण ही कर रहा होता है। यह वह सम्प्रेषण है जिसके जरिए किसी संगठन की नीतियाँ, उसके उद्देश्य और प्राप्त करने वाले लक्ष्यों के साथ ही कार्य करने की तकनीक, उसकी कार्यदशाओ कार्य सबंधित आवश्यकताओं और आ सकने वाली समस्याओं और उन्हें हल करने के सुझाव प्रबंधकों द्वारा

अपने मातहतों को दिये जाते हैं। इस प्रकार का सम्प्रेषण प्रबंधकों एवं अधिनस्थों के मध्य अधिकार-दायित्व संबंधों को दर्शाते हैं। मसलन इसके जरिए ही प्रबंधक कार्य के संबंध में आदेश, निर्देश एवं दायित्वों को अधिनस्थों को सौंपता है। कार्य सूचनाएं, कार्य करने के तरीकों, किसी प्रकार की डांट-फटकार, प्रशंसा या फिर किसी निश्चित समय के लिए तय कार्य की समय सीमा आदि के बारें में प्रबंधकों से अधिनस्थों के बीच किया जाने वाला, लिखित एवं औपचारिक संवाद अधोगामी सम्प्रेषण ही होता है।

2 **उर्ध्वगामी सम्प्रेषण (Upward Communication) -** जब संदेश या सूचना का प्रेषण अधिनस्थ कर्मचारियों की ओर से प्रबंधकों को होता है तो वह उर्ध्वगामी सम्प्रेषण कहलाएगा। इसके जरिए किसी संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारियों द्वारा कार्य से संबंधित फीडबैक नीचे से शीर्ष तक पहुंचाया जाता है। इसके जरिए कर्मचारी अपनी प्रगति की समयबद्ध सूचना ही प्रबंधन को नहीं देते बल्कि अपनी समस्याओं और सुझावों को भी समय-समय पर बताते हैं। इस प्रकार के सम्प्रेषण के अंतर्गत संगठन में प्रबंधक यह जान सकते हैं कि कर्मचारी अपने कार्य को लेकर किस प्रकार की समस्या या संतुष्टि अनुभव कर रहे हैं। यही नहीं प्रबंधक इसके जरिए कार्य को कैसे बेहतर और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है, इसके बारे में कर्मचारियों के उपयोगी सुझाव भी प्राप्त कर सकते हैं।

3 **समान कार्य समूह सम्प्रेषण (Lateral Communication) -** समान कार्य करने वाले समूह अर्थात् प्रबंधकों का प्रबंधकों के मध्य अथवा कर्मचारियों का कर्मचारियों और एक ही कार्य करने वाली प्रकृति के लोगों का उसी प्रकृति के दूसरे लोगों के साथ जब संदेशों और सूचनाओं का आदान प्रदान होता है तो वह इस प्रकार के सम्प्रेषण की श्रेणी में आता है। मुख्यत: इस प्रकार का सम्प्रेषण समन्वय से कार्य करने की संस्कृति लिए होता है।

14.8.2 संबंधों के आधार पर सम्प्रेषण

संगठन में कर्मचारियों और प्रबंधकों के मध्य जब उनके पदों और कार्य के संबंधों के आधार पर सम्प्रेषण के मुख्यत: दो आधार हैं-

1 **औपचारिक सम्प्रेषण -** किसी संगठन में औपचारिक संबंधों वाले व्यक्तियो के मध्य जब संगठन में प्रचलित सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंर्तगत परस्पर सूचनाओं और संदेशों का प्रेषण किया जाता है तो वह औपचारिक सम्प्रेषण कहा जाएगा। अधिक सरल शब्दों मे कहें तो यह वह सम्प्रेषण होता है जो किसी संगठन द्वारा संदेशों और सूचनाओं के आदान-प्रदान के लिए स्थापित किया होता है। मूलत: इसके जरिए संगठन के सदस्यों की व्यावसायिक गतिविधियों का आदान-प्रदान होता है। संगठन की प्रक्रिया के तहत उसके सदस्य अपने से ऊपर के अधिकारियों की चैन के अंर्तगत पूर्व निर्धारित मार्ग के जरिए एक दूसरे को औपचारिक रूप में सूचना देने, किसी बात को बताने, सलाह प्राप्त करने या फिर अपने सुझाव देने के अंर्तगत इसके जरिए संवाद करते हैं। कहा जा सकता है कि ऐसा सम्प्रेषण संगठन के व्यक्तियों के मध्य न होकर एक प्रकार से उनके पदों के बीच होता है।

2 **अनौपचारिक सम्प्रेषण -** इस प्रकार का सम्प्रेषण औपचारिकताओं से मुक्त होता है। बगैर किसी पूर्व निर्धारित मार्ग के यह ऐसा सम्प्रेषण है जो सामाजिक सबंधों की समझ और भावनाओं

के आधार पर होता है। अनौपचारिक सम्प्रेषण बहुतेरी बार कही सुनी बातों अनुमानों के दूसरे रूप में भी होता है। इसका कोई निश्चित समय नहीं होता और न ही किसी प्रकार का कोई व्यवस्थित माध्यम होता है। कभी भी इस प्रकार का सम्प्रेषण सामुहिक कार्यक्रमों, सामाजिक अवसरों, गोष्ठी, सभा या अन्य किसी आकस्मिक अवसर पर हो जाता है। औपचारिक संबंधों की आवश्यकता के बगैर किए जाने वाले ऐसे सम्प्रेषण से संगठन की बाधाएं ही दूर नहीं होती बल्कि विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को भी प्रोत्साहन मिलता है। पद एवं व्यक्ति की स्थिति इस प्रकार के सम्प्रेषण में किसी प्रकार की बाधा नहीं बनती है।

14.8.3 अन्तर्वैयक्तिक सम्प्रेषण

किसी संगठन में वहां के सदस्य एक-दूसरे से करने वाले संवाद के लिए जब कोई प्रक्रिया को अपनाते हैं तो वह उनके परस्पर सम्प्रेषण के अंतर्गत अन्तर्वैयक्तिक सम्प्रेषण के रूप में जाना जाता है। अन्तर्वैयक्तिक सम्प्रेषण मुख्यत: निम्न तीन प्रकार से होता है-

1 **मौखिक सम्प्रेषण (Oral Communication) -** मुंह से कहे गए शब्दों, उच्चारण द्वारा जब विचारों, सूचनाओं, संदेशों आदि का परस्पर आदान-प्रदान होता है तो, वह मौखिक सम्प्रेषण की श्रेणी में आता है। इस प्रकार के सम्प्रेषण में मुख्यत: भाषण, औपचारिक समूह विमर्श, प्रत्यक्ष बातचीत, भेंटवार्ता, रेडियो वार्ता, सभा, सम्मेलन आदि आते हैं। इसके जरिए संदेशों और सूचनाओं को शीघ्रातिशीघ्र एक दूसरे तक पहुंचाया जा सकता है। शब्दों के साथ-साथ चित्र, चार्ट, प्रतीक चिन्ह, आकृतियों, भाव भंगिमाओं, संकतों आदि के जरिए इसमें बात, सूचना, संदेश आदान-प्रदान होता है।

2 **लिखित सम्प्रेषण (Written Communication) -** जब प्रेषक द्वारा संदेश या सूचना को लिखित रूप में प्रेषित किया जाता है तो वह लिखित सम्प्रेषण होता है। लिखित संदेश के अंतर्गत ई-मेल, पत्र, फैक्स संदेश, संगठन का बुलेटिन, पत्र-पत्रिकाएं, प्रतिवेदन, पुस्तिकाएं, परिपत्र, प्रगति प्रतिवेदन आदि विशेष रूप से आते है।

3 **सांकेतिक अथवा अमौखिक सम्प्रेषण (Non Verbal Communication) -** इस प्रकार का सम्प्रेषण हाव-भावों, संकेतों आदि के जरिए किया जाता है। शरीर अथवा व्यवहार की भाषा के अंतर्गत किए जाने वाले ऐसे सम्प्रेषण का प्राप्तकर्ता से अधिक बौद्धिक क्षमता की अपेक्षा होती है। पीठ थपथपाना, आँख से इशारा करना, मुस्कराकर स्वागत करना, चेहरे के भावों से नाराजगी या गुस्सा दिखाना आदि विभिन्न भाव-भंगिमाओं के जरिए जब क्रिया-प्रतिक्रियाएं की जाती है तो इस प्रकार किया जाने वाला सम्प्रेषण अमौखिक सम्प्रेषण की श्रेणी में आता है।

14.8.4 संगठनात्मक सम्प्रेषण

अन्तर्वैक्तिक सम्प्रेषण के साथ ही किसी संगठन में एक औपचारिक कार्यतंत्र के अंतर्गत विभिन्न स्तरों पर सम्प्रेषण किया जाता है। वर्तमान समय सूचना क्रांति का है और ऐसे दौर में सम्प्रेषण के लिए बहुत से स्तरोंपर संगठन को कार्य करना होता है। इस प्रकार किसी संगठन के अंतर्गत सम्प्रेषण के निम्न प्रकार होते हैं -

1 **अंगूरीलता सम्प्रेषण (Grapewine Communication) -** अनौपचारिक सम्प्रेषण का ही दूसरा रूप अंगूरीलता सम्प्रेषण है। इसके अंर्तगत कही गयी बातों की सामान्यतया कोई निश्चित तय रूपरेखा नहीं होती। सत्य के निकट या केवल सुनी-सुनाई बातों का प्रसारण ही इसके अंतर्गत किया जाता है। चाय पार्टी, अनौपचारिक समारोह उत्सव या ऐसे ही किसी अवसर पर प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों द्वारा व्यवसाय के सम्बन्ध में किया गया अनौपचारिक विचार-विमर्श अंगूरीलता सम्प्रेषण है। इसमें जहां एक ओर महत्वपूर्ण बातें भी होती हैं तो अफवाहें भी होती है। सूचना, विचार पर इसमें किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता। हर व्यक्ति अपने पास के संदेश में अपनी ओर से कुछ मिलाकर उसे दूसरे को देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। ऐसे में बहुतेरी बार सूचना या संदेश विकृति का रूप भी ग्रहण कर लेते हैं, चूंकि उसमें मूल बात गौण सी हो जाती है। संगठन में विभिन्न स्तरों पर कार्य संतुष्टि, गति एवं शुद्धता पर इस प्रकार के सम्प्रेषण का व्यापक प्रभाव पड़ता है। यह ऐसा सम्प्रेषण भी है जिसके द्वारा उन सूचनाओं का भी प्रसारण हो जाता है, जो मूल्यवान होती हैं तथा गोपनीय मानी जाती है। अफवाहों के निराकरण के लिए भी ऐसे सम्प्रेषण का उपयोग किया जाता है।

2 **श्रव्य-दृश्य सम्प्रेषण (Audio - Video Communication) -** वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी दौर में श्रव्य-दृश्य सम्प्रेषण सर्वाधिक प्रचलित और प्रभावी है। आधुनिक समय में तो किसी भी संगठन की रीढ़ वहां का श्रव्य-दृश्य सम्प्रेषण ही है। श्रव्य दृश्य सम्प्रेषण के अंतर्गत संगठन में संदेश, सूचना या विचार को सभा, सम्मेलन, संगोष्ठी आदि करके या फिर संबंधित विषय की ऑडियॉ विडियो सीडी या डीवीडी के जरिए या फिर कम्प्यूटर नेटवर्क के जरिए संगठन सदस्यों को प्रेषित की जाती है। मुख्यत: इस प्रकार का सम्प्रेषण सूचना प्रौद्योगिकी की वर्तमान उन्नत तकनीकों पर ही केन्द्रित है। श्रव्य-दृश्य सम्प्रेषण की प्रचलित तकनीकें इस प्रकार से हैं-

- वाई-फाई अर्थात वायरलैस इन्टरनेट सेवा के जरिए संदेश, सूचना या फिर विचार का प्रेषण।
- ई-मेल यानी कम्प्यूटर (इन्टरनेट) के माध्यम से सूचना या संदेश का प्रसारण।
- टेली काफेसिंग यानी टेलीफोन के माध्यम से सूचनाओं का सम्प्रेषण।
- विडियो कांफ्रेसिंग के अंतर्गत विडियो संचार के माध्यम से परस्पर संवाद।

14.9 सम्प्रेषण : बाधाएं एवं सुझाव

सम्प्रेषण की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उसे प्राप्तकर्ता सही अर्थो में ग्रहण कर सके। प्रेषक द्वारा प्रेषित किये जाने वाला संदेश जब वास्तविक अर्थो में प्राप्तकर्ता तक नहीं पहुंच पाता है तो सम्प्रेषण का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता है। सम्प्रेषण को जब परस्पर समझ का विनिमय कहा जाता है तो यह जरूरी होता है कि जिस अर्थ एवं रूप में वह किया जाए। उसी अर्थ एवं रूप में प्राप्तकर्ता उसे ग्रहण करें। इस प्रक्रिया में बहुत सी बाधाएं और समस्याएं आती है। **बाधाएं और समस्याएं -** सम्प्रेषण बाधाओं और समस्याओं को मोटे रूप में निम्न प्रकार विभक्त किया जा सकता है -

1 **संगठन संरचना -** किसी संगठन की संरचना कैसी है, इस बात पर भी सम्प्रेषण निर्भर करता है। कई बार संगठन 'सरंचना सम्प्रेषण की अनेक बाधाओं को जन्म देती है। इसके अंतर्गत प्रबन्ध के स्तरों की अधिकता, प्रबन्धकीय सत्ता, विकेन्द्रीकरण, प्रबंध-कर्मचारी सम्बन्ध, कर्मचारियों की कार्य स्थितियॉ, प्रबन्ध की निर्णयों में भागीदारी आदि को मुख्यत: सम्मिलित किया जाता है। संगठन में प्रबन्ध के जितने अधिक स्तर होंगे, सम्प्रेषण में उतनी ही बाधाएं उत्पन्न होने की स्थितियाँ रहती है। कारण यह होता है कि इससे प्रेषक और प्राप्तकर्ता की दूरियॉ परस्पर संवाद की कठिन स्थितियाँ पैदा होती है। इसी प्रकार प्रबन्धकीय सत्ता के कारण संदेशों एवं सूचनाओं के अनावश्यक रूप से गुप्त रखते हुए उनके महत्व को बनाए रखने की सोच से भी सम्प्रेषण बाधित होता है। प्रबंधकों, कर्मचारियों की कार्यदशाओं में अन्तर, प्रबंध की सत्ता की सोच आदि के कारण भी कर्मचारी-प्रबंधको के बीच हित, निष्ठा तथा उद्देश्यों में भेद उत्पन्न होता है जिसका सीधा असर सम्प्रेषण में बाधा के रूप में सामने आता है। पद स्थिति, पदौन्नति आदि भी वे कारण है जिनसे सम्प्रेषण प्रभावित होता है। ऐसे में यह कहा जा सकता है कि संगठन संरचना बहुतेरी बार सम्प्रेषण की प्रमुख बाधा बन जाती है।

2 **सूचनाओं की आधिक्यता -** संगठन में जब विभिन्न स्तरों के अंर्तगत सूचनाओं, संदेशों की आधिक्यता हो जाती है तो उनके सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न हो जाती है। सूचनाओं और संदेशों के प्रेषक और प्राप्तकर्ता के बीच इससे सूचनाओं को देने और लेने संबंधी असंतुलन पैदा हो जाता है। परिणामत: सम्प्रेषण में बाधाएं आती है।

3 **भाषा एवं तकनीक सम्बन्धी बाधा -** भाषा सम्प्रेषण की बहुत से स्तरों पर प्रमुख बाधा होती है। भाषा के अंर्तगत केवल अनुवाद की ही प्रमुख समस्या नहीं होती बल्कि प्रेषक और प्राप्तकर्ता के मध्य बौद्विक समझ भी प्रमुख बाधा होती है। शब्दों की जटिलता, गलत शब्दों का चयन, द्वि-अर्थी संवाद आदि के कारण बहुतेरी बार गलतफहमियां पैदा हो जाती है। इसी प्रकार अभियांत्रिकी दोष, गलत माध्यम का चयन, उपकरण का गलत ढंग से प्रयोग आदि के कारण भी सम्प्रेषण बहुत से स्तरों पर बाधित होता है।

4 **वैयक्तिक एवं अर्न्तवैयक्तिक विभिन्नता -** प्रत्येक संगठन में वहां कार्य करने वाले लोगों के रहन-सहन, खान-पान, परम्पराओं के साथ ही उनकी आयु आय, स्वभाव, आदत, ज्ञान, लिंग आदि के कारण भिन्नता पाई जाती है। इससे परस्पर उनकी मानसिक स्थितियों में भी अन्तर आता है। इसी प्रकार संदेश देने वाले और प्राप्तकर्ताओं के मध्य अस्पष्ट मान्यताओं, परस्पर विरोध, एक-दूसरे पर अविश्वास भी सम्प्रेषण के प्रभाव को कम करते हैं। अर्न्तवैयक्तिक बौद्विक असमानता के कारण संदेश संगठन में इस प्रकार से बाधित होता है।

5 **भावात्मक एवं श्रवण सबंधी बाधा -** व्यक्ति के मनोभाव और भीतर की संवेदनाओं के कारण भी संदेश या सूचना का सम्प्रेषण प्रभावित होता है। एक व्यक्ति की भावनाएं जरूरी नहीं है कि दूसरे व्यक्ति से उसी प्रकार से मिले। ऐसे में बहुत से स्तरों पर संदेश को उचित रूप से नहीं समझा जाता है। व्यक्ति जब किसी दूसरे व्यक्ति को कोई संदेश या सूचना देता है तो जिन मनोभावों का प्रदर्शन करता है, उनके आधार पर भी प्राप्तकर्ता उन्हे ग्रहण करने अथवा नहीं करने का निर्णय लेता है। मनोभावों को अच्छा माना गया तो संदेश ग्रहण किया जाता

है अन्यथा संदेश बाधित होता है। इसी प्रकार संदेश या सूचना को पूरी तरह से सुनने अथवा उसको ठीक से नहीं सुनकर अंदाज लगाने से भी सम्प्रेषण में बाधा आती है।

6 **क्रॉस कल्चरल सम्प्रेषण -** परस्पर सांस्कृतियों में भिन्नता के समूह या व्यक्तियों के मध्य जब संवाद होता है तो इससे सम्प्रेषण में बहुत से स्तरो पर बाधा पहुंचती है भिन्न भाषा, भिन्न परिवेश, भिन्न संस्कृति के अंर्तगत शब्दों को बरतने का अलग-अलग अंदाज होता है। ऐसे में क्रॉस कल्चरल घटक सम्प्रेषण में अनेक बाधाएं उत्पन्न करते हैं। चूंकि एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं और इन्हें जब अलग-अलग प्रकृति और क्षेत्र के लोग इस्तेमाल करते हैं तो स्वाभाविक रूप से अर्थ को लेकर बाधा उत्पन्न हो जाती है। मुख्य रूप से भिन्न राष्ट्रीय संस्कृति के व्यक्तियों के मध्य परस्पर संवाद में इस प्रकार की समस्या आती है। मसलन रूस एवं ब्रिटेन के व्यक्ति जब आपस में सम्प्रेषण करते हैं तो चयनित शब्दों के उचित अर्थ की समस्या उत्पन्न होती है। कारण यह है कि विभिन्न देशों में शब्दों का उच्चारण, टोन एवं अवबोधन भिन्न-भिन्न होता है। इससे सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न होती है।

बाधाओं और समस्याओं को दूर करने के सुझाव - सम्प्रेषण की इन बाधाओं और समस्याओं को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि -

1 सम्प्रेषण बगैर किसी दूसरे सम्पर्क सूत्र के जरिए नहीं करके प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। इससे संवाद सहज होगा साथ ही संगठनात्मक रूप में पूर्वाग्रहों के बगैर सम्प्रेषण संभव हो सकेगा। निश्चित ही इससे समय और श्रम की बचत तो होगी ही साथ ही इससे मूल संदेश भी अपरिवर्तित रहता है।

2 सम्प्रेषण की वह तकनीक अपनायी जाए जो सरल और प्रत्येक स्तर के व्यक्ति के लिए सुगम हो।

3 संदेश या सूचना ग्रहण करने वाले के अनुकूल होनी चाहिए ताकि आसानी से वह संप्रेषित हो सके।

4 संदेश या सूचना के अंर्तगत किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाना चाहिए। पद के स्तर के साथ ही एक दूसरे के सम्मान को ध्यान मे रखते हुए सूचनाओ और विचारों का प्रेषण किया जाए तो सम्प्रेषण सफल होता है।

5 समयबद्ध और पूर्व निर्धारित योजना के अंर्तगत उचित प्रकार से सम्प्रेषण किया जाना चाहिए ताकि वह अपने उद्देश्य में सफल हो।

6 सम्प्रेषण के लिए चुनी गयी भाषा सरल, बोधगम्य और ऐसी हो जिसमे आम बोलचाल के शब्दों का प्रयोग किया हुआ हो।

7 संदेश या सूचना निर्देश या आदेशों में नहीं होकर विनम्र रूप में ऐसी हो जिससे प्राप्तकर्ता को दिशा मिल सके और वह उसे ग्रहण करते वक्त किसी प्रकार की हीन भावना से ग्रसित नहीं हो।

8 संगठन के विभिन्न स्तरों को कम करते हुए सम्प्रेषण के लिए व्यवस्थित ढांचा इस प्रकार से बनाया जाए कि उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं हो।

9 सम्प्रेषण के अंर्तगत दी गयी सूचना, संदेश में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए। उसका अर्थ वही होना चाहिए जो सामान्यत: दिखायी देता है।

10 अवसर, स्थान और समय को दृष्टिगत रखते हुए संदेश, सूचना के लिए माध्यम का उपयोग किया जाना चाहिए।

11 संगठन में मानवीय सम्बन्धों को सुधारने के साथ ही परस्पर सौहार्द्र वातावरण का निर्माण कर ही सम्प्रेषण की पहल की जानी चाहिए।

12 संदेश के निर्माण, संचरण एवं प्रतिपुष्टि में सम्प्रेषण के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिए।

13 प्रबंध सिद्धान्तों के अंर्तगत कुशल नेतृत्व, अभिप्रेरण, समन्वय, निर्देशन, नियंत्रण आदि को ध्यान में रखकर सम्प्रेषण किया जाना चाहिए ताकि सभी स्तरों पर सम्प्रेषण सफल हो सके।

14 सही समझ उत्पन्न करने के लिए संदेश की पुनरावृत्ति भी की जानी चाहिए।

15 सम्प्रेषण में सूचना प्रवाह का नियमन आवश्यक रूप से होना चाहिए।

16 विषय सामग्री सहज और तथ्य सहित होनी चाहिए।

17 संदेश पूर्ण रूप से व्यवस्थित तथा उद्देश्यपरक होने चाहिए तभी उन्हें प्राप्तकर्ता ग्रहण कर पाएंगे।

14.10 सारांश

दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच संवाद, परस्पर विचारों, भावनाओं, तथ्यों आदि के परस्पर आदान-प्रदान को सम्प्रेषण कहा जाता है। सीधे सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सम्प्रेषण का अर्थ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सूचनाओं, संदेशों को प्रेषित करने से है परन्तु इसकी सफलता तभी संभव है जब प्राप्तकर्ता प्रेषक के मंतव्य को पूरी तरह से समझ सके। ऐसे में सम्प्रेषण को मानवीय संवेदनाओं, विचारों, सूचनाओं और संदेशों की समझ का पारस्परिक विनिमय कहा जा सकता है। विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रेषण की अलग-अलग परिभाषाएं दी है। कीथ डेविस सम्प्रेषण को एसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं जिसके अंर्तगत संदेश और समझ को एक दूसरे तक पहुंचाया जाता है। तो डेविड के. बार्लो सम्प्रेषण के जरिए संचार प्रक्रिया को प्रारंभ करने पर जोर देते हैं। इसी प्रकार सिगवैण्ड सम्प्रेषण को भावनाओं, विचारों एवं अभिवृतियों के आदान प्रदान से संबंधित मानते कहते हैं कि यह मौखिक एवं गैर मौखिक दोनों ही तरीकों से किया जाता है और जिसके द्वारा प्रक्रियाओं की सम्प्राप्ति होती है। न्यूमेन तथा समर ने सम्प्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों अथवा भावनाओं का विनिमय है कहा है। गिबसन इवेन्सविच के अनुसार समान प्रतीकों के माध्यम से सूचना व समझ का संचारण ही सम्प्रेषण है।

सम्प्रेषण के अंर्तगत किसी भी संगठन में महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। यह सम्प्रेषण ही है जिसके द्वारा किसी संगठन में प्रबंध के सभी मूलभूत कार्यो को व्यावहारिक रूप में अमलीजामा पहनया जाता है। सम्प्रेषण के अंतर्गत निर्देशन, नियंत्रण, समन्वय आदि के प्रमुख कार्यो को संपादित किया जाता है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया जितनी सरल दिखायी देती है, उतनी व्यवहार में होती नहीं है। सम्प्रेषण प्रक्रिया के अंर्तगत प्रेषक के दिमाग में किसी स्त्रोत से उत्पन्न विचार या सूचना आने के बाद वह

उसे प्रेषित करने की कार्यवाही के लिए विभिन्न प्रक्रियाएं अपनाता है। इन प्रक्रियाओ के अंर्तगत माध्यम का चयन. प्राप्तकर्ता की ग्रहण क्षमता सूचना या संदेश के प्रेषण, उसकी प्रतिपुष्टि आदि की विभिन्न क्रियाएं होती है। ऐसे में सम्प्रेषण विभिन्न चरणों से होकर ही सफलता की ओर अग्रसर होता है।

विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रेषण के मॉडलों का विवेचन किया है। ये मॉडल ऐसे हैं जिनमें यह समझाया गया है कि कैसे सम्प्रेषण बाधा रहित होकर सफलता को प्राप्त करता है। सम्प्रेषण का सामान्य मॉडल क्लॉड शेनन तथा वारेन वीवर का सुझाया हुआ है। इसके अंतर्गत सम्प्रेषण के आरंभ से लेकर उसके अंतिम बिन्दु तक पहुंचने को समझाते हुए सम्प्रेषण के बाधा रहित होने पर जोर दिया गया है।

किसी भी संगठन में सम्प्रेषण का महत्व इस रूप में है कि इसके जरिए ही संगठन के उद्देश्यों की सफलतम प्राप्ति सभी स्तरों पर सुनिश्चित की जा सकती है। सम्प्रेषण के बगैर बहुतेरी बार विकृतियॉ जन्म ले लेती है। प्रभावी सम्प्रेषण के जरिए ही संगठन में प्रबंधक एवं कर्मचारी समूह में परस्पर समन्वय स्थापित कर बेहतर परिणाम प्राप्त किए जा सकते है। सम्प्रेषण संवाद की बाधाओं को दूर कर लक्ष्यों की आसानी से प्राप्ति कराने में बेहद कारगर है, बशर्ते वह सफलतम रूप में किया जा सके।

सम्प्रेषण के विभिन्न प्रकार हैं। औपचारिक रूप में सम्प्रेषण किसी संगठन में वहा कार्यरत कर्मचारियों, अधिकारयों के कार्य विभाजन और पदों के आधार पर होता है तो अनौपचारिक सम्प्रेषण के अंर्तगत किसी प्रकार के तय मार्ग की बजाय परस्पर संबधों के आधार सम्प्रेषण होता है। ऐसे ही उर्ध्वगामी, अधोगामी सम्प्रेषण शीर्ष से नीचे की ओर तथा नीचे से शीर्ष की ओर होता है तो मौखिक, लिखित, संगठनात्मक आदि विभिन्न सम्प्रेषण के प्रकार हैं। इन सबके अंर्तगत संगठनात्मक ढांचे, पद, प्रबंधन स्तर, भावनात्मक स्तर, भाषा एवं तकनीक, श्रवण, क्रास कल्चर, सूचनाओं की आधिक्यता आदि सम्प्रेषण की ऐसी बाधाएं हैं जिन्हें दूर किया जाना बेहद जरूरी हैं। ये वे समस्याएं हैं जिनसे सम्प्रेषण प्रभावित होता है। सम्प्रेषण की इन बाधाओ और समस्याओं को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि सम्प्रेषण प्रत्यक्ष, सरल, सुगम.,एक दूसरे की भावनाओं को सम्मान पहुंचाने वाला, बोधगम्य इस प्रकार से हो कि उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं हो। सम्प्रेषण को समय के अनुरूप संक्षिप्त, विशय पर पूर्णत: केन्द्रित और आसानी से समझ आने वाला होना चाहिए, तभी उसकी व्यापक स्तर पर सार्थकता है। और इसी से वह बाधा रहित होगा।

14.11 शब्दावली

1 क्रॉस कल्चरल कम्यूनिकेशन - परस्पर भिन्न संस्कृति लोगों के मध्य संवाद।

2 श्रव्य-दृश्य सम्प्रेषण- टेलीविजन, रेडियो माध्यमों से संवाद

3 प्रतिपुष्टि - किए जाने वाले सम्प्रेषण के बारे में प्राप्त प्रतिक्रिया अर्थात् फीडबैक

4 लिपिबद्धकरण - सूचना, विचार या संदेश का प्रारूप तय करना

5 विकृति - सम्प्रेषण के अंर्तगत आने वाली बाधा

14.12 प्रश्न

1 सम्प्रेषण से आप क्या समझते है' सम्प्रेषण की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं के संदर्भ में इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।

2 "सम्प्रेषण परस्पर सूचनाओं, विचारों और संदेशों का विनिमय है।" इस कथन के परिप्रेक्ष्य में सम्प्रेषण के महत्व पर प्रकाश डालिए।

3 "सम्प्रेषण के अभाव में परस्पर गलतफहमियां पैदा हो जाती है।" इस कथन के संदर्भ में सम्प्रेषण के कार्यो को समझाइए।

4 "सम्प्रेषण किसी संगठन में प्रबंध का कार्य करता है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं? तर्कसंगत उत्तर दीजिए।

5 सम्प्रेषण की प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डालते हु ए इसके विभिन्न मॉडलों के बारे मे जानकारी दीजिए।

6 सम्प्रेषण के विभिन्न प्रकारों के बारे में प्रकाश डालिए।

7 सम्प्रेषण की बाधाएं और समस्याएं क्या हैं? इन्हें दूर करने के उपाय सुझाईये।

14.13 उपयोगी पुस्तकें

1 The Process of Communication - D.K Berlo

2 Communication in Organization - J. Langan - Fox

3 Non Verbal Communication - A. Mehrabian

4 Vertical and Horizontal Communication in Formal Organization - R.L Simpson

5 Organizational Behavior - Stephen P. Robbins

6 उत्तर आधुनिक मीडिया तकनीक - हर्षदेव

7 साइबरस्पेस और मीडिया - सुधीश पचौरी

8 कल की ताज़ा खबर

9 सम्प्रेषण - गुलाब कोठारी

इकाई-15: संघर्ष का प्रबन्ध (Management of conflicts)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना / परिचय

15.2 संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

15.3 संघर्ष की विचारधाराऐं

15.4 संघर्ष के प्रकार

15.5 संघर्ष के कारण

15.6 संघर्ष समाधान की तकनीकें

15.7 संघर्ष की प्रक्रिया एवं स्तर

15.8 सारांश

15.9 प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि -

– संघर्ष का अर्थ तथा इसकी विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन कर सके

– संघर्ष के विभिन्न प्रकारों / प्रारूपों को समझ सके

– एक संस्था में संघर्ष के विभिन्न कारणों का अध्ययन कर सके

– संस्था में उत्पन्न होने वाले संघर्षो के समाधान की तकनीकों को स्पष्ट कर सके

– संघर्ष की प्रक्रिया का वर्णन कर सके।

15.1 प्रस्तावना / परिचय (Introduction)

प्रत्येक संगठन में श्रेष्ठ प्रबन्ध पद्धतियों को अपनाने के बावजूद भी सभी प्रकार के संगठनों में संघर्ष की स्थिति सदा से ही विद्‌यमान रही है। संघर्ष, मतभेद एवं विवाद प्रत्येक संगठन का एक हिस्सा होते हैं। **फिलिप्पो (Flippo)** के अनुसार, "किसी संगठन में संघर्ष न होना, विश्वसनीय नहीं है, नीरस है और इस बात का पक्का सबूत है कि संघषों को दबाया गया है।" आधुनिक प्रबंधकों का संघर्ष के प्रति दृष्टिकोण में भी व्यापक परिवर्तन आया है। परम्परावादी प्रबंधक संघर्ष को संगठन के लिए घातक एवं विनाशकारी मानते थे। परन्तु आधुनिक प्रबंधकों का दृष्टिकोण यह है कि संगठन में संघर्ष को टालने या दबाने की अपेक्षा संघर्ष को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करके उसका रचनात्मक उपयोग किया जाना चाहिए। वर्तमान में संघर्ष को घातक न मानकर रचनात्मक माना जाने लगा है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जो शक्ति संघर्षो के निपटारे में व्यय होती है, उससे संघषों का सकारात्मक उपयोग करके वातावरण को स्वस्थ बनाया जा सकता है।

मेरी पार्कर फोलेट ने, "रचनात्मक संघर्ष की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। संगठन में परिवर्तन, अर्न्तव्यवहार एवं सक्रियता की दृष्टि से भी संघर्षात्मक स्थिति को एक सीमा तक स्वीकार किया जाने लगा है।"

15.2 संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Conflicts)

संघर्ष एक विवाद की स्थिति है जिसके फलस्वरूप अर्न्तवैयक्तिक व्यवहारों में परिवर्तन आ जाता है। संघर्ष विरोधी विचारों, मूल्यों, हितों या लक्षणों के कारण उत्पन्न होता है। संघर्ष के दो पहलू हैं - सकारात्मक पहलू और दूसरा नकारात्मक पहलू। जब संघर्ष संगठनात्मक लक्ष्यों के एवं कार्य निष्पादन में सुधार लाने के पक्ष में होता है तो इसे सकारात्मक या स्वस्थ संघर्ष कहते हैं। किन्तु यदि संघर्ष संगठनात्मक लक्ष्यों में बाधा उत्पन्न करता है तो इसे अस्वस्थ या नकारात्मक संघर्ष कहा जाता है।

जोसेफ रिट्स के अनुसार, "एक संगठन के अंदर संघर्ष को सामान्य कार्य संचालन में बाधा, रूकावट एवं व्यवधान के रूप में वर्णित किया जाता है। जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों एवं समूहों को सामूहिक रूप से कार्य करने में कठिनाई अनुभव होती है।"

एस ए. शेरलेकर (S.A. Sherlakar) के अनुसार, "संघर्ष दो पक्षकारों के मध्य एक ऐसी विवाद एवं मतभेद की स्थिति है जबकि संघर्ष के पक्षकार विरोधी पक्षकार को उसके उद्देश्यों की प्रगति में जानबूझकर एवं खुल्लम-खुल्ला तौर से विद्वैषी कार्यवाहियों द्वारा बाधा उत्पन्न करते हैं।"

एस.पी रॉबिन्स के अनुसार, "संघर्ष से आशय सभी प्रकार के विरोध अथवा विरोधी अन्त: क्रिया से है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संघर्ष में दो पक्षकारों के मध्य हितोंद्व विचारों एवं दृष्टिकोण की टकराहट होती है जिसके फलस्वरूप उनके अर्न्तव्यक्तिगत व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है और जब दोनों पक्षों का विरोध खुलकर सामने आता है तो वह संघर्ष कहलाता है। संघर्ष सदैव बुरे या घातक नहीं होते हैं जैसा कि रॉबिन्स ने कहा है : 'संघर्ष का एक सकारात्मक पक्ष होता है तथा साथ में नकारात्मक पक्ष भी होता हैं'

According to **Robbins** - "All conflicts are not bad. Conflicts has a positive side as well as a negative side".

15.3 संघर्ष की विचारधाराऐं (Different Theories or Philosophies of Conflicts)

संघर्ष के सम्बन्ध में समय-समय पर अलग-अलग विचारधाराऐं प्रचलित रही है । संघर्ष की निम्न विचारधाराऐं हैं -

(i) परम्परावादी विचारधारा (Traditional philosophy) :

इस विचारधारा का प्रचलन 1890 से लेकर 1940 के मध्य रहा। इस समय उद्योगों में वैज्ञानिक प्रबंध का गहन प्रभाव था। इस विचारधारा में इस बात पर विशेष बल दिया जाता था कि मनुष्य

कार्य करने के उपयुक्त होने चाहिए। इस कारण इस विचारधारा को मानव अभियांत्रिकी विचारधारा भी कहा जाता है। इस अवधारणा में उद्योगों में उत्पादकता व श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाने पर जोर दिया जाता था। प्रबंधक केवल उत्पादन बढ़ाने को महत्व देते थे और श्रमिकों के हित को गौण समझते थे। कार्य-प्रमाप, कार्य समय, कार्य-नियमों व कार्य-तकनीकों पर ही बल दिया जाता था। प्रबंधक श्रमिकों के कार्य, लक्ष्य, उपकरणों पर कड़ा नियंत्रण रखते थे। परिणामस्वरूप प्रबंधक व श्रमिकों में संघर्ष बढ़ते गए।

मान्यताऐं :

इस विचारधारा की निम्न मान्यताऐं हैं :-

1. संघर्ष संगठन के हित की दृष्टि से विघ्नकारी एवं हानिकारक होता है।
2. यह विचारधारा सकारात्मक तथा नकारात्मक संघर्षो में कोई अंतर नहीं करती।
3. यह विचारधारा संघर्ष का केवल नकारात्मक दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करती है। इसमें संघर्ष को हिंसा, अंशाति उपद्रव, विनाश, उत्पादन में बाधा के रूप में ही माना प्रस्तुत किया है।
4. प्रत्यायोजन का अभाव, कार्य नियोजन का अभाव, लक्ष्यों व भूमिकाओं की अस्पष्टता, कर्मचारियों की अकुशलता व कार्य का सही वितरण न होना संघर्ष के प्रमुख कारण माने जाते हैं।
5. इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष को समाप्त करने के लिए उपयुक्त कर्मचारियों का चयन, कार्य का सही वितरण, प्रशिक्षण, कर्मचारियों की योग्यता व कुशलता में वृद्धि, सत्ता का समुचित प्रत्यायोजन तथा दण्ड व पुरस्कार व्यवस्था को जानी चाहिए।

   सारांश के रूप में यही कहा जा सकता है कि इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष की उत्पत्ति या कर्मचारियों की अकार्यकुशलता के कारण होती है तथा कर्मचारियों की योग्यता व कुशलता में सुधार करके संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष केवल हानिकारक है अत: इसे समाप्त करना आवश्यक है।

(ii) व्यवहारवादी विचारधारा (Behavioural Philosophy) :

इस विचारधारा का विकास प्रबन्ध में व्यवहारवाद के साथ हुआ। इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष की उत्पत्ति स्वाभाविक है तथा संघर्ष किसी भी संगठन का आवश्यक अंग है। अत: संघर्ष को स्वीकार किया जाना चाहिए। यह विचारधारा 1930 से 1980 तक के वर्षो में अधिक प्रभावशाली रही। यह विचारधारा संघर्ष को प्राकृतिक व आवश्यक मानते हुए भी परम्परावादी विचारधारा की भाँति ही संघर्ष के समाधान पर बल देती है।

मान्यताएं :

इस विचारधारा की निम्न मान्यताऐं हैं -

1. इस विचारधारा की मान्यता है कि संघर्ष की उत्पत्ति स्वाभाविक व तर्कसंगत है तथा संघर्ष प्रत्येक संगठन का अपरिहार्य अंग है।
2. संघर्ष सदैव हानिप्रद नहीं होते। संघर्ष समस्या को उजागर भी करते हैं तथा उनका हल ढूँढने की भी प्रेरणा देते हैं।

3. इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति अच्छे होते हैं, समुचित सहयोग भी देना चाहते हैं परन्तु दोषपूर्ण नीतियों, त्रुटिपूर्ण संगठन संरचना व सम्प्रेषण के दोषों के कारण लोगों में आक्रमकता उत्पन्न होती है और संघर्ष होते हैं।
4. इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष किन्हीं दशाओं में ही रचनात्मक हो सकता है, सदैव ही यह जरूरी नहीं अत: यह विचारधारा भी संघर्ष को नकारात्मक दृष्टि से ही देखती है। परम्परवादी और व्यवहारवादी विचारधारा दोनों ही विचारधाराओं में एक बड़ी कमी यह रही कि दोनों ही सकारात्मक संघर्ष की उपयोगिता को नहीं बता पाए। इसी कारण प्रबन्धशास्त्रियो के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और एक नई विचारधारा का विकास हुआ जिसे अर्न्तक्रियावादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है।

(iii) अर्न्तक्रियावादी विचारधारा (Interactionist Philosophy) :

संघर्ष की यह विचारधारा आधुनिक विचारधारा है यह विचारधारा संघर्ष की अन्य विचारधाराओं से पूर्णत: भिन्न है। इस विचारधारा की मुख्य विशेषताऐं निम्न हैं-

1. किसी भी संगठन में क्रियात्मक संघर्ष नितांत आवश्यक है।
2. संघर्ष का प्रबन्ध सभी स्तर के प्रबंधकों का प्रमुख दायित्व माना जाना चाहिए।
3. संघर्ष प्रबंध में संघर्ष का निराकरण व प्रोत्साहन दोनों पर ही ध्यान देना चाहिए।

मान्यताऐं :

इसकी मुख्य मान्यताऐं निम्न हैं -

1. क्रियात्मक संघर्ष को प्रेरित व प्रोत्साहित जाना चाहिए।
2. इस विचारधारा के अनुसार लोगों में आक्रमकता व प्रतियोगिता की भावना होती है लेकिन संगठनात्मक पारितोषिक पद, उत्तरदायित्व, सत्ता की सीमितता होती है अत: संघर्ष होना स्वाभाविक है।
3. इस विचारधारा के अनुसार प्रबंधक का कार्य किसी कार्य को घटाना या समाप्त करना नहीं बल्कि इसे इस तरह से प्रबंधित करना है जिससे इसके लाभकारी परिणामों को अधिकतम कर हानिप्रद परिणामों को न्यूनतम किया जा सके और प्रभावपूर्ण ढंग से लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके ।
4. इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष परिवर्तनों को जन्म देता है और परिवर्तन के कारण संगठन का रूपान्तर होता है जिससे उत्तरजीविका (Survival) की प्राप्ति होती है।
5. यह विचारधारा मानती है कि जब संगठन में संघर्ष के अभाव में रचनात्मकता और नवप्रवर्तनशीलता का मार्ग अवरूद्ध हो जाए एवं इसके कारण अनुकूलतम निष्पादन स्तर की प्राप्ति कठिन हो जाए तो संघर्ष को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

   अत: यह विचारधारा यह मानती है कि परिवर्तन स्वयं नहीं होते। परिवर्तन संघर्ष द्वारा प्रशस्त होते हैं। इस प्रकार इस विचारधारा के समर्थकों की मान्यता है कि यदि संघर्ष चरम सीमा तक पहुँच गया है तो उसके निराकरण के उपाय खोजने चाहिए और इसके विपरीत यदि संघर्ष निम्नस्तरीय ही है तो उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

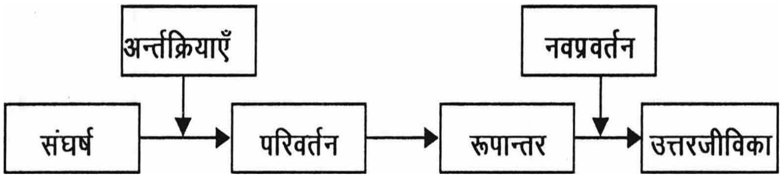

अत: निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि संघर्ष की प्रथम विचारधारा परम्परवादी विचारधारा में प्रबंधक कार्य प्रमापों, कार्य-तकनीकों तथा नियमों पर ही जोर देते थे श्रमिकों के हितों को गौण माना जाता था और उनके कार्यो पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता था। अत: यह विचारधारा पूर्णत: नकारात्मक संघर्ष को दर्शाती है और इस विचारधारा में संघर्ष को संगठन के लिए पूर्णत: हानिप्रद माना जाता था। दूसरी विचारधारा व्यवहारवादी विचारधारा संघर्ष को अपरिहार्य मानती है लेकिन साथ ही उसके निराकरण पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करती है। अर्थात् इस विचारधारा के अनुसार संघर्ष संगठन के लिए अनिवार्य तो है परन्तु संघर्ष एक अनिवार्य बुराई है अत: यह विचारधारा भी संघर्ष को किन्हीं दशाओं में सही रचनात्मक मानती है तथापि यह विचारधारा भी संघर्ष का नकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। संघर्ष की आधुनिक विचारधारा अन्योन्य क्रियावादी विचारधारा क्रियात्मक संघर्ष को अनिवार्य मानती है और इसे प्रोत्साहिक करने पर बल देती है।

इस विचारधारा के अनुसार, संघर्ष अन्तर्क्रियाओं को बढ़ाता है। इससे नए मत, नए विचार, नए परिवर्तन उत्पन्न होते है और इन परिवर्तनों के कारण संगठन में रूपान्तर (Adaptation) समायोजन (Adjustment) व नवप्रवर्तनो (Innovations) की शक्ति आती है और इससे संगठन की उत्तरजीविका (Survival) बढ़ती है और उत्तरजीविका प्रत्येक संगठन का मुध्य ध्येय होता है, और इस प्रकार संघर्ष को संगठन के जीवन का आवश्यक अंग माना जाना चाहिए। अत: हमें अन्योन्यवाही विचारधारा के अनुसार संघर्ष की आवश्यकता को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

15.4 संघर्ष के प्रकार (Types or forms of conflicts)

संघर्ष के प्रकारों को निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :-

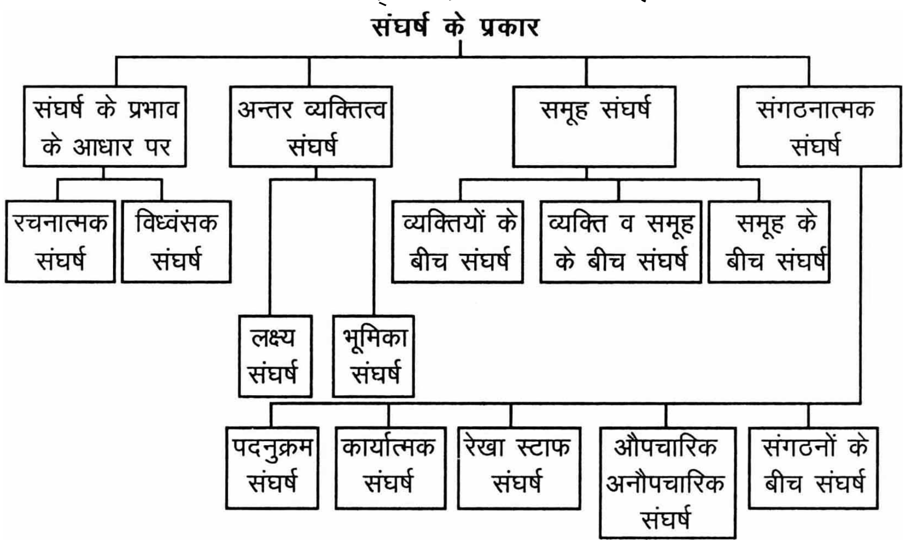

(I) संघर्ष के उत्पन्न प्रभाव के आधार पर -

1. रचनात्मक   2. विध्वंसक

1. रचनात्मक (Constructive) :-

यदि संघर्ष संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है अथवा संगठन इस प्रकार के वातावरण का निर्माण करता है जहाँ महत्वपूर्ण विषयों पर खुलकर वाद-विवाद होता है जिसके फलस्वरूप योजनाओं, नीतियों, नियमों व कार्य-पद्धतियों आदि में वांछित सुधार होता है तो इस प्रकार के संघर्ष को रचनात्मक संघर्ष करते हैं। वाद-विवाद उसी समय तक रचनात्मक संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं जबकि वाद-विवाद के फलस्वरूप ध्रुवीकरण (Polarization) की प्रवृति न पनपती हो और साथ ही साथ वाद-विवाद विद्वेष में परिवर्तित न हो। रचनात्मक संघर्ष स्वस्थ प्रतियोगिता को जन्म देते हैं और इस प्रकार की प्रतियोगिता संगठन के लिए लाभकारी सिद्ध होती है।

2. विध्वंसात्मक (Destructive) :-

विध्वंसात्मक संघर्ष में सदस्यों के मध्य निर्बाध प्रतियोगिता होती है। इस प्रकार की प्रतियोगिता से संगठन के सदस्यों के लिए सम्मिलित रूप से मिल-जूलकर कार्य करना कठिन हो जाता है। इस स्थिति में सदस्यों के क्रिया-कलाप के मध्य समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार का संघर्ष संगठन के हित के लिए हानिकारक होता है।

दोनों ही प्रकार के संघर्षो में प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है। यदि प्रतियोगिता नियंत्रित होती है तो उसके परिणाम भी अच्छे होते हैं जिसका लाभ संगठन एवं उसके सदस्यों सभी को मिलता है यदि प्रतियोगिता अनियंत्रित होती है तो एक सदस्य दूसरे के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने लगता है जिससे उपक्रम व उसके सदस्यों सभी का अहित होता है।

(II) अर्न्तव्यक्तिक संघर्ष (Interpersonal Conflicts) :-

यह एक व्यक्ति के भीतर चलने वाला उसके अर्न्तमन का संघर्ष है। मूल रूप से इसकी उत्पत्ति स्वयं के लिए लक्ष्य का चुनाव करने और प्रत्याशित भूमिका का निर्वाह करने को लेकर हो सकती है। इसके निम्न दो प्रकार है -

1. लक्ष्य संघर्ष (Goal Conflicts) :-

व्यक्ति के भीतर लक्ष्य संघर्ष तब उत्पन्न होता है जब उसके सामने दो या दो से अधिक लक्ष्यों में से किसी एक को चुनने की समस्या होती है। ये लक्ष्य परस्पर विरोधी प्रकृति के किंतु समान प्रभाव डालने वाले होते हैं। लक्ष्य संबंधी संघर्ष तीन प्रकार के होते हैं -

(अ) सादृश्य-सादृश्य संघर्ष (Approach - Approach Conflict) :-

जब किसी व्यक्ति को दो या दो से अधिक सकारात्मक लक्ष्यों में से किसी एक का चयन करना पड़ता है तब इस प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है। इसमें व्यक्ति के सम्मुख दो समान मनपंसद विकल्प रहते हैं। अत: व्यक्ति के मन में यह संघर्ष चलता है कि वह अपने किस लक्ष्य का चयन करें।

(ब) सादृश्य परिवर्जन (Approach Avoidance Conflicts) :-

इस संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति के सामने लक्ष्य तो एक ही होता है, लेकिन उसके साथ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू जुड़े होते हैं। जैसे एक व्यक्ति पदोन्नति का

विकल्प स्वीकार करना चाहता है, लेकिन वह इसके लिए दूसरे स्थान पर जाने का इच्छुक नहीं होता। यह स्थिति उसके भीतर संघर्ष उत्पन्न कर देती है।

(स) परिवर्जन-परिवर्जन संघर्ष (Avoidance - Avoidance Conflicts) :-

इस स्थिति में व्यक्ति को दो प्रतिकूल विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता है। जैसे - शोरगुल वाले संयंत्र में कार्य करने अथवा कंपनी के अत्यधिक दूर स्थिति संयंत्र में कार्य करने के विकल्प में से किसी एक का चयन करना।

सादृश्य परिवर्जन और परिवर्जन-परिवर्जन संघर्ष व्यक्ति और संगठन दोनों के लक्ष्यों में एकीकरण स्थापित करने की दृष्टि से हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं। अत: व्यक्तिगत व संगठनात्मक लक्ष्यों में एकीकरण स्थापित करने की दृष्टि से लक्ष्यगत संघर्षो को ध्यान में रखना चाहिए।

2. भूमिका संघर्ष (Role Conflicts) :-

जब व्यक्ति का व्यवहार उसकी भूमिकाओं से जुड़ी अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होता है तो व्यक्ति के भीतर भूमिका को लेकर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है इस संघर्ष के अनेक कारण होते हैं, जैसे : व्यक्ति को अपने कार्यो व उत्तरदायित्वों के बारे में स्पष्ट ज्ञान न होना, अपनी रूचि व पंसद के अनुरूप कार्य न मिलना, व्यक्ति को अपनी योग्यता व गुणों के अनुरूप कार्य न मिलना आदि।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि लक्ष्य एवं भूमिका रूपी संघर्ष के अतिरिक्त भी यदि कर्मचारी संस्था की नीतियों, विशेषत: सेविवर्गीय नीतियों से असंतुष्ट है तो व्यक्ति आंतरिक संघर्ष का शिकार हो जाता है।

(III) समूह संघर्ष (Group Conflict) :-

इसे समूह संघर्ष में एक ही समूह के सदस्यों के मध्य संघर्ष, व्यक्ति का उसके स्वामी या श्रेष्ठाधिकारी से संघर्ष, संगठन के विभिन्न विभागों व समूहों के मध्य संघर्ष की श्रेणी में आते हैं। समूह संघर्ष के निम्न प्रकार हैं -

(i) व्यक्तियों के बीच संघर्ष (Interpersonal Conflict) :-

इन्हें अन्तर्गसमूह संघर्ष कहा जाता है। ये संघर्ष दो या अधिक व्यक्तियों के मध्य होने वाली अन्त: क्रियाओं के कारण होते है। एक संगठन में विभिन्न व्यक्तियों के बीच लम्बवत् समतलीय विकर्णीय संबंध पाए जाते है और इसी रूप में उनके बीच अन्त: क्रियाएं चलती हैं।

इन संघर्षो को प्राय: तीन श्रेणियों में बाँटा गया है -

(A) लम्बवत् संघर्ष - ये संघर्ष उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थों के बीच चलते हैं।

(B) समतलीय संघर्ष - इस प्रकार के संघर्ष समान संगठनात्मक स्तर पर कार्यरत व्यक्तियों के बीच होते हैं।

(C) विकर्णीय संघर्ष - ये संघर्ष दो या भिन्न स्तरों पर कार्यरत व्यक्तियों के बीच होते है, लेकिन इनके बीच प्रत्यक्षत: उच्चाधिकारी-अधीनस्थ संबंध नहीं पाये जाते हैं। ऐसे संघर्ष व्यक्तियों की प्रकृति एवं संगठनात्मक स्थिति के कारण उत्पन्न होते है। इस संघर्ष के प्रमुख कारण निम्न है :-

(1) व्यक्तियों की प्रतिष्ठा व आत्मसम्मान को ठेस पहुँचना।
(2) मूल्यों, विश्वासों, उद्देश्यों की भिन्ना।
(3) व्यक्ति की स्वाभाविक भिन्नता।
(4) व्यक्तियों की जातिगत, धर्मगत सामुदायिक और क्षेत्रगत भिन्नता।
(5) व्यक्तियों के सोचने, समझने व व्यवहार में अंतर।
(6) भिन्न-भिन्न अहम स्थितियों से व्यवहार करना।
(7) सम्प्रेषण की विफलता और संगठनात्मक कार्यो व भूमिकाओं की अस्पष्टता।

(ii) व्यक्ति व समूह के बीच संघर्ष (Conflicts between an individual and a group) :-

किसी व्यक्ति और समूह के बीच संघर्ष तब उत्पन्न होता है जब वह व्यक्ति अपने समूह के मानदण्डों को पूरा करने में असमर्थ रहता है। जब कोई व्यक्ति समूहगत उत्पादकता के मानदण्डों से कम निष्पादन करता है तो -उस पर समूह का दबाव पड़ता है और ऐसी स्थिति में समूह व्यक्ति को दण्डित भी कर सकता है और इन्ही कारणों से व्यक्ति व समूह के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी समूह के लक्ष्यों, नियमों, आदर्शो की अवहेलना करने पर भी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

(iii) समूहों के बीच संघर्ष (Conflicts between groups within an organization):-

एक ही समूह में विभिन्न व्यक्तियों के मध्य होने वाले संघर्ष तथा विभिन्न समूहों के बीच होने वाले संघर्ष की श्रेणी में आते हैं। समूह संघर्ष के निम्नलिखित कारण होते हैं:-
(1) समूह व लक्ष्यों व साधनों में भिन्नता एवं अस्पष्टता।
(2) समूह के नियमों व आदर्शो की भिन्नता।
(3) व्यक्तिगत भिन्नताएँ जैसे-पसंद, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, पूर्वाग्रह इत्यादि।
(4) भूमिकाओं की अस्पष्टता व सीमित साधनों के लिए प्रतिस्पर्द्धा।
(5) समूहों के वातावरणों, सदस्यों की आदतों, पृष्ठभूमियों, जीवन-शैली व पद की भिन्नता।

उपरोक्त कारणों से समूह के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य तथा विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

(iv) संगठनात्मक संघर्ष (Organizational Conflicts) :-

व्यक्तियों व समूहों के बीच होने वाले संघर्ष, व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाले संघर्ष तथा समूहों में होने वाले संघर्ष को संगठनात्मक संघर्ष के नाम से जाना जाता है।

बरनार्ड एम. बास (Bernard M. Bass) के अनुसार :- “स्वामी अधिक उत्पादन चाहते हैं, जबकि अधीनस्थ का ध्यान प्रतिफल पर केन्द्रीत रहता है। ग्राहक शीघ्र सुपुर्दगी के लिए दबाव डालते रहते हैं, जबकि साथी कार्यकर्ता कार्यक्रमानुसार सुपुर्दगी के पक्ष में रहते हैं। प्रबन्धक सलाहकारी परिवर्तन पर बल देते हैं जबकि अधीनस्थ सामान्यत: सभी प्रकार के परिवर्तनों

का प्रतिरोध करते हैं। नियम पुस्तिका नियम के पालन पर बल देती है जबकि कर्मचारी यह परामर्श देते हैं कि ये नियम अब प्रभावशाली नही रहे हैं।"

किसी भी संगठन के कुशल संचालन के लिए औपचारिक नियमों व उपनियमों को कठोरता से लागू करना पड़ता है और नियंत्रण करने की आवश्यकता होती है। इन नियमों व उपनियमों का कठोरता से पालन करने के लिए कर्मचारियों पर दबाव डाला जाता है। जिसके कारण कर्मचारियों के आत्म-विश्वास, पहलपन, स्वायत्तता आदि के विकास में बाधा उत्पन्न होती है और इन्हीं कारणों से संगठनात्मक संघर्ष उत्पन्न होते हैं। संगठनात्मक संघर्ष निम्न प्रकार के हो सकते हैं:-

i. पदानुक्रम संघर्ष :- (Hierarchical Conflict) :-

संघर्ष को श्रेणीबद्ध संघर्ष के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार के संघर्ष लम्बवत् प्रकृति के होते हैं। इस प्रकार के संघर्ष संगठन के विभिन्न स्तरों के मध्य पाए जाते हैं जैसे - संचालक मण्डल एवं उच्च प्रबंधकों के मध्य, मध्यस्तरीय प्रबंधक और निम्न-स्तरीय प्रबंधक के बीच संघर्ष तथा प्रबंधकों व श्रमिकों के बीच संघर्ष भी संघर्ष की इसी श्रेणी में आते हैं।

ii. कार्यात्मक संघर्ष (Functional conflict) :-

संगठन के विभिन्न विभागों के मध्य होने वाले संघर्ष इसी श्रेणी में आते हैं। जैसे उत्पादन, क्रय, वित्त, विपणन, विभागों के मध्य होने वाले संघर्ष इत्यादि।

iii. रेखा-स्टॉफ संघर्ष (Line staff conflict) :-

रेखीय व स्टाफ कर्मचारियों के बीच पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, भूमिकाओं सत्ता संगठन की स्थिति आदि को लेकर संघर्ष उत्पन्न होता है। यह संघर्ष एक दूसरे की भूमिकाओं को ठीक तरह से न समझ पाने के कारण होता है।

किसी भी संगठन की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि रेखा व 'कर्मचारी' दोनों मिलकर एक टीम के रूप में कार्य करे। परन्तु वास्तव में ऐसा नही होता है । रेखा एवं कर्मचारी आपस में एक दूसरे को अपना विरोधी मानते हैं। इन्ही कारणों की वजह से इनमें संघर्ष की स्थिति पाई जाती है। किसी भी संगठन में इस संबंध में रेखा तथा कर्मचारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरे पक्ष पर दोषारोपण करते हैं।

iv. औपचारिक-अनौपधारिक संघर्ष (Formal - Informal Conflict) :-

किसी भी बड़े उपक्रम में औपचारिक व अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के समूह पाये जाते हैं। दोनों ही समूह द्वारा निर्धारित किए गए मानदण्ड मूल्य एवं मान्यताओं में अंतर होता है। इन समूहों के लक्ष्यों, कार्यशैलियों आदि में भी प्राय: मेल नही होता है और यही भिन्नताऐं दोनों समूहों के बीच संघर्ष का कारण बनती है।

v. संगठनों के बीच संघर्ष (Conflict between organization) :-

किन्हीं भी दो या अधिक संगठनों के बीच होने वाले संघर्ष के बीच इसी श्रेणी में आते हैं। विभिन्न संगठनों के बीच आर्थिक, तकनीकी, प्रबंधकीय मुद्दों को लेकर टकराव हो सकता है। इस प्रकार के संघर्ष को प्रतियोगिता भी कहते हैं। संगठनों के बीच प्रतियोगिता रूपी संघर्ष होने के कारण नई-नई तकनीकों, किस्म, डिजाइन आदि की खोज होती है।

प्रौद्योगिकी का विकास होता है, कीमतों में कमी आती है तथा मानवीय व अन्य संसाधनों का श्रेष्ठ उपयोग संभव होता है।

15.5 संघर्ष के कारण (Causes of Conflict)

संघर्ष को बढ़ावा देने वाले अनेक कारण जो निम्न हैं :-

1. **लक्ष्यों की भिन्नता (Different Goals) :-** व्यक्तियों, उनके समूहों, विभागों तथा संगठनों के लक्ष्यों में अंतर होता है। लक्ष्यों की भिन्नता भी संघर्ष का कारण बनती है। लक्ष्यों की भिन्नता के कारण उत्पन्न संघर्ष दुष्क्रियात्मक होता है जिसका प्रभाव कर्मचारियों व संगठनों के अतिरिक्त ग्राहकों व बाहरी पक्षों पर भी पडता है।
2. **सीमित साधनों के लिए प्रतियोगिता (Competition for scarce resources):-** पूँजी, श्रम,. भूमि,. उत्पादन के ये सभी साधन सीमित हैं। श्रम की तकनीक एवं विशिष्ट ज्ञान की आपूर्ति भी दुर्लभ है। संगठन में कार्यरत सभी व्यक्ति एवं विभाग इन साधनों की मांग करते हैं और प्रबंध पर दबाव डालते हैं। ये दबाव धीरे-धीरे संघर्ष का रूप धारण कर लेते हैं।
3. **व्यक्तिगत गुणों की भिन्नता (Divergence of Individual habits) :-** संगठन में कार्यरत व्यक्तियों व प्रबंधकों के मूल्य विश्वास, मान्यताओं में अंतर होता है। संगठन में व्यक्तियों की सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में भी भिन्नता होती है। प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितियों की वास्तविकता को अपनी दृष्टि से देखता है दूसरे की दृष्टि की अपेक्षा करता है। जिससे संघर्ष की संभावना बढ़ जाती है।
4. **क्षेत्राधिकार संबंधी अस्पष्टता (Jurisdictional Ambiguity) :-** जिस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के मध्य क्षेत्राधिकार संबंधी विवादों के कारण संघर्ष होता है। उसी प्रकार संगठन में जब विभिन्न विभागों का क्षेत्र स्पष्ट नहीं होता है तो क्षेत्राधिकार संबंधी समस्या उत्पन्न होती है। ये समस्या भी संगठन में धीरे-धीरे संघर्ष का कारण बनती है। उदाहरणार्थ उत्पादन विभाग जिन परिस्थितियों को संकट कालीन समझता है वही परिस्थितियां क्रय विभाग के लिए सामान्य हो सकती है। और इसी कारण अर्न्तविभागीय संघर्ष की शुरुआत हो जाती है।
5. **संगठन संरचना की अस्पष्टता (Ambiguous of organisation structure):-** संगठन का उद्देश्य संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के मध्य कार्यो का उचित बंटवारा करना है। लेकिन यदि संगठन में कार्यो का उचित बंटवारा न हो, क्षेत्राधिकार का स्पष्ट निर्धारण न हो, अधिकार, दायित्व एवं नियंत्रण का क्षेत्र स्पष्ट निर्धारित न हो या कार्य का आवश्यकतानुसार केन्द्रीयकरण या विकेन्द्रीयकरण न हो तो विभागीय संरचना दूषित हो जाती है तथा संगठन का कार्य सुचारू रूप से नहीं चलता और इसी कारण संगठन में संघर्ष की उत्पत्ति होती है।
6. **कार्य के लक्षणों में अंतर (Difference in work characteristics) :-** विभिन्न कार्यो की विशिष्टताओं के कारण कार्य की प्रकृति एवं लक्षण भिन्न-भिन्न होते है। एक प्रकार की विशिष्टता किसी कार्य के लिए, उपयुक्त होती है तो अन्य कार्य के लिए अनुपयुक्त हो सकती है। कार्यो की प्रकृति में भिन्नता के कारण उनकी कार्य दशाओं एवं कार्यप्रणाली में भी अंतर होता है। जिस प्रकार उत्पादन विभाग उत्पादन विविधता को पसंद नहीं करता जबकि दूसरी

ओर विपणन विभाग की दृष्टि से उत्पादों की विविधता आवश्यक मानी जाती है यही यह भिन्नता भी अनेक बार संघर्ष उत्पन्न करती है।

7. **पद-प्रतिष्ठा संबंधी समस्या (Status Problem) :-** पद प्रतिष्ठा से तात्पर्य उस सम्मान व प्रतिष्ठा से होता है जो किसी संगठन में व्यक्ति को अपने पद से प्राप्त होती है। परन्तु जब किसी व्यक्ति को अपने पद से पूर्ण संतुष्टि प्राप्त नहीं होती है या पूर्ण सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है तो व्यक्ति निराश हो जाता है और धीरे-धीरे वह विद्वेषी बन जाता है। संगठन में यदि व्यक्ति को पद वृद्धि प्राप्त नहीं होती है या एक ही स्तर पर कार्यरत व्यक्तियों की पद प्रतिष्ठा में विसंगति पाई जाती है तो यह स्थिति संघर्ष का कारण बनती है। इसके अतिरिक्त पद स्थिति के साथ ही उनके अधिकार, दायित्व, सम्मान, सुविधाऐं आदि जुड़े होते है। इनकी भिन्नता भी संघर्ष का कारण बनती है।

8. **क्रियाओं की अर्न्तनिर्भरता (Task Interdependence):-** आधुनिक संगठनों की प्रकृति एवं कार्यप्रणाली अत्यन्त जटिल होती है। इन संगठनों में बहुत बड़ी संख्या में कर्मचारी कार्यरत रहते है जिससे विभागों व कर्मचारियों को अपने कार्य सम्पादन के लिए अन्य व्यक्तियों या विभागों पर आपूर्ति, सूचनाओं एवं सहायता के लिए आश्रित रहना पड़ता है। यह परस्पराश्रितता की स्थिति ही विभागों व व्यक्तियों के बीच संघर्ष को प्रेरित करती है क्योंकि जब कोई एक विभाग या व्यक्ति कार्य निष्पादन में विलंब करता है अथवा उसके उत्पाद की किस्म दोषपूर्ण है तो उस पर आश्रित सभी विभागों व व्यक्तियों पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यही स्थिति संघर्ष का कारण बनती है। जैसा कि थामसन ने लिखा है :- 'संगठन में तीन अर्न्तनिर्भरताओं का उल्लेख किया है सामूहिक (Pooled) अर्न्तनिर्भरता, क्रमिक (Sequential अर्न्तनिर्भरता एवं पारस्परिक (Reciprocal) अर्न्तनिर्भरता। इनके कारण संघर्ष की संभावनाऐं बनी हैं।

9. **अन्य कारण :-** मानवीय स्वभाव कार्य निष्पादन की स्वभाविक प्रक्रिया, व्यक्तिगत गुणों व नेतृत्व शैली की भिन्नता तथा दोषपूर्ण सम्प्रेषण आदि कुछ ऐसे कारण है जिनके कारण भी संगठन में संघर्ष उत्पन्न होता है।

15.6 संघर्ष समाधान की तकनीकें (Techniques of Conflicts Resolution)

संघर्ष समाधान की निम्न तकनीकें हैं -

(1) **समस्या का मुकाबला (Confrontation with Problem) :-** इस तकनीक में एक-दूसरे के दृष्टिकोण में समायोजन लाने के स्थान पर सीधे समस्या पर चोट की जाती है। अर्थात् इस तकनीक में समस्या का मुकाबला कर हल निकाला जाता है। इसमें इस बात पर विचार नहीं किया जाता है कि कौनसा पक्षकार गलत है और कौनसा सही है या कौन जीतता और कौन हारता है अपितु समस्या का स्थायी हल ढूँढने का प्रयास किया जाता है।

(2) **परमकोटिक लक्ष्यों का निर्धारण (Setting Superordinate Goals) -** परम कोटि लक्ष्य ऐसे लक्ष्य होते है जो किसी भी संगठन के लिए अति महत्वपूर्ण लक्ष्य होते है जिन्हें विभिन्न पक्षों के समर्थन व सहयोग के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। जैसे- संगठन के अस्तित्व का प्रश्न परम कोटिक लक्ष्य है। अत: जब संगठन के अस्तित्व का प्रश्न होता है तो सभी

हड़ताले, काम रोको, तालाबंदी जैसी घटनाऐं वापस ले ली जाती है तथा श्रम संघों द्वारा स्वेच्छापूर्वक मजदूरी कम करने, कार्य के घंटे बढ़ाने, अधिक उत्पादन करने व कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए स्वत: ही तैयार हो जाते हैं। अत: कर्मचारियों को उनके परमकोटिक लक्ष्यों का बोध करवाकर भी संघर्ष का समाधान किया जा सकता है।

(3) **मानसिक परिवर्तन (Mental Change) :-** कई बार प्रबंधक संघर्ष के पक्षकारों के विचारो, मान्यताओं विश्वास व मूल्यों में परिवर्तन करके भी संघर्ष को हल कर सकते हैं।

(4) **साधनों का विस्तार (Expansion of resources) :-** संगठन में पूंजी, श्रम, तकनीक, प्रबंध कौशल, यंत्र आदि सभी साधन सीमित होते हैं। संगठन के सभी व्यक्ति व विभाग इसकी मांग करते है तथा प्रबन्ध पर दबाव डालते हैं जो धीरे-धीरे संघर्ष का कारण बनता है। अत: ऐसी दशा में साधनों व सुविधाओं का विस्तार करके संघर्ष समाप्त किया जा सकता है।

(5) **संगठन संरचना में परिवर्तन (change in organization structure) :-** कभी-कभी संगठनात्मक संरचना में दोष के कारण भी संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अत: संगठन संरचना में सुधार करके जैसे - उत्तरदायित्वों का निर्धारण करके, कार्यो का विकेन्द्रीकरण करके, क्षेत्राधिकार का निर्धारण तथा कार्यो व भूमिकाओं की व्याख्या करके संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है।

(6) **सत्तावादी निर्देशन (Authoritative order) :-** एक उच्चाधिकारी अपने कर्मचारियों को आदेश-निर्देश प्रदान करके संघर्ष को हल कर सकते हैं। परन्तु इस विधि द्वारा कुछ समय के लिए ही संघर्ष का समाधान होता है।

(7) **शांत करना (Smoothing) :-** इस विधि में दोनों पक्षकारों के समक्ष सामान्य हित की बातों को उभारा जाता है और मतभेद के बिन्दुओं को दबाने का प्रयास किया जाता है इस प्रकार कोई न कोई समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

(8) **अन्य विधियाँ (Other Methods) :-** संघर्ष समाधान की कुछ अन्य विधियाँ निम्न है -

1. परिवर्जन **(Avoidance)** के द्वारा गंभीर एवं खतरनाक संघर्षो को टाला जा सकता है।
2. सूचना व सम्प्रेषण प्रणाली में सुधार द्वारा
3. उपयुक्त शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था द्वारा।
4. रचनात्मक एवं नए विचारों के प्रोत्साहन द्वारा।
5. विशेषज्ञों से परामर्श एवं सेवाएँ लेकर।
6. कार्य-नितियों व नियमों का निर्धारण करके।

निष्कर्षानुसार यही कहा जा सकता है कि संघर्ष किसी भी संगठन का महत्वपूर्ण अंग या हिस्सा है। संगठन में संघर्ष होना स्वाभाविक है। परन्तु यदि संगठन में संघर्ष को टालने या दबाने की बजाय उसको चुनौती के रूप में स्वीकार करके उसका रचनात्मक उपयोग किया जाए तो संघर्ष के अच्छे परिणम देखने को मिलते है। रचनात्मक संघर्ष से' न केवल संगठन के व्यक्तियों व विभागों को लाभ पहुँचता है बल्कि स्वस्थ प्रतियोगिता के द्वारा बाहय पक्षकारों व ग्राहकों को भी इसका लाभ प्राप्त होता है। किसी भी संगठन में संघर्ष के अनेक कारण हो सकते है परन्तु समस्या का मुकाबला करके, मानसिक परिवर्तन द्वारा, संगठन संरचना में परिवर्तन

द्वारा, परमकोटिक लक्ष्यों के निर्धारण द्वारा तथा कार्यो का उचित केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण करके काफी हद तक संघर्ष को रोका तथा समाप्त भी किया जा सकता है।

15.7 संघर्ष की प्रक्रिया एवं स्तर (Process and levels of conflicts)

संगठन में संघर्ष कई रूपों में विद्यमान होता है। कभी संघर्ष सूक्ष्म रूप में तो कभी गंभीर रूप में देखने को मिलता है। संघर्ष के उत्पन्न होने से लेकर उसकी समाप्ति तक की विभिन्न अवस्थाऐं संघर्ष की प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। संघर्ष एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें निम्न चरणों को सम्मिलित किया जाता है।

1. **अत्यन्त संघर्ष (Latent conflicts) :-** यह संघर्ष की प्रक्रिया प्रथम चरण होता है। इस अवस्था में सम्बद्ध व्यक्तियों, समूहों व विभागों के बीच भ्रामक तथा विपरीत धारणाऐं उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में दोनों पक्ष एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं और पहले यदि कोई संघर्ष हुआ हो तो उसके परिणाम भी प्रभाव डालते हैं। अतः प्रबंधक या दोनों पक्षों को संचार माध्यम से या प्रत्यक्ष भेंट द्वारा पारस्परिक गलतफहमियों को दूर करने का प्रयास करें तो संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है।
2. **संघर्ष की अनुभूति (Perceiving conflicts) :-** इस चरण में संघर्ष व्यक्ति के मस्तिष्क तक सीमित रहता है। वह संघर्ष के कारण, प्रभावों तथा परिणामों पर विचार करने लगता है। वह संघर्ष के उपाय या समाधान के लिए विचार करने लगता है। अत: इस चरण में भी संघर्ष को समझौते के द्वारा समाप्त किया जा सकता है।
3. **व्यवहार में अनुभव करना (Feelings Conflicts in Behaviour) :-** इस चरण में संघर्ष मस्तिष्क से बढ़कर व्यवहार तथा आचरण में महसूस या अनुभव होने लगता है। इसमें पक्षकार यह अनुभव करने लगता है कि उसके हितों पद-प्रतिष्ठा, कार्य-सुविधाओं, वातावरण आदि को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया जा रहा है। इस चरण में पक्षकारों का व्यवहार आक्रमक हो जाता है। तथा संघर्ष में भी तीव्रता आती है। इस अवस्था में भी सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर संघर्ष के नकारात्मक प्रभावों को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है अर्थात् सकारात्मक दृष्टिकोण द्वारा संघर्ष को रोका जा सकता है।
4. **संघर्ष व्यक्त हो जाना (Manifesting Conflicts) :-** यह चरण संघर्ष की चरम सीमा है। इस चरण में संघर्ष प्रकट हो जाता है अर्थात् भावनाओं व व्यवहार से संघर्ष प्रकट होने लगता है। पक्षकार स्वयं के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दूसरे पक्षकारों को हानि-पहुँचाने का भी प्रयास करते हैं। संघर्ष भावनाओं व व्यवहारों के अतिरिक्त लिखित, मौखिक व बल प्रयोग द्वारा भी प्रकट होने लगता है। हड़ताल, तोड़-फोड़, हिंसा, घेराव, वेतन कटौती, दुर्भावनापूर्ण छँटनी, निष्कासन आदि संघर्ष की अभिव्यक्तियाँ है। इस अवस्था में भी तीसरे पक्षकार की सहायता अथवा सामूहिक सौदेबाजी के माध्यम से संघर्ष समाधान का प्रयास किया जा सकता है।
5. **संघर्ष परिणाम (Conflict Afternath) :-** यह संघर्ष प्रक्रिया का अंतिम चरण माना जाता है। इस चरण में यदि संघर्ष के निपटारे के स्थान पर उसे दबा दिया जाता है तो यह आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। इसके विपरीत यदि संघर्ष को आपसी समझौते द्वारा सुलझा लिया जाता है तो संघर्ष की स्थिति आपसी सहयोग एवं सामंजस्य में बदल जाती है।

तथा दोनों पक्षकार निर्भय होकर शांति अनुभव करने लगते हैं। संघर्ष की प्रक्रिया को निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है:-

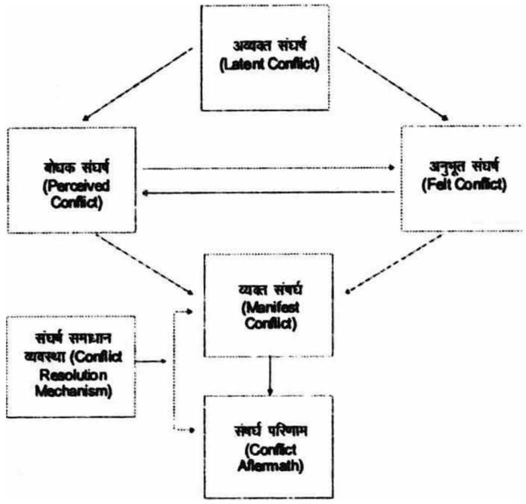

15.8 सारांश (Summary)

निष्कर्षानुसार या सारांश के रूप में यही कहा जा सकता है कि संघर्ष किसी भी संगठन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। संघर्ष के संबंध में जहाँ परम्परागत धारणा यह थी कि यह संगठन के लिए सिर्फ घातक ही हो सकता है वही आधुनिक धारणा यह है कि संघर्षो का यदि रचनात्मक उपयोग किया जाए तो यह सिर्फ संगठन के लिए ही नहीं बल्कि बाहय पक्षकारों व ग्राहकों के लिए भी लाभकारी होता है क्योंकि स्वस्थ्य प्रतियोगिता के द्वारा ही बाजार में नए-नए डिजाइन नए-नए उत्पाद आते हैं जिससे उत्पादकों को तो लाभ होता ही है साथ-साथ ही ग्राहकों को भी अपनी रूचि व पंसद के अनुसार वस्तुऐं मिलने से ग्राहक सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

संघर्ष व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में, समूह-समूह में तथा संगठनों में भी हो सकता है। संघर्षो के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे- सीमित साधनों के लिए प्रतियोगिता कार्य का सही केन्द्रीयकरण व विकेन्द्रीयकरण न होने पर क्षेत्राधिकार का निर्धारण न होना तथा सबसे प्रमुख कारण व्यक्तिगत गुणों की विविधता तथा दृष्टिकोण में अंतर होना भी संघर्ष का प्रमुख कारण बनता है। इस प्रकार संगठन में संघर्ष के अनेक कारण हैं। परन्तु संघर्षो की समाप्ति करना किसी भी संगठन का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए संगठन के प्रबंधकों को संघर्ष के कारणों व इसकी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए संघर्ष समाधान की तकनीकों को अपनाना चाहिए। ताकि संघर्ष की समाप्ति हो सके और संघर्ष की स्थिति का आपसी सहयोग एवं सामन्जस्य में बदल सके और सभी का विकास हो और सभी लाभ प्राप्त हो सके।

15.9 प्रश्न (Questions)

प्र.1. संघर्ष को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रकारों का सविस्तार वर्णन कीजिए?

प्र.2. संघर्ष का अर्थ समझाइए तथा संघर्ष के कारणों एवं समाधान की तकनीकों का वर्णन कीजिए?

प्र.3. संघर्ष की विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन कीजिए तथा इसकी प्रक्रिया को समझाइए?

प्र.4. निम्न पर टिप्पणी लिखिए :

(1) संगठनात्मक संघर्ष

(2) समूह संघर्ष

(3) संघर्ष प्रक्रिया

15.10 उपयोगी पुस्तकें

1. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour
2. Fred Luthans - Organisational Behaviour

इकाई-16: नेतृत्व (Leadership)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 अर्थ एवं परिभाषा

16.3 महत्व

16.4 गुण-दोष

16.5 समस्याएँ

16.6 नेतृत्व के प्रकार

16.7 नेतृत्व के सिद्धान्त

16.8 आलोचनाएँ

16.9 सारांश

16.10 प्रश्न

16.11 उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप

- नेतृत्व का अर्थ एवं परिभाषा को समझ सकेंगे।
- नेतृत्व का महत्व, नेता के गुण-दोष का वर्णन कर सकेंगे।
- नेतृत्व की विभिन्न समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नेतृत्व के प्रकारों को उनके गुण-दोष के आधार पर वर्णन कर पायेंगे।
- नेतृत्व के विभिन्न सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

पीटर एफ ड्रकर के मतानुसार, नेतृत्व एक ऐसी मानवीय विचारधारा है जो मानव के दृष्टिकोण को व्यापक बना देती है, कर्मचारी के कार्य निष्पादन को समुन्नत कर देती है तथा मनुष्य के सामान्य सीमाओं से भी आगे विकसित कर देती है। प्रबन्धक में नेतृत्व एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रबन्धकीय सफलता का रहस्य वस्तुत: कुशल नेतृत्व मे ही निहित होता है। कुशल नेतृत्व के अभाव मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक मानव शक्ति का पूर्ण उपयोग नही किया जा सकता। वस्तुत अन्य साधनों का सीमित उपयोग ही सम्भव हो पाता है। जिस प्रकार औद्योगिक एवं व्यवसायिक प्रतिष्ठान को असफलता का मुख्य कारण अकुशल नेतृत्व ही होता है।

16.2 अर्थ एवं परिभाषा

अर्थ :

नेतृत्व का अभिप्राय किसी व्यक्ति के उस गुण से है। जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है तथा नेता के रूप में उसकी क्रियाओं का संचालन करता है।

परिभाषाएँ

नेतृत्व की किसी व्यक्ति विशेष के उस गुण अथवा योग्यता के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करते हुए उन्हें इस योग्य बनता है कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी पूरी क्षमता से काम करने लगते है। एक सफल नेता अपने अधीनस्थ को कार्य निष्पादन मे आवश्यक प्रोत्साहन देता है, न कि उन्हे हांकता है। नेतृत्व सम्बन्धी गुण के बारे में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। कुछ प्रबन्ध विशेषज्ञों के अनुसार नेता जन्म लेते है बनाये नही जाते इस मत के अनुसार नेतृत्व सम्बन्धी गुण जन्मत जात होते है उन्हे प्राप्त नही किया जाता है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत यह है कि नेतृत्व क गुण प्राप्त किये जा सकते अर्थात नेता बनाये जाते सकते है इन दोनों मतों को एकत्रित करते हुए **ओर्डवेटीड** ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये है- नेता जन्मते भी है और बनाये भी जाते है। जिन व्यक्तियों मे नेतृत्व के गुण होते है वे अवसर मिलते ही इसका लाभ उठाते है और स्वत: ही प्रकाश मे आ जाते है।

1 **जार्ज आर डी के अनुसार :-** "नेतृत्व व्यक्तियों को पारस्परिक उद्देश्यों की प्राप्ति -हेतु स्वैच्छिक प्रयत्न करने के लिए प्रभावित करने की योग्यता है।"

2 **फेन्कलिन जी. भूरे के शब्दों में :-** "नेतृत्व अनुयायियो को नेता की इच्छानुसार कार्य करने के लिए तैयार करने की योग्यता है"

3 **आर्डवे टीड के अनुसार :-** "नेतृत्व गुणो का वह सयोंग है जिसके ग्रहण करने से एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से कुछ कराने के योग्य होता है क्योंकि विशेषकर उसके प्रभाव द्वारा वे ऐसा करने के लिए स्वेच्छा से तैयार हो जाते है।"

4 **हेमैन के अनुसार :-** "नेतृत्व को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा एक अधिकारी दूसरी व्यक्तियों के कार्य का व्यक्ति व संगठन क्षेत्रों के मध्य इस प्रकार की मध्यस्थता करके विवेकपूर्ण ढंग से निर्देशित, पंथ-प्रदर्शित तथा प्रभावित करता है कि विशेष उद्देश्यों को चुनने और प्राप्त करने में दोनों की अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो।"

16.3 महत्व

योग्य एवं अनुभवी नेताओं ने ही विश्व को मार्गदर्शन प्रदान करके इसे सुन्दर बनाया है। व्यवसासिक संगठनों में भी नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण, होती है।

एल्फ्रेड स्लोन का कथन है कि "कोई भी संगठन उन व्यक्तियों से अधिक शक्तिशाली नही होता है जो उसका निर्देशन एवं नेतृत्व करते है। **पीटर ड्रकर** ने ठीक ही कहा है कि "यदि कोई उपक्रम श्रेष्ठ निष्पादन करने में असफल रहता है तो हम दूसरे कर्मचारियों की भर्ती नही करने, वरन् उसके अध्यक्ष या नेता को बदल लेते है।"

1. प्रभाव शक्ति :- नेतृत्व एक प्रभाव शक्ति है जो अनुयायियों की अभिवृत्तियों को सहयोगी एवं लक्ष्य-केन्द्रित बनाकर संगठनात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करती है।

2. **प्रेरक शक्ति :-** नेतृत्व "संचालन ऊर्जा' है जो समस्त समूह व अनुयायियों को लक्ष्य की ओर गतिशील कर देती है। यह व्यक्तियों के प्रयासों को द्विगुणित कर देती है।
3. **प्रबन्धकीय प्रभावशीलता में वृद्धि :-** प्रभावपूर्ण प्रबन्ध के लिए नेतृत्व एक आधारशिला है। **रार्बट अलबानी** ने लिखा है 'संगठनो के प्रभावकारी प्रबन्ध के लिए नेतृत्व एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। 'नेतृत्व के अभाव में प्रबन्ध को शक्ति शिथिल हो जाती है तथा लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा पडती है।
4. **समन्वय में सहायक :-** नेतृत्व एक समन्वकारी शक्ति भी है। इसके द्वारा वैयिक्तक एवं संगठनात्मक हितों व आवश्यकताओं में विरोध समाप्त करके सामंजस्य उत्पन्न किया जा सकता है।
5. **समूह निष्ठा का विकास :-** कुशल नेतृत्व एक समन्वयकारी शक्ति भी है। इसके द्वारा वैयक्तिक एवं संगठनात्मक हितों व आवश्यकताओं मे विशेष समाप्त करके सामंजस्य उत्पन्न किया जा सकता है।
6. **समय का सदुपयोग :-** एक अच्छा नेता अपने अनुयायियों की कार्य- योजनाओं को इस प्रकार से निर्धारित करता है कि जिससे सभी के समय का श्रेष्ठ उपयोग हो सकें।
7. **सहयोग की प्राप्ति :-** नेतृत्व सहयोग प्राप्त करने का आधार है। सहभागी व्यवस्था, मानवोचित व्यवहार, पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा नेता अपने अधीनस्थों से सहयोग प्राप्त करने मे सफल रहता है।
8. **संभावनाओ का साकार करना :-** कुशल नेतृत्व अपने अनुयायियों की अपेक्षाओं व सपनों को मूर्त रूप देता है। वह उनके सम्भावित लक्ष्यों को कार्य रूप मे परिणित करने का प्रयास करता है। कीथ डेविस लिखते है कि 'नेतृत्व ही सम्भावनाओं को यथार्थ बनाता हैं।

16.4 गुण-दोष

गुण - विभिन्न विशेषज्ञों के अनुसार अलग-अलग मतो के स्पष्ट किया गया है इसलिए नेतृत्व के लिए किसी व्यक्ति में निम्न गुण होने चाहिए-

1 **सन्देशवाहन की योग्यता :-** नेता का मुख्य कार्य कर्मचारियों व अन्य व्यक्तियों का विभिन्न -सूचनाओं आदेशो विचारों का सम्प्रेषण करना होता हैं। यह कार्य सन्देश ग्रहण करने वाले व्यक्ति की योग्यता को ध्यान मे रखते हु ए सरल भाषा में किया जाना चाहिए, ताकि जिस भाव से बात कही जावे उसे उसी भाव से ग्रहण किया जा सके। जिसे व्यक्ति में जितनी अधिक सम्प्रेषण योग्यता होगी उसकी बातों का अनुयायियों पर उतना ही एवं शीघ्र प्रभाव पडेगा।

2 **बौद्धिक क्षमता :-** यह नेतृत्व के लिए आवश्यक गुण हैं। बौद्धिक क्षमता के बिना कोई भी नेता सफल नही हो सकता है।

3 **साहस से परिपूर्ण :-** नेता को साहसिक होना चाहिए। यहाँ पर साहस का अभिप्राय यह है कि नेता जो कुछ सोचता है उसे दृढता के साथ लागू करना चाहिए। नेता ने एक बार जो निर्णय लिया है उसमें उस निर्णय पर डटे रहने की क्षमता होनी चाहिए। एक साहसी

नेता कभी भी सत्यता के पथ से विचलित नही होता और न ही अपने विरोधी लोगों की दुर्भावनाओं का शिकार होता है।

4 **अभिप्रेरण की योग्यता :-** नेतृत्व का अभिप्राय अनुयायियों को अपना अनुसरण करने के लिए प्रेरित करना। इससे स्पष्ट होता है कि नेतृत्व के अर्थ को सार्थक बनाने के लिए एक नेता में अभिप्रेरण योग्यता का पाया जाना जरूरी है। नेता को अभिप्रेरणा की विभिन्न विधियों की जानकारी होनी चाहिए ताकि कर्मचारियों को उनके स्वभाव के अनुसार प्रेरित किया जा सके।

5 **उत्तदायित्व की भावना :-** एक नेता मे उत्तरदायित्व को समझने की भावना होनी चाहिए। **बर्नार्ड** के अनुसार "उत्तरदायित्व से अभिप्राय उस भावनात्मक परिस्थिति से है जो एक व्यक्ति को जबकि वह अपने किसी नैतिक कर्त्तव्य को निभाने मे खरा नही उतरता, तीव्र असन्तोष देती है, अत: प्रत्येक व्यक्ति इसप्रकार की असन्तुष्टि से अवश्य बचना चाहता है। इससे बचने का एक ही रास्ता है कि जिस उद्देश्य के लिए संस्था ने उसकी नियुक्ति की है उनको पूरा करने में कोई कसर नही छोडे।"

6 **सजगता :-** शीघ्रता से लिए गए निर्णयों का क्रियाओं पर विपरीत प्रभाव पड सकता है। अत: जब निर्णय को लागू किया जा रहा हो तो उसके परिणामो के प्रति जागरूक रहना चाहिए। शीघ्र निर्णय लेना जितना आवश्यक है उतना ही घातक भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जो नेता भावी परिस्थितियों के प्रति सजग रहेगा, उसकी लगातार सम्पर्क बनाए रखेगा, वही सफल होगा। उसे इस बात के बारे में भी सतर्क रहना चाहिए कि कही कर्मचारी उसके विरोध में कोई षडयन्त्र नही रच रहे हैं।

7 **अनुभुति :-** यह एक नेता का महत्वपूर्ण गुण है। इस गुण से अभाव में अन्य सब गुण प्रभावहीन हो जाते है। **बर्नार्ड** का कहना है कि "अनुभूति के अन्तर्गत अन्य लोगो के दृष्टिकोण, हितों तथा परिस्थितियों को समझना होता है।"

8 **तकनीकी गुण :-** तकनीकी गुणों का अभिप्राय नेता की उस योग्यता से है जिसके द्वारा वह अपने ज्ञान विधियों एवं तकनीकी का समुचित रूप से अपने कार्य-निष्पादन में प्रयोग करने में समर्थ हो पाता है। यह योग्यता, अनुभव, शिक्षा एवं प्रशिक्षण से प्राप्त की जा सकती है।

9 **दूसरों की भावनाओं को समझना :-** एक नेता में अपने अनुयायियों की भावनाओं व हितो को समझने तथा अनुभव करने की योग्यता होनी चाहिए। वह जब तक नही देखता है कि अनुयायी क्या चाहते है अर्थात उनकी क्या अपेक्षाएँ है उस समय तक वह सफल नेता नही बन सकता है।

यदि कर्मचारी अपना कोई उपयोगी सुझाव अपने नेता को देता है लेकिन नेता बात को अनसुना कर देता है। ऐसे में कर्मचारियों की भावनाओं को ठेस पहुँचती है और इसका सीधा प्रभाव कार्य की प्रगति पर पडता है।

10 **मानवीय गुण :-** नेता का सीधा सम्बन्ध उत्पादन के सक्रिय साधन मानव शक्ति के साथ होता है। जिसकी सहायता से पूँजी, मशीनो, भूमि, आदि निष्क्रिय साधनों का उपयोग किया जाता है। नेता स्वयं एक व्यक्ति है और वह व्यक्ति से ही क्रियाओं का निष्पादन

करवाता है अत: उसके साथ कोई विपरीत व्यवहार न करके व्यक्तियों जैसा व्यवहार करना चाहिए। यदि प्रबन्धक की सोच कुछ इस प्रकार है कि व्यक्तियों को नौकरी देकर खरीद लिया है और वह स्वयं कार्य करेंगे, चाहे उनसे कैसा ही व्यवहार क्यों न किया जाय यह तथ्य पूर्णत: गलत है कर्मचारियों से कार्य लेने के लिए आर्थिक, सुविधाओं के साथ-साथ अनार्थिक सुविधाएँ भी उपलब्ध करवानी होती है अत: सफल नेतृत्व के लिए मानवीय गुण अति आवश्यक है।

दोष :- नेतृत्व के गुणों के साथ-साथ निम्नलिखित दोष भी बताये गये है।

1 **एकरूपता का अभाव :-** आलोचकों का मत है कि अनेक विद्वानों ने नेतृत्व के गुणों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिसमें गुणों की एकरूपता का अभाव हैं। कुछ विचारक कुछ विशेष गुणों को महत्वपूर्ण मानते हैं तो कुछ अन्य उनके विपरीत गुण प्रस्तुत करते है इस प्रकार समानता के अभाव में पूर्ण विश्वास के साथ यह नही कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति मे नेतृत्व योग्यता के लिए किन-किन गुणों का होना आवश्यक है।

2 **परिस्थितियों की अवहेलना :-** प्रबन्ध विशेषज्ञों का सहमत है कि कुछ एकता व्यवहारिक रूप में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे नेता को भिन्न-भिन्न गुण की आवश्यकता पडती है। नेतृत्व के गुण मूलक सिद्धान्त में परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति में कुछ सूचीबद्ध गुण है तो वह अवश्य ही सफल नेता होगा।

3 **गुणों की मात्रा के स्पष्टीकरण का अभाव :-** इस सिद्धान्त मे नेतृत्व योग्यता के गुणा की सूची तो दी गई लेकिन यह स्पष्ट नही किया गया कि ये गुण किसी व्यक्ति में कितनी-कितनी मात्रा मे होने चाहिए तथा कौन-कौन से गुण अधिक महत्व के है एवं कम से कम महत्व के है।

4 **गुणों को मापने की समस्या :-** प्रबन्ध विशेषज्ञों का यह तर्क है कि यह जानना कठिन है कि किसी व्यक्ति में एक विशेष गुण उचित मात्रा में है अन्यथा नही। व्यक्ति गुण को मापने की कुछ विधियाँ है। लेकिन इनके आधार पर कोई तटस्थ निर्णय नही लिया जा सकता है। नेतृत्व के गुण मूलक सिद्धान्तों की विशेषताओं का विवेचन करने पर हम यह निष्कर्ष दे सकते है कि इस सिद्धान्त का महत्व उस समय पर जबकि नेतृत्व योग्यता का सृजन करने के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध नही था अत: इसे जन्मजात गुण के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था।

16.5 समस्याएँ

नेतृत्व की समस्याएँ निम्न प्रकार है।

(1) **योग्यता तथा तकनीकी सामर्थ्य की कमी :-** एक नेता में योग्यता व तकनीक सामर्थ्य के न होने के कारण वह अपने अनुयायियों का अच्छा मार्गदर्शक नही कर सकता। ये गुण शिक्षण तथा प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किये जा सकते है।

(2) **आत्म विश्वास की कमी :-** नेता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा आत्मविश्वास की कमी होना है। एक नेता आत्मविश्वास मे ही दूसरों का विश्वास जीतने मे सफल होता हैं। आत्मविश्वास का होना आत्मज्ञान पर आधारित है।

(3) **स्फूर्ति की कमी :-** एक नेता मे स्फूर्ति का न होना नेतृत्व की दूसरी बाधा है। स्फूर्ति से नेता भावी परिस्थितियों से सजग रहता है और कठिनाई के समय अपना धर्म नही खोता है।

(4) **साहस की कमी :-** नेता जिन क्रियाओं को ठीक मानता है, उनके सम्बन्ध में निर्णय लेने वाला तथा उनको लाग करने वाला होना चाहिए, उसमे इतना साहस हो कि वह अपनी बात को दृढ़ता से लागू करवा सके। नेता मे साहस का न होना नेतृत्व की सफलता में एक बहु त बडी बाधा है।

(5) **मानवता का ज्ञान न होना :-** यदि नेता में मानवता के ज्ञान की कमी है। अर्थात् उसे मालूम नही है कि वह एक मानव समूह का नेतृत्व कर रहा है उसकी भावनाएँ क्या है तो वह सफल नेता नही बन सकता।

(6) **सन्देशवाहन योग्यता में कमी :-** सन्देशवाहन दूसरे लोगो को अपनी बात सही अर्थो में समझाना है। यदि नेता अपने विचारो व निर्देशों को भली प्रकार अपने अनुयायियों तक नही पहुँचा पाता तो यह बात नेतृत्व में बह्रुत बड़ी बाधा बनकर खडी हो जाती है।

(7) **वित्तीय प्रेरणाओं पर अधिक जोर देना :-** अधिकांश नेता केवल वित्तीय प्ररणाओं पर ही अधिक ध्यान रखते हैं तथा यह समझते है कि धन के बल पर अनुयायियों की क्षमता को खरीदा जा सकता है। ऐसे नेता अवित्तीय प्रेरणाओं को बेकार मानते हैं लेकिन वास्तव में कर्मचारियों की पूरी क्षमता का उपयोग करने के लिए वित्तीय व अवित्तीय दोनो प्रकार की प्रेरणाएँ आवश्यक है।

(8) **अनुयायियों के सुझाव स्वीकार न करना :-** जिन नेता के अन्दर आवश्यकता से अधिक विश्वास है वह अपने अनुयायियों के सुझावों की उपेक्षा करने लगते है। नेता की यह आदत नेतृत्व में एक बाधा बन जाती है।

उपरोक्त बाधाएँ नेतृत्व को कमजोर कर देती है इनसे बचाव के लिए संस्था द्वारा समय-समय पर प्रशिक्षण कायक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए।

इन कार्यक्रमों के आयोजन से नेताओं को कार्य-निष्पादन की आधुनिक विधियों की जानकारी मिलेगी, अनुयायियो की मानसिकता को समझने में सहायता मिलेगी और अन्ततः नेतृत्व को समर्थन दिया गया है।

16.6 नेतृत्व के प्रकार

"नेतृत्व शैली' से तात्पर्य नेतृत्व करने के तरीके या विधि से है। फ्रेड लुथांस के अनुसार 'यह वह ढंग है जिसके द्वारा एक नेता अपने अनुयायियों को प्रभावित करता है। " विभिन्न नेताओं की कार्य करने की शैली भिन्न होती है। सामान्यत: निम्न तीन प्रकार की नेतृत्व शैलियों को व्यवहार में अधिक अपनाया जाता है।

1. निरंकुश तानाशाही या सत्तावादी नेतृत्व
2. प्रजातांत्रिक नेतृत्व
3. स्वतन्त्रतावादी या निर्बाध नेतृत्व

1. **निरंकुश नेतृत्व / तानाशाही / सत्तावादी अथवा निर्देशात्मक नेतृत्व -** तानाशाही नेतृत्व में नेता सर्वेसर्वा होता है तथा समस्त अधिकार नेता के पास केन्द्रित होते है। नेता ही स्वयं संस्था के उद्देश्यों तथा नीतियों को निर्धारित करता है तथा अधीनस्थों के कार्य के आदेश-निर्देश प्रदान करता है। अधीनस्थ अपने नेता के नियन्त्रण में कार्य करते हैं तथा वे नेता के किसी भी आदेश का, निर्णय का विरोध नही करते। अधीनस्थो को वही कुछ करना पड़ता है जो उन्हें कहा जाता है नेता अपने अधीनस्थों से कोई सलाह या सुझाव नही लेता है, न ही उनकी समस्या को सुनाता है। अधीनस्थ अपना मुँह बन्द रखकर कार्य करते है । नेता अधीनस्थों के विचारो को सुनना आवश्यक नही मानता है।
   (1) **सख्त निरंकुश नेतृत्व :-** इसमें नेता कार्य-निष्पादन के लिए नकारात्मक प्रभावों, भय, दण्ड आदि का उपयोग कारता है तथा अनुयायियों पर कठोर नियन्त्रण बनाये रखता है।
   (2) **हितैषी निरंकुश नेतृत्व :-** यद्यपि इसमें नेता उच्च उत्पादकता पर ही बल देता है किन्तु एक संरक्षक की भांति वह अपने कर्मचारियों के हितों पर भी विचार कर लेता है। वह अपने अधीनस्थों के कल्याण के लिए सुविधाएँ भी प्रदान करता है।
   (3) **चालाक निरंकुश नेता :-** यह नेता अपने अधीनस्थों को यह अनुभव करवाने में सफल होता है कि वे भी निर्णय प्रक्रिया में भाग ले रहे है। जबकि वास्तव में वह निर्णय पहले ही ले लेता है।

विशेषताएँ :

1. इसमें नेता सारे निर्णय स्वयं ही लेता है। अधीनस्थों का कार्य आदेश-पालन मात्र होता है वे केवल आज्ञापालक होते हैं।
2. इसमें ऊपर से नीचे की ओर एकल मार्गीय सम्प्रेषण होता है।
3. इसमें निर्विवाद आज्ञाकारिता पर बल दिया जाता है।
4. यह नकारात्मक अभिप्रेरणाओं पर अधारित है।
5. इसमें अधीनस्थो पर कठोर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण होता है।
6. नेता अधीनस्थों की क्षमताओं में विश्वास नही रखता है।
7. इस प्रकार के नेतृत्व में समस्त अधिकार एवं शक्तियाँ नेता के हाथों में ही केन्द्रित रहती है।
8. नेता स्वयं ही स्वेच्छा से संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित करता है।
9. अधीनस्थो को अपनी बात या समस्या नेता के समक्ष रखने का अधिकार नही होता है।

गुण :-

निरकुंश नेतृत्व शैली के प्रमुख गुण निम्नानुसार है।

1. सभी आदेश एक व्यक्ति के द्वारा दिये जाने के कारण आदेश की एकता बनी रहती है।
2. निर्णय शीघ्र लिये जा सकते हैं।
3. अधीनस्थों पर कडा नियन्त्रण रहता है।
4. समन्वय में सुगमता रहती है।

5. नेता द्वारा योजनाओं को स्वेच्छा से लागू किया जा सकता है।
6. संस्था में तानाशाही का डर नही रहता।

दोष :-

निरंकुश नेतृत्व शैली के कुछ दोष भी है।

1. नेता द्वारा मनमानी किये जाने का भय रहता है।
2. अधीनस्थों की इच्छायें दब जाती है।
3. इस शैली से कर्मचारियों के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है।
4. अधीनस्थों द्वारा पहलपन एवं उत्तरादायित्व की भावना समाप्त हो जाती है।
5. अधीनस्थों का प्रबन्धकीय विकास रूक जाता है।
6. अधीनस्थों के मनोबल पर विपरित प्रभाव पडता है।
7. अयोग्य नेता की दशा में संगठन टूट जाता है।

उपयुक्ता - निरकुंश नेतृत्व के अनेक दोषो के बावजूद यह निम्न दशाओ मे उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(1) जब अधीनस्थो मे पर्याप्त ज्ञान व क्षमता का अभाव हो।
(2) जब अधीनस्थ नये एवं अप्रशिक्षित हों।
(3) जब कार्ये तीव्र गति से पूरा करवाना हो।
(4) जब नेता सम्पूर्ण नियन्त्रण स्वयं अपने हाथ में रखना चाहता हो।
(5) जब कार्य में छोटी सी भूल से गम्भीर परिणाम निकल सकते हो।

1. **प्रजातांत्रिक सहभागिता या जनतंत्रीय नेतृत्व :-** यह शैली निरंकुश नेतृत्व के ठीक विपरित होती है। इसमें नेता अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करता है। इसमें अधीनस्थों के सुझावों. शिकायतो एवं विचारो का स्वागत किया जाता है इसमे आपसी परामर्श एवं सहभागिता के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं। इस नेतृत्व में नेता अपने अधीनस्थों की विचार क्षमता मे विश्वास रखता है। वह पारस्परिक विचार-विमर्श, अभिप्रेरणाओं, पुरस्कार एवं कुशल निर्देशन के आधार पर कार्य करवाने पर बल देता है।

विशेषताऐ :-

(1) यह द्वि-मार्गीय सम्प्रेषण पर आधारित है।
(2) यह अधिकारों को विकेन्द्रीयकरण एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित है।
(3) यह औद्योगिक प्रजातन्त्र को प्रोत्साहित करता है।
(4) इसमें नेता सहभागिता परामर्श सुझाव व संयुक्त विचार-विमर्श के आधार पर निर्णय लेता है।
(5) इसमें मानवीय पहलपन एंव सृजनात्मकता के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहते हैं।
(6) इसमे अधीनस्थो के सुझावो, शिकायतो एवं उनकी समस्याओं पर ध्यान दिया जाता है।
(7) इसमे सभी निर्णय सम्बन्धित व्यक्तियो को लेने का अधिकार प्रदान किया जाता है।
(8) इसमे अधीनस्थों की योग्यताओं के विकास की कोशिश की जाती है।

गुण :-

(1) इसमे अधीनस्थों कि प्रबन्धकीय योग्यता के पूर्ण विकसित करने का अवसर मिलता है।

(2) इससे संस्था मे प्रजातात्रिक वातावरण का निर्माण होता है।

(3) अधिकारो के विकेन्द्रीयकरण कार्यो को शीघ्रता से पूरा किया जा सकता है।

(4) अधीनस्थों का मनोबल बढता है तथा उनमें निराशा उत्पन्न नही होती है।

(5) नेता को नवीन सुझाव एवं विचार प्राप्त होते हैं।

(6) कार्य निष्पादन में सुधार होता है।

(7) इससे अधीनस्थों की निर्णयन क्षमता का विकास होता है।

(8) इसमे कार्यो तथा व्यक्तियों दोनो को महत्व दिया जाता है।

(9) इस नेतृत्व प्रणाली से कर्मचारियो मे उत्तरदायित्व तथा चुनौतियों का सामना करने की क्षमता का विकास होता है।

(10) इससे अधीनस्थों को अन्ततः अधिक सम्मान सुविधाएँ प्राप्त होती है।

दोष :-

(1) सहभागी निर्णयों के कारण लोगों को उत्तरदायी ठहराना कठिन होता है।

(2) कई बार निर्णय लेने में विलम्ब हो जाता है क्योंकि निर्णय से पूर्व कई व्यक्तियों से परामर्श लेना होता है।

(3) अधीनस्थों को निर्णय का अधिकार मिल जाने के कारण कुछ लोग नेता को अयोग्य समझने लगते हैं।

(4) लोग सुझाव देने के आदी हो जाते हैं।

उपयुक्तता :- प्रजातात्रिक नेतृत्व प्रणाली निम्नलिखित विशेष दशाओं में अधिक उपयोगी मानी जाती है -

(1) जब संस्था के कर्मचारी संस्था के उद्देश्य से परिचित हो तथा उनकी प्राप्ति के लिए तत्पर हो।

(2) जब नेता पुरस्कार एवं सहभागिता के आधार पर कार्य करवाने की मानसिकता रखता है।

(3) जब नेता अधीनस्थों की शिकायतो, समस्याओं एंव सुझावों मे रूचि रखता है।

(4) जब कर्मचारी अनुभवी एवं प्रशिक्षित हो।

(5) जब सहभागिता की भावना से कार्य करना चाहता हो।

(6) जब अधीनस्थ उत्तरदायित्वों एवं चुनौतियों को उठाने को तैयार हो।

निर्बाध अथवा स्वतन्त्रवादी नेतृत्व : नेतृत्व के इस रूप मे नेता अपने अनुयायियों के कार्यो मे प्रायः हस्तक्षेप नही करता है या न्युनतम हस्तक्षेप करता है। वह अपने अधीनस्थों को निर्बाध रूप से कार्य करने का अवसर प्रदान करता है। इस नेतृत्व मे अधीनस्थ संस्था के उद्देश्य के अनुरूप अपने लक्ष्य स्वयं निर्धारित करते है। स्वयं ही योजनाएँ बनाते है इस प्रकार इस नेतृत्व प्रणाली में अधिकारों का पूर्ण विकेन्द्रीकरण होता है। नेता अपनी शक्तियों का उपयोग स्वयं न करके अधीनस्थों को उनका प्रत्यायोजन कर देता है।

विशेषताएँ :-

(1) नेता अपने अधीनस्थों को पूर्ण कार्य स्वतन्त्रता प्रदान करता हैं। उसका हस्तक्षेप न्यूनतम होता है।

(2) इस नेतृत्व शैली मे अधिकारो का पूर्ण विकेन्द्रीकरण होता है।

(3) इसमें नेता अपना मार्गदर्शन केवल संकटकालीन परिस्थितियो अथवा अनुयायियों के चाहने पर ही प्रदान करता है।

(4) यह नेतृत्व शैली कर्मचारी को दक्ष, सक्षम एवं परिपक्व मानती है।

(5) अधीनस्थ अपने लक्ष्यों व योजनाओं का निमार्ण स्वयं करते हैं।

(6) इसमें अधीनस्थों को आवश्यक साधन, सूचनायें एवं अधिकार प्रदान करता है ताकि अधीनस्थ स्वतंत्रतापूर्वक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तत्पर रहें।

(7) इसमे अधीनस्थ आवश्यक होने पर स्वंय अपने नेता से परामर्श ले लेते है।

(8) इसमें द्विमार्गीय संचार प्रणाली कार्य करती है, यद्यपि संचार का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर अधिक होता है।

गुण :-

(1) इस शैली द्वारा कर्मचारियों की प्रबन्ध योग्यता का विकास किया जाता है।

(2) उच्च प्रबन्धक क्रियान्वित कार्यो की अपेक्षा नियोजन कार्यो पर अधिक ध्यान दे सकते हैं।

(3) कार्य की स्वतन्त्रता से कर्मचारियों मे पहलपन एवं अपनत्व की भावना का विकास होता है।

(4) कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है।

(5) कर्मचारियों का मनोबल एवं उत्साह बढता है।

दोष :-

(1) सामान्य योग्यता अधीनस्थों की दशा में यह नेतृत्व शैली असफल रहती है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति के स्वतत्रन्तापूर्वक कार्य करने के कारण संस्था में समन्वय की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(3) विभिन्न अधीनस्थों पर नियन्त्रण ढीला रहता है।

(4) प्रशिक्षित एवं अनुभवी कर्मचारी न होने पर संस्था में अनुशासनहीनता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

उपयुक्तता :-

(1) जब अधीनस्थों में असाधारण प्रबन्ध होता है।

(2) जब अधीनस्थ संस्था के उद्देश्यों से भली प्रकार परिचित हो।

(3) जब अधीनस्थ पर्याप्त अनुभवी परिपक्व एवं प्रशिक्षित हो।

(4) जब अधीनस्थ स्व-मार्गदर्शन में कार्ल कर सकते हो।

16.7 नेतृत्व के सिद्धान्त

प्रबन्ध का महत्वपूर्ण घटक नेतृत्व है। नेतृत्व के सम्बन्ध में अलग-अलग विचारधाराओं का विकास हुआ है

मूल रूप से नेतृत्व की विचारधारा दो भागो मे बाटी गई है -

(1) गुण मूलक विचारधारा :- बरनार्ड एवं आर्डवे टीड ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति विशेष में नेतृत्व योग्यता का होना उसक कुछ विशेष व्यक्तिगत गुणो पर आधारित होता है अर्थात यदि व्यक्ति में ये विशेष गुण होंगे तो वह निश्चित रूप में सभी परिस्थितियो में सफल नेता होगा। इस विचारधारा का यह मानना भी है कि नेतृत्व योग्यता जन्म से ही होती है। इसे प्रयत्नों द्वारा प्राप्त नही किया जाता है। सन् 1950 तक जितने भी शोध कार्य हुए, उन सभी में व्यक्तिगत गुणो को श्रेष्ठ माना गया है। इसके बाद भी अनेक शोध कार्य हुए,उन सभी शोधकर्ताओं ने कुछ मतभेद रखते हुए इन्ही गुणों का नेतृत्व योग्यता बताया।

(1) शारीरिक गुण :- इस श्रेणी मे कार्य -शक्ति मुखमुद्रा ऊँचाई आदि 5 गुणों कों सम्मिलित किया गया हैं।

(2) बुद्धि तथा योग्यता सम्बन्धी गुण :- इसके अन्तर्गत बुद्धिमत्ता, विद्धता आदि चार गुण आते हैं।

(3) व्यक्ति सम्बन्धी गुण :- व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों में ग्रहणशीलता, तत्परता, उत्साह, आत्मविश्वास आदि 16 गुण सम्मिलित किये गये हैं।

(4) कार्य सम्बन्धी गुण :- इस श्रेणी मे पहल क्षमता कार्य-द्ढता आदि 6 गुण सम्मिलित किये गये हैं।

(5) सामाजिक गुण :- सामाजिक गुणों मे सहयोगपूर्णता प्रशासकीय योग्यता आदि 9 गुण सम्मिलित किये गये हैं।

16.8 आलोचनाएँ

(1) गुणों की मात्रा के स्पष्टीकरण का अभाव :- इस सिद्धान्त में नेतृत्व योग्यता के गुणों की सूची तो दी गई लेकिन यह स्पष्ट नही किया गया कि ये किसी व्यक्ति मे कितनी-कितनी मात्रा में होने चाहिए तथा कौन-कौनसे गुण अधिक महत्त्व के है एवं कम से कम महत्त्व के हैं।

(2) एकरूपता का अभाव :- आलोचकों का मत है कि अनेक विद्वानों ने नेतृत्व के गुणो की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिसमें गुणों की एकरूपता का अभाव है कुछ विचारक कुछ विशेष गुणो को महत्वपूर्ण मानते है तो कुछ अन्य उनके विपरीत गुण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार समानता के अभाव में पूर्ण विश्वास के साथ ये नही कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति में नेतृत्व योग्यता के लिए किन-किन गुणों का होना आवश्यक है।

(3) परिस्थितियों की अवहेलना :- प्रबन्ध विशेषज्ञों का सहमत है कि कुछ सीमित गुणों वाला व्यक्ति सभी परिस्थितियों मे सफल नही है। व्यावहारिक रूप मे, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे नेता को भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता पाती है। नेतृत्व के गुण मुलक सिद्धान्त में परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति में कुछ सूचीबद्ध गुण है तो वह अवश्य ही सफल नेता होगा।

(4) गुणो को मापने की समस्या :- प्रबन्ध विशेषज्ञों का यह तर्क है कि यह जानना कठिन है कि किसी व्यक्ति में एक विशेष गुण उचित मात्रा में है अन्यथा नहीं। व्यक्ति गुण को मापने की कुछ विधियाँ हैं। लेकिन इनके आधार पर कोई तटस्थ निर्णय नही लिया जा सकता है।

नेतृत्व के गुणमूलक सिद्धान्तों की विशेषताओं का विवेचन करने पर हम यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि सिद्धान्त का महत्त्व उस समय पर जबकि नेतृत्व योग्यता का सृजन करने के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध नही थी, अत: इसे जन्मजात गुण के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

16.9 सारांश

नेतृत्व का आशय दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता से है ताकि उनको सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में आगे बढने के लिये प्रेरित किया जा सके। नेतृत्व की प्रमुख विशेषताए हैं : (1) व्यक्तियों कों प्रभावित करने की प्रक्रिया (2) अनुयायियों को प्रोत्साहित करने की योग्यता (3) व्यक्तियों की आधारभूत समझ (4) अनुकूल वातावरण प्रदान करना। (5) इसका सम्बन्ध स्थिति से है। (6) अनेक प्रकार के चातुर्यो का संयोजन। (7) यह विभिन्न तत्वों का संयोजन है। (8) यह अपेक्षाओं को वास्ताविकता मे बदलने वाली क्रिया हैं। (9) यह रूपान्तरण करने वाली प्रक्रिया है तथा (10) नेतृत्व संस्था निर्माण करने वाली प्रक्रिया है। नेतृत्व प्रबन्ध का एक अंग है। इन दोनो में क्षेत्र, आवश्यकता, आधार, उदय सम्बन्ध की प्रकृति, प्रक्रिया, शैली योग्यता कार्य अनुसरण का आधार तथा जवाबदेही के आधार पर अन्तर किया जा सकता हैं:

(1) महान व्यक्ति विचारधारा :- जो मानती है कि महान एवं अच्छे नेता तो पैदा होते है बनाये नही जाते। आधुनिक युग मे यह विचारधारा अर्थहीन मानी जाती है।

(2) गुण मूलक विचारधारा :- इसके अनुसार सफल नेता वह है जिसमे कुछ विशिष्ट शारीरिक,मानसिक एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण विद्यमान हैं। विद्वानों द्वारा बुद्धि, कृतसंकल्प आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति सृजनता, दूरदर्शिता, पहलपन अनुकुलनशीलता अभिरूचि, उत्साह एवं दृढता पूर्ण शीघ्र निर्णय लेने की शक्ति मानवीय सम्बन्धों का समुचित ज्ञान, सहनशक्ति सामाजिक चेतना आदि गुणों के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

(3) पथ लक्ष्य विचारधारा :- जो कि नेतृत्व की किसी एक विधि को सर्वोत्तम न मानकर समर्थन मूलक, सहभागितामूलक सहायता मूलक एवं उपलब्धि-परक व्यवहार को स्थिति की मांग के अनुसार अपनाने पर जोर दिया गया है।

(4) आदर्शी विचारधारा :- यह विचारधारा नेता को क्या करना चाहिये यह निर्धारित करती है। इसके अनुसार नेता का व्यवहार स्थित्यात्मक घटकों एवं नेता के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होता है। क्योंकि यह नेता के मार्गदर्शक सिद्धान्तो का निर्धारण करती है इसलिए इसे अच्छी विचारधारा मानते हैं। कुछ विद्वान निम्न आधारों पर इसकी आलोचना

करते हैं यह आदेशात्मक है, व्यवहार के एक पहलू पर विचार करती है एवं इसमे सृजनता का अभाव पाया जाता हैं।

16.10 प्रश्न

1. नेतृत्व की परिभाषा दीजिये तथा नेतृत्व के गुणों पर प्रकाश डालिए।
2. नेतृत्व क्या है नेतृत्व एवं प्रबन्ध मे अन्तर स्पष्ट कीजिये।
3. नेतृत्व की आदर्शी विचारधारा को स्पष्ट कीजिये।
4. नेतृत्व की पथ-लक्ष्य विचारधारा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
5. फीलडर की नेतृत्व की आकस्मिकता विचारधारा की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।
6. 'नेता जन्म लेते हैं बनाये नही जाते' इस कथन को समझाइए।

16.11 उपयोगी पुस्तकें

1. Hunt and Larson - Leadership : The cutting edge
2. Fielder and Garcia - New approaches to effective leadership

इकाई-17: अभिप्रेरणा (Motivation)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 अर्थ एवं परिभाषा

17.3 महत्त्व

17.4 प्रकृति

17.5 समस्याएँ

17.6 प्रकार

17.7 तकनीकें

17.8 सारांश

17.9 प्रश्न

17.10 उपयोगी पुस्तकें

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

– अभिप्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा जान सकेंगे।

– अभिप्रेरणा का महत्व, प्रकृति का वर्णन कर पायेंगे।

– अभिप्रेरणा की विभिन्न समस्याओं को समझ सकेंगे।

– अभिप्रेरणा के विभिन्न प्रकार एवं तकनीकों की जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।

17.1 प्रस्तावना

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कार्य के सर्वोत्तम निष्पादन के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार करना आवश्यक हैं। कर्मचारियों मे रूचि पैदा करना, उस रूचि को बरकार रखना तथा उसमें बढोतरी करना ही अभिप्रेरणा का काम है एक व्यक्ति की आवश्यकताएँ अन्तत होती है तथा प्रो. मास्लो के अनुसार उनमें क्रमबद्धता मिलती है। किसी भी कर्मचारी की कार्य के प्रति रूचि पैदा करने के लिए इन क्रमबद्ध आवश्कताओं को एक के बाद एक को पूरा करना परमावश्यक है। जिसके द्वारा कर्मचारियों कों कोई आवश्यकता अनुभव कराके काम करने के लिए प्रेरित किया जाता हैं। यही भाव अभिप्रेरणा निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता हैं।

17.2 अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य रूप से अभिप्रेरणा वह भावना या इच्छा है जो व्यक्तियों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है अभिप्रेरणा आन्तरिक रूप से अपनी आवश्यकताओं कीं सन्तुष्टि तथा बाहय रूप से पुरस्कारों के फलस्वरूप घटित होता है यह कार्य के लिए प्ररणा देने वाली मनोवैज्ञानिक ऊर्जा है यह आन्तरिक इच्छाओं,भावनाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण उत्पन्न मानसिक

एवं अन्तर्मन की शक्ति है जो व्यक्ति को संस्था के लक्ष्यों की पूर्ति में योगदान देने के लिए प्रोत्साहित करती है।

परिभाषाएँ

स्टेनले वेन्स के अनुसार "कोई भी भावना या आवश्यकता जो व्यक्ति की इच्छा को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि वह कार्य करने के लिए प्रेरित हो जाये, अभिप्रेरणा कहलाती हैं।"

शार्टल :- के अनुसार, "किसी निश्चित दिशा की ओर जाने या किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्तिके लिए निश्चित प्रेरणा या तनाव ही अभिप्रेरणा हैं।"

जूसियस के मत अनुसार "अभिप्रेरणा किसी व्यक्ति को अथवा स्वयं को किसी इच्छित कार्य को करने के लिए प्रेरित करने की क्रिया है।"

स्कॉट अनुसार "अभीप्रेरणा लोगो को इच्छित लक्ष्यों कि प्राप्ति के लिए कार्य करने के प्रेरित करने क्रिया है।"

कूंज तथा ओ डोनेल के अनुसार "लोगो को इच्छित तरिके से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने की अभिप्रेरणा देना है।"

मैकफारलैण्ड के अनुसार - "अभिप्रेरणा वह विधि है जिसके द्वारा समवेद, उद्वेग, इच्छाएँ, आकाक्षाऐ प्रयास अथवा आवश्यकताएँ मानव आचरण को निर्देशित, नियन्त्रित एवं स्पष्ट करती है।"

17.3 महत्व

अभिप्रेरण का महत्व :-

किसी भी व्यवसाय कि सफलता इस तथ्य पर आधारित है कि उसमे कार्य करने वाले कर्मचारी स्वेच्छा से वह मन लगाकर कार्य करे। एक समय था जब पर्यवेक्षण द्वारा दासो से कोडो के बल पर काम करवाया जाता था। दास ने काम मे थोडी-सी शिथिलता बरती की उसे कोडा मारा जाता था यह इसलिए सम्भव था कि तानाशाह तथा परतंन्त्र शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्राप्त नही थे। मनुष्य शक्ति के प्रयोग के डर से अधिक कार्य करने को विवश थे। वर्तमान स्वतन्त्र समाज में इस प्रकार के तरीको के प्रयोग का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता है प्रबन्ध विशेषज्ञ मत है कि स्वतन्त्र मनुष्य का नेतृत्व किया जा सकता है, धक्का नही दिया जा सकता है।

इसका आशय यह है कि हम व्यक्ति कि कार्य करने के लिए मार्गदर्शन करके प्रेरित कर सकते है उनको अधिक काम करने के लिए विवश नही कर सकते हैं अत: अच्छे एवं अधिकतम व श्रेष्ठतम कार्य करने के लिए अभिप्रेरण का वर्तमान विश्व मे बहुत महत्व है जब कर्मचारियों को अपने पर्यवेक्षक तथा अन्य विशेषज्ञों से कार्य करने का मार्गदर्शन मिलता है तो उसकी कार्यक्षमता बढ जाती है तथा वह अधिक कार्य करने को अभिप्रेरित होता है। वर्तमान समय मे किसी कर्मचारी को आसानी से अलग नही किया जा सकता है अत: अभिप्रेरणा का प्रबन्धकों के लिए अत्यन्त महत्व है। प्रबन्धक कर्मचारियों के अनुकूल परिस्थितियों का निमार्ण करके उन्हे नवीन तरीकों से कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करता है। एक कुशल प्रबन्धक शक्ति के प्रयोग एवं निलम्बित करने के धमकी मे विश्वास न रखकर आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्ध

विधियों के माध्यम से कर्मचारियो को शक्ति पर्यन्त स्वेच्छा से कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करता है। अभिप्रेरणा का महत्व अथवा आवश्यकता निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होती हैं :

(1) कर्मचारियों के आवगमन व अनुपस्थिति में कमी :- कर्मचारियों के आवागमन व अनुपस्थिति की ऊँची दर संस्था की साख प्रभावित होती है इससे प्रबन्धकों के समक्ष अनेक समस्याऐ उत्पन्न होती है। बार-बार कर्मचारियों की नियुक्ति करना उनके प्रशिक्षण,शिक्षण की व्यवस्था करना आदि समस्याओं में समय व धन दोनों की बर्बादी होती है। आज के प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में इस बर्बादी को सहन करना असम्भव है।

(2) संगठनात्मक परिवर्तन की सहज स्वीकृति :- सगंठन में नये-नये परिर्वतन होते है जैसे तकनीकी परिवर्तन, कार्य-निष्पादन की विधियाँ ये परिर्वतन आदि। प्राय: कर्मचारी जिस तरह के ढाँचे में कार्य कर रहे होते है वे उसमें कोई परिवर्तन स्वीकार नही करते जबकि समय की माँग को देखते हु ए परिर्वतनों को लागू करना जरूरी होता है इन परिर्वतनो को केवल अभिप्रेरणा द्वारा ही आसानी से स्वीकृत करवाया जा सकता है।

(3) लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक :- किसी संस्था या उपक्रम में कार्यरत कर्मचारियों के माध्यम से पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन्हें सही दिशा दिखाना आवश्यक है। अभिप्रेरणा रूपी हथियार द्वारा ही निशाने को भेदा जा सकता है बिना अभिप्रेरणा के लक्ष्य प्राप्ति का विचार मात्र एक सपना है इस सपने को साकार करने के लिए अभिप्रेरणा आवश्यक है।

(4) अच्छे मानवीय सम्बन्ध :- अभिप्रेरणा के ऊँचे स्तर से नियोक्ता व कर्मचारियों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित होते हैं। अभिप्रेरणा द्वारा कर्मचारी उत्साह से और ओत-प्रोत हो जाते है और वे आदेशों व सूचनाओं को सहर्ष स्वीकार करने लगते है। इस प्रकार अच्छे मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने में अभिप्रेरणा का बहु त योगदान है।

(5) मनोबल में वृद्धि :- कर्मचारियों का उच्च अभिप्रेरणा उनके मनोबल को बढाता हैं जिससे वे चुनौतियों का डटकर मुकाबला करते हैं तथा आवश्यकता पडने पर साहसपूर्ण निर्णय लेने से नहीं घबराते हैं।

(6) कार्यकुशलता का ऊँचा स्तर :- अभिप्रेरित कर्मचारियों की कार्यकुशलता दूसरे कर्मचारियों कि अपेक्षा अधिक होती है। कार्यकुशलता ऊँचे स्तर को प्राप्त करना संगठन के लिए अति आवश्यक है और इसे अभिप्रेरणा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अभिप्रेरणा और कार्यकुशलता के उच्च धनात्मक सह-सम्बन्ध अर्थात् इसकी अनुपस्थिति मे सगंठन के उद्देश्यो को कुशलतापूर्वक प्राप्त किया जाना असम्भव हैं। प्रबन्ध मे अभिप्रेरणा का महत्व को देखते हु ए आरम्भ से ही प्रबन्ध विशेषज्ञों ने इसके गहन अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया हैं इसके सम्बन्ध मे समय-समय पर विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किये है। एक पुरानी विचारधारा के अनुसार इसे 'पारितोषिक एवं दण्ड' के नाम से जाना जाता हैं। इसका अभिप्राय यह हैं कि जो कर्मचारी अपना कार्य पूरे उत्साह तथा कुशलता से करता है उसे उसकी कुशलता के फलस्वरूप पुरस्कार दिया जाना चाहिए और जो अपने कार्य निष्पादन मे लापरवाही करता है उसे दण्डित किया जाना चाहिए। एक दूसरी विचारधारा के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता फ्रेडरिक टेलर ने प्रेरणात्मक

पारिश्रमिक प्रणाली के माध्यम से अभिप्रेरणा करने पर बल दिया अर्थात अधिक काम करने पर अधिक दर से तथा कम काम करने पर कम दर से पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए लेकिन इन परम्परागत विचारधाराओं मे सशोधन करता हुआ आधुनिक विचारकों ने इस सम्बन्ध मे कुछ नये विचार प्रस्तुत किये है जैसे मास्लों द्‌वारा आवश्यकता अनुक्रमाक विचाधारा, हर्जबर्ग द्‌वारा प्रेरक तथा अनुरक्षण तत्वों का विचार, मैक ग्रेगर द्‌वारा x तथा y विचारधारा आदि। अध्ययन कि दृष्टि से अभिप्रेरणा की विचारधाराओ को दो भागो मे विभक्त किया गया है।

(7) संगठन का अच्छा प्रतिबिंब :- एक संगठन मे जहाँ कर्मचारियों को उचित विधि द्‌वारा अभिप्रेरित किया जाता है इसके बाद एक उनकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास किया जाता है उस संस्था का लोगो के मस्तिष्क में एक अच्छा प्रतिबिम्ब स्थापित हो जाता है। सर्वगुण कर्मचारी इस तरह की संस्था में नियुक्ति को प्राथमिकता देने लगते है परिणामस्वरूप कर्मचारियो की नियुक्ति का कार्य सरल हो जाता है।

17.4 प्रकृति

(1) सतत् प्रक्रिया :- प्रबन्धक को अपने कर्मचारियों से कार्य करवाने के लिए उन्हें निरन्तर रूप से अभिप्रेरित करना पडता है अत: अभिप्रेरणा प्रबन्ध मे सतत् प्रक्रिया है जो कभी समाप्त नही होती।

(2) मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि :- समस्त मानवीय व्यवहार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संचालित होता है। मनुष्य इच्छा-प्रधान प्राणी है वह अपनी शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक इच्छाओ को सन्तुष्टि से प्रेरित होकर ही कार्यो को प्रारम्भ करता है।

(3) कार्य प्रेरणा :- अभिप्रेरणा लोगो को कार्य करने की शक्ति एवं उत्साह प्रदान करता है यह कार्य की मनोवैज्ञानिक ऊर्जा है। यह कर्मचारियो को अपने तथा संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है।

(4) उद्दीपन कार्य :- अभिप्रेरणा एक उद्दीपन कार्य है जो मनुष्य की निष्क्रिय शक्ति को उत्तेजित करता है अभिप्रेरणा से मनुष्य मे आशा, उत्साह जोश एवं उपलब्धि भाव का संचार होता है।

(5) वृतीय कार्य :- अभिप्रेरणा एक वृतीय प्रक्रिया है जो कि किसी आवश्यकता के अभाव के कारण उत्पन्न तनाव से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति इस तनाव से मुक्ति पाने के लिए आवश्यकता की सन्तुष्टि के साधनों की खोज के लिए प्रेरित होता है। आवश्यकता की पूर्ति के बाद इच्छाओं के जाग्रत होने पर तथा उसकी पूर्ति की प्रक्रिया फिर प्रारम्भ हो जाती है।

(6) मानवीय सन्तुष्टि का कारण एवं परिणाम :- अभिप्रेरणा मनुष्य की सन्तुष्टि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है किन्तु अपनी आवश्यकता को तृप्त करने के लिए भी अभिप्रेरणा कार्य करती है।

(7) अभिप्रेरणा के विभिन्न ढंग :- अभिप्रेरणा कई प्रकार से दी जा सकती है अभिप्रेरणा वित्तीय अथवा गैर-वित्तीय साधनों जैसे पदोन्नति भागीदारी, मान्यता आदि द्वारा प्रदान की जा सकती है इसके अतिरिक्त, यह सकारात्मक अर्थात पुरस्कारों पर आधारित अथवा नकारात्मक अर्थात् भय व दण्ड के द्वारा भी दी जा सकती है।

(8) अभिप्रेरणा एवं मनोबल एक नही :- अभिप्रेरणा एवं मनोबल मे पर्याप्त अन्तर है अभिप्रेरणा कार्य के प्रति प्रेरित करने की एक प्रक्रिया है जबकि मनोबल अभिप्रेरणा से उत्पन्न कार्य करने की इच्छा-शक्ति एवं उत्साह का नाम है।

(9) गतिशिल एवं चुनौतीपूर्ण कार्य :- अभिप्रेरणा माननीय व्यवहार तथा माननीय आवश्यकताओ से सम्बन्धित है जो प्रति पल बदलती रहती है अत: प्रेरणा भी परिवर्तनशील होती है साथ ही कर्मचारियों की इच्छाओं को समझना तथा उनका मापन करना अत्यन्त जटिल एवं चुनौतिपूर्ण है।

(10) लक्ष्य-प्रधान व्यवहार :- अभिप्रेरणा व्यक्ति को निश्चित लक्ष्यों परिणामो अथवा निष्पादन के लिए प्रेरित करता है।

(11) सन्तुष्टि से भिन्न :- अभिप्रेरणा आवश्यकता अथवा लक्ष्य की पूर्ति द्वारा व्यक्ति को प्रेरित करने की प्रक्रिया है सन्तुष्टि किसी आवश्यकता की पूर्ति के फलस्वरूप मिलने वाला सन्तोष है। कार्य सन्तुष्टि अभिप्रेरणा की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण घटक है।

(12) अभिप्रेरणा एवं टीम भावना एक नही है :- कई बार अभिप्रेरण तथा टीम भावना को एक मान लिया जाता है। टीम भावना व्यक्तियों द्वारा व्यक्ति समूह में प्रभावीशाली ढंग से कार्य करने कीर दशा है दूसरी ओर अभिप्रेरणा व्यक्ति के भीतर वह इच्छा है जो उसे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है। टीम भावना के अभाव मे भी व्यक्ति सन्तुष्टि के लिए कार्य कर सकते हैं।

17.5 समस्याऐं

किसी भी उपक्रम के अन्र्तगत कार्य करने वाले व्यक्तियों मे कार्य की इच्छा एवं शक्ति का उदय करना उपक्रम की सफलता के लिए परम आवश्यक है लेकिन अभिप्रेरणा का मूलत: मानव से सम्बन्धित होने के कारण उनकी विविध रूचियों, परम्पराओं, इच्छाओं एवं भावनाओं के अनुकूल कार्य करना कठिन हो जाता है।

(1) तकनीकी समस्याऐं :- किसी भी उपक्रम की उत्पादकता को बढाने के लिए सुधरी हुई एवं आधुनिक तकनीकों का उपयोग आवश्यक है। लेकिन इन तकनीको का उपयोग अभिप्रेरित करने वाले प्रबन्धकों के समक्ष दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करता है। प्रथम - तकनीक क्षमता की समस्या तथा द्वितीय- कार्यरत कर्मचारियों की इच्छाओं को तकनीकों के अनुरूप ढालने की समस्या का निराकरण तो आसान है लेकिन द्वितीय समस्या मूलत: मानवीय होने के कारण इसका निराकरण करना कठिन है।

(2) प्रबन्धको की सीमायें :- प्रबन्धक का यह आधाभूत कर्त्तव्य है कि वह कर्मचारियो का अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करे। प्रबन्धक उपक्रम के कर्मचारियो को दिशा निर्देशन करता है इसलिए उसके द्वारा उत्पन्न किये गये वातावरण का कर्मचारियो की कार्यक्षमता

पर गहरा प्रभाव पड़ेगा लेकिन प्रबन्धक भी एक सामाजिक प्राणी है उसके भी कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व है इसलिए वह अपना समस्त समय अभिप्रेरणा की क्रियान्वयन पर ही नही दे पाता इसके अतिरिक्त उसे उपक्रम मे कई अन्य भी करने पडते हैं जिनसे कि वह अपने परिश्रम का कुछ भाग है ही इन क्रियाओ पर लगा सकता है।

(3) कर्मचारियो की विषमताओ की समस्या :- उपक्रम मे काम करने वाले कर्मचारियो मे कई विषमताएँ पाई जाती है। उनका शैक्षणिक स्तर पारिवरिक स्थिति प्रशिक्षण स्तर के अतिरिक्त उनकी कार्य के प्रति रूचि निष्ठा तथा लगन भिन्न-भिन्न हो सकती है इन विविध परिस्थितियों मे उन्हे अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करना एक महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है क्योंकि इन सभी मे समुचित सन्तुलन बनाना आसान नही है।

(4) सीमित अभिप्रेरणात्मक साधनों की समस्या :- एक उपक्रम के पास असीमित मात्रा मे प्रेरणा प्रदान करने वाले साधन नही होते हैं इन्हें सीमित साधनो के उपयोग की भी समस्या आती है। किस व्यक्ति को क्या प्रेरणा दी जाये तथा कितनी दी जाये आदि महत्तपूर्ण समस्याएँ इन साधनो से सम्बन्धित है।

(5) कर्मचारियों की विषमताओं की समस्या :- उपक्रम में काम करने वाले कर्मचारियो में कई विषमताएँ पाई जाती है उनका शैक्षणिक स्तर, प्रशिक्षण स्तर के अतिरिक्त उनकी कार्य के प्रति रूचि निष्ठा तथा लगन भिन्न-भिन्न हो सकती है। इन विविध परिस्थितियो में उन्हे अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करना एक महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है क्योंकि इन सभी मे समुचित सन्तुलन बनाना आसान नही है।

(6) उद्देश्यों की समस्या :- उपक्रम का निमार्ण किन्ही विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है इन पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप ही एक प्रबन्धक को कर्मचारियों के लिए एक ऐसी योजना बनानी पडती है जिससे उनमे कार्य के प्रति रूचि उत्पन्न की जा सके ये उद्देश्य अभिप्रेरणा की योजना के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं।

17.6 प्रकार

अभिप्रेरणा के प्रकार निम्नलिखित है -

(A) धनात्मक एवं ऋणात्मक अभिप्रेरणा :- धनात्मक अभिप्रेरणा एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसमे कार्यरत व्यक्ति को कुछ लाभ, पुरस्कार या अधिक प्रदान कर अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार की प्रेरणा का कर्मचारी के व्यवहार पर अनुकूल प्रभाव पडेगा जिससे उसकी कार्य के अन्र्तगत रूचि एवं शक्ति का विकास होगा। धनात्मक अभिप्रेरण मे निम्न को सम्मलित किया गया है।

(a) प्रशंसा एवं सम्मान

(b) विश्वास, निष्ठा एव लगन

(c) सहभागिता

(d) अधिकारो का प्रत्यायोजन

(e) सहयोग

(f) स्पर्धा

(g) अधिक वेतन एवं अच्छी कार्य की दशाएँ

(h) नौकरी की सुरक्षा

(i) पुरस्कृत करना

(j) पदोन्नति आदि

ऋणात्मक अभिप्रेरणा का सम्बन्ध भय, कठोरता, धमकी तथा आलोचनाओं से है ये प्रेरणाएँ किसी विशिष्ट व्यवहार को निरूत्साहित करने के लिए अधिक काम मे ली जाती है।

(a) सेवा मुक्ति

(b) आलोचना एवं निन्दा करना

(c) भय दिखाना तथा धमकी देना

(d) उपेक्षा

(e) निम्न स्तरीय व्यवहार

(f) वेतन मे कटौती करना

(g) बढोतरी को रोकना

(h) अन्य सुविधाओं को समाप्त करना आदि

उपयुक्त ऋणात्मक अभिप्रेरणा विधियों को उपयोग अधिक लाभदायक नही माना जाता है क्योंकि प्रथम इस विधि मे कठिन परिश्रम को कोई प्रोत्साहन नही मिलता, न्यूनतम कार्य न करने पर दण्ड का प्रावधान होता है, द्वितीय आवश्यकता से अधिक भय व्यक्ति को इन दबावों के विरूद्ध लडने को मजबूर करता है तृतीय यह मानवीय व्यवहार के आधारभूत तत्वो की व्याख्या नही करता।

(B) व्यक्तिगत एवं सामूहिक अभिप्रेरणा :-

व्यक्तिगत प्रेरणाएँ वे है जिनमे एक व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से प्रेरित करने का प्रयास किया जाता है। इन प्रेरणाओ से एक व्यक्ति को व्यक्तिगत सन्तुष्टि मिलती है उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है तथा वह अपने आप कार्य करने के लिए प्रेरित कर पाता है इन प्रेरणाओं मे निम्न को सम्मिलित किया जा सकता हैं

(a) प्रशंसा तथा नौकरी की सुरक्षा

(b) प्रेरणात्मक वेतन आदि

(c) भावी पदोन्नति का प्रोलोभन

(d) रचनात्मक प्रवृतियो को प्रोत्साहन देकर

(e) सहभागिता प्रदान कर

(f) मान्यता प्रदान करना

व्यक्तिगत प्रेरणाओ के विपरीत सामूहिक प्रेरणाएँ वे है जो कि समूह को एक साथ अधिक मेहनत से कार्य करने के लिए प्रेरित करती है इन प्रेरणाओ से आपसी संघर्ष एवं मतभेद कम होते है पर्यवेक्षण का भार कम हो जाता है तथा व्यवहार मे सुधार आता है इनमे निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है :

(a) विशिष्ट वार्षिक वृद्धियाँ

(b) अधिलाभाश तथा सामूहिक पुरस्कार

(c) पेन्शन एवं लाभों मे सहभागिता

(d) दलीय भावना का विकास

(e) स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का विकास

(f) मानवीय सम्बन्धों की स्थापना

(g) नैतिक उत्थान

(h) कुशल सम्प्रेषण

(C) आन्तरिक एवं बाहरी अभिप्रेरणा :- अभिप्रेरणा के आन्तरिक -तत्व वे है जो कि कार्य के निष्पादन के समय उत्पन्न होते हैं तथा जिनका कार्य करने की प्रेरणा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है इन तत्वों से व्यक्ति अपने आप अभिप्रेरित होता है क्योकि इनके प्रयोग से कार्य अपने आप मे लाभदायक बन जाता है उपलब्धि, मान्यता सम्मान, उन्नति, उत्तरदायित्व, हिस्सेदारी आदि उदाहरण है।

बाहरी अभिप्रेरणा के अन्तर्गत वे सभी धटक सम्मिलित किये जाते हैं जो कि कार्य के पश्चात अथवा कार्य से दूर प्राप्त होते है जो कार्य सम्पादित करते समय कार्मचारी को कोई सन्तुष्टि प्रदान नही करते हैं सेवानवृत योजनाऐ स्वास्थ बीमा, छुट्टियाँ, पेन्शन आदि बाहरी अभिप्रेरणा के उदाहरण है इनमे से कोई भी घटक कर्मचारी को कार्य के समय अभिप्रेरणा प्रदान नही करता है हर्जबर्ग के अनुसन्धानों के पूर्व प्रबन्धक बाहरी उत्प्रेरण तत्वों को अधिक महत्व देते है जिनका परिणाम बहुत ही अनुकूल नही रहता है इन अनुसन्धानो के बाद अभिप्रेरणा के आन्तरिक घटको को महत्व मिलने लगा जिन्हे अभिप्रेरणा के लिए बाहरी तत्वों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

(D) वित्तीय तथा अवित्तीय अभिप्रेरणा :- वित्तीय अभिप्रेरणा मे वे साधन सम्मिलित किये जाते है जिनका मुद्रा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्ध होता है। एक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए खाने के लिए अनाज, रहने के लिए मकान तथा पहनने के लिए कपडो की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति वह धन के अभाव मे नही कर सकता है मजदुरी अथवा वेतन, बोनस, लाभ मे हिस्सा, छुट्टियाँ का वेतन, पेन्शन आदि वित्तीय अभिप्रेरणाओ के उदाहरण है। प्रबन्ध के परम्परागत स्कूल के अनुयायी विद्वान इसी बात को मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए वित्तीय अभिप्रेरणाएँ बहुत महत्वपूर्ण होती है क्योकि मुद्रा की आवश्यकता सर्वव्यापक है तथा यह बहुत्सी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करती है इसलिये इसे अभिप्रेरणा का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाना स्वाभिक ही है।

अवित्तीय अभिप्रेरणा :- का अभिप्राय उन प्रेरणाओं से हैं जिनका मुद्रा से कोई सम्बन्ध नही हैं अर्थात् जिन्हे प्रदान करनें के लिए मुद्रा की कोई बडी आवश्यकता नही होती हैं। क्योकि उपक्रम का व्यवहार सामाजिक होता हैं इसलिये एक व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं को ओवल मुद्रा से ही सन्तुष्ट नही किया जा सकता है। पद व सम्मान सुरक्षा सामाजिक तथा स्वंय -विकास की आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिन्हे मात्र धन खर्च करने से ही पूरा नही किया जा सकेगा; मान्यता, प्रशंसा, प्रबन्ध मे सहभागिता, अधिक अधिकार

सहयोग आदि कुछ ऐसी प्रेरणाएँ हैं जिनका एक व्यक्ति मे कार्य के प्रति रूचि तथा शक्ति उत्पन्न करने मे महत्वपूर्ण योगदान रहता है। एक व्यक्ति के व्यवहार मे अनुकूल परिवर्तन लाने के लिए इनका उपयोग अत्यन्त आवश्यक है।

17.7 तकनीकें

अभिप्रेरणा के अनेक साधन एवं तकनीकें -

(1) **वित्तीय तकनीके :-** वित्तीय तकनीकों का सम्बन्ध मैद्रिक लाभ से होता है मुद्रा अभिप्रेरणा का एक आधारभूत साधन है। विकसित एवं विकासशील देशों मे समान रूप से इन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। वित्त मनुष्य की न केवल भैतिक आवश्यकताओं को पूरा करता है वरन् उसे एक लाभ मे हिस्सा पेन्शन व ग्रेच्युइटी प्रोविडेन्ट फन्ड एवं अन्य मौद्रिक लाभ शामिल है। वित्तीय लाभ जीवन निर्वाह एवं अस्तित्व के लिए महत्तपूर्ण होते हैं अत: कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने की दृष्टि से वित्तीय तकनीके प्राथमिक होती है।

(2) **सुरक्षा :-** कर्मचारियों को रोजगार एवं सेवा-सुरक्षा प्रदान करके अभिप्रेरित किया जा सकता है यह सुरक्षा (1) निरन्तर कार्य प्रदान करके (2) उनकी सेवाओं को स्थायी करके तथा (3) मंदीकाल मे भी कार्य पर रखने की गारन्टी देकर प्रदान की जा सकती है। हेनरी पूरे ने मनोवैज्ञानिक सुरक्षा को अभिप्रेरणा का आवश्यक तत्व माना है।

(3) **कार्य विस्तार :-** कार्य विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को एक कार्य सौपने की अपेक्षा कई कार्य सौपे जाने चाहिये। इससे कर्मचारी को अधिकाधिक सामाजिक सम्बन्ध बनाने कार्य प्रक्रिया पर अधिक नियन्त्रण करने तथा अपने कार्य कौशल को अधिक प्रयोग मे लाने का अवसर प्राप्त होगा। कार्य विस्तार से न केवल कार्य मे रूचि बनी रहती है वरन् मानसिक थकावट भी नही हो पाती है।

(4) **कार्य-चक्र एवं परिर्वतन :-** अभिप्रेरणा की इस विधि में कर्मचारियो को थोडे-थोडे समय के लिए विभिन्न कार्यो पर लगाया जाता है कार्य बदलते रहने से कर्मचारी अधिक उत्साह एवं रूचि से कार्य करता है तथा उसके ज्ञान एवं चातुर्य मे भी वृद्धि हो जाती है।

(5) **कार्य सम्पन्नता :-** अभिप्रेरण कि एक प्रभावशाली विधि है इसका तात्पर्य कर्मचारी के उत्तरदायित्व-क्षेत्र तथा चुनौतियों को विस्तृत करना है। रस्क के अनुसार 'कार्य सम्पन्नता मे कर्मचारी नियोजन एवं नियन्त्रण के कुछ पहलुओं को पूरा करता है और वह स्वंय कार्य संपादन भी करता है इस प्रकार कर्मचारी अपने कार्य के लक्ष्यों एवं नीतियो का निर्धारण स्वयं करने अपने कार्य वातावरण पर भी स्वयं ही नियन्त्रण रखता है।

(6) **मान्यता :-** अच्छे कार्यो की प्रशंसा तथा उपलब्धियों को मान्यता प्रदान करके व्यक्ति के अहं की सन्तुष्टि की जा सकती है अत: प्रबन्धक अपने अधीनस्थो की उपलब्धियों विचारों, सुझावों, श्रेष्ठ निष्पादन व कार्य गुणों को मान्यता प्रदान कर उनको अभिप्रेरित कर सकते हैं।

(7) **पद :-** संगठन सरचना मे व्यक्ति का अच्छा पद एवं स्थिति उसे अधिक कार्य के लिए अभिप्रेरित करती है। अच्छा पद व्यक्ति को प्रतिष्ठा एवं सम्मान देने के साथ-साथ उसमे आशा, महत्वकांक्षा एवं उपलब्धि का भाव उत्पन्न करता है योग्य व्यक्तियों को उचित

पद प्रदान करके उनकी निराशा-कुण्ठा को समाप्त किया जा सकता है तथा उनकी भूमिका मे सक्रिय बनाया जा सकता है।

(8) **सुनिश्चित लक्ष्य :-** प्रबन्ध सुनिश्चित लक्ष्यों नीतियों व उद्देश्यों का निर्धारण करके कर्मचारियो को अभिप्रेरित कर सकते है लक्ष्यों के सुस्पष्ट निर्धारण से कार्यविधियो तरीको व दृष्टिकोण से निश्चितता आ जाती है जिससे कर्मचारी अभिप्रेरित होते है।

(9) **अधिकार प्रत्यायोजन :-** अधीनस्थ कर्मचारियों की अधिकार सौंपकर तथा उनके दायित्वो का स्पष्ट निर्धारण करके उनकी कार्यकुशलता विश्वास उत्साह एवं लगन मे वृद्धि की जा सकती है। डगल बेसिल के अनुसार प्रबन्धको के पास अच्छी कार्यक्षमता, कार्य सन्तुष्टि एवं अभिप्रेरणा देने की प्रत्यायोजन एक अच्छी विधि है।

(10) **स्वतन्त्रता :-** व्यक्ति को कार्य में स्वतन्त्रता प्रदान करके अधिक प्रभावी ढंग से अभिप्रेरित किया जा सकता है। कार्य स्वतन्त्रता से व्यक्ति की निष्पादन भावना एवं मानसिक सन्तुष्टि में वृद्धि की जा सकती है इसमें कर्मचारियों में दायित्व, पहलपन नेतृत्व का जन्म होता है इसके विपरीत हस्तक्षेप व नियन्त्रण से व्यक्ति मे हीनता व अतृप्ति पैदा होती है।

(11) **सहभागिता :-** संस्था के महत्वपूर्ण निर्णयों, योजनाओ व कार्यक्रमों में कर्मचारियो को भागीदार बनाकर उनको अभिप्रेरित किया जा सकता है। सहभागिता से कर्मचारियों में आत्मविश्वास, सन्तुष्टि व सम्मान की भावना उत्पन्न होती है वे संस्था के प्रति अधिक जागरूक उत्तरदायी एवं सृजनशील बन जाते हैं।

(12) **नेतृत्व :-** प्रबन्धक कर्मचारियों को उचित नेतृत्व व प्रतिनिधित्व प्रदान करके उनके विश्वास एवं प्रेम की जीत सकते हैं जो प्रबन्धक कर्मचारियों को उचित मार्गदर्शन प्रदाने करते हैं उनकी कठिनाईयों को हल करते तथा कार्य का उचित वातावरण बनाते हैं वे कर्मचारी को अधिक उत्प्रेरित कर सकते हैं।

(13) **प्रतियोगितायें :-** प्रतिस्पर्धा मे जीना मनुष्य का स्वभाव है स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति की क्षमताओ व सृजनात्मकता को चुनौती मिलती है। प्रतियोगिता भावना से व्यक्ति श्रेष्ठ निष्पादन के लिए प्रेरित होता है।

(14) **मानवीय सम्बन्ध :-** मानवीय व्यवहार कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने का स्वंय में एक महत्वपूर्ण साधन है। कर्मचारियों को संस्था के सदस्य व हिस्सेदार मानकर उचित सम्मान देने तथा उनकी भावनाओं का आदर करने से स्वत: ही अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित हो सकते है।

17.8 सारांश

एक व्यक्ति संस्था मे अपनी शारीरिक आवश्यकताऐ जिनमे खाने, रहने एवम् कपडे पहनने की आवश्यकता मुख्य है सुरक्षा की आवश्यक्ताएँ सामाजिक आवश्यकताऐ पद व सम्मान की आवश्यकताएँ तथा स्वयं-विकास की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिए कार्य करता है इन आवश्यकताओं मे क्रमबद्धता होती है तथा असन्तुष्ट आवश्यताऐ ही प्रेरणा का काम करती है। साधारण शब्दो में अभिप्रेरणा का एक व्यवसायिक रूप में यह समझाने से है कि एक व्यक्ति

किसी विशेष स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक मेहनत से कार्य क्यों करता है इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

(1) यह एक आन्तरिक भावना है

(2) अभिप्रेरणा एक विधि है

(3) अभिप्रेरणा एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है

(4) यह आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है

(5) अभिप्रेरणा आर्थिक एवम् अनार्थिक हो सकतें है

(6) अभिप्रेरणा मनोबल से भिन्न है

(7) अभिप्रेरणा कृत्य सन्तुष्टि से भिन्न है

(8) लक्ष्यों से अभिप्रेरणा को दिशा बोध होता है

(9) अभिप्रेरणा सन्तुष्टि का कारण नही, परिणाम है

(10) यह कार्य करने की शक्ति है

(11) यह मनोवैज्ञानिक अवधारणा है

किसी भी उपक्रम मे से अभिप्रेरणा के उपायों का क्रियान्वयन कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने मनोबल बढाने आवश्यकता को सन्तुष्ट करने विकास के अवसर प्रदान करने उत्पदन क्षमता बढाने तथा कर्मचारियों मे कार्य के प्रति रूचि उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया जाता हैं।

साधारण अर्थो मे किसी कार्य के विभिन्न चरणो के संयोजन को ही प्रक्रिया कहा जाता हैं। **अभिप्रेरणा--प्रक्रिया को निम्नलिखित चरणों से गुजरना पडता है :**

(1) उद्देश्यों का निर्धारण

(2) आवश्यकताओ का अध्ययन

(3) उपक्रम के उद्देश्यों एवं कर्मचारियो के हितो का एकीकरण

(4) अभिप्रेरको का चुनाव

(5) उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना

(6) अनुवर्तन

(7) क्रियान्वयन

अभिप्रेरणा के मुख्य लाभ है :- नैतिक उत्थान लक्ष्यों की प्राप्ति में साक्षरता आवश्यकताओ की सन्तुष्टि, कार्यक्षमता मे सुधार, मानवीय साधनों का अधिकतम उपयोग, अच्छे मानवीय सम्बन्धो का विकास, कार्य सन्तुष्टि, व्यावहारिक- प्रबन्ध की कुंजी, कर्मचारियो मे स्थिरता, अनुकूलता, वातावरण उत्पन्न करना, कर्मचारी की अनुपस्थिति, आवर्तण दर मे कमी तथा परिर्वतन के विरोध का प्रबन्ध किया जाना आसान आदि।

अभिप्रेरणा की विभिन्न विचारधाराओं का विकास हुआ है जिनसे कतिपय निम्नलिखित है -

(1) भय एवं दण्ड विचाराधारा

(2) केरट तथा स्टिक विचारधारा

(3) पुरस्कार विचारधारा

(4) आवश्यकताओ की क्रमबद्ध की विचारधारा

(5) अभिप्रेरणा-आरोग्य विचारधारा

(6) औइची की z विचारधारा

(7) पथ-लक्ष्य विचारधारा

(8) सहभागिता विचारधारा

(9) व्यक्तिगत एवं सगंठनात्मक आवश्यकता विचारधारा

(10) उपलब्धि विचारधारा

(11) आशा संशोधन

उपयुक्त सभी विचारधाराएँ या तो एकलवादी है जो केवल एक मुद्रा को ही अभिप्रेरणा का साधन मानती है या फिर बहुलवादी है जो मुद्रा के अलावा अन्य मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक घटकों को भी अभिप्रेरणा का आधार मानती है अधिकांश विचारधाराएँ जो ऊपर स्पष्ट की गई है वे बहुलवादी है।

अभिप्रेरण की कई विधियाँ तथा प्रकार हो सकते हैं जिनमें धनात्मक तथा ऋणात्मक, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, आन्तरिक तथा बाहरी एवं वित्तीय तथा अवित्तीय अभिप्रेरणा मुख्य है। अभिप्रेरणा के साधनों मे पद नौकरी की सुरक्षा, कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था, प्रभाव मान्यता, अधिकारों का प्रत्यायोजन कृत्य-बदलता हिस्सेदारी, अच्छे मानवीय सम्बन्ध के कार्य कुल्यपोषण वातावरण सोद्देश्य प्रबन्ध तथा प्रभावशाली एवं रचनात्मक आलोचनाएँ मुख्य है।

17.9 महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अभिप्रेरणा क्या है ' प्रबन्ध मे इसके महत्व की विवेचना कीजिए।
2. व्यक्तियों को इच्छित तरीके से कार्य सम्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करना ही अभिप्रेरणा है, स्पष्ट कीजिए।
3. अभिप्रेरणा की समस्याओं को समझाइये और स्पष्ट करिये कि इन पर किस तरह विजय पाई जा सकती है?
4. कर्मचारियों की कार्यकुशलता वृद्धि में अवित्तीय प्रेरणाओं के योगदान को समझाइये।
5. अभिप्रेरणा की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
6. अभिप्रेरणा की विभिन्न विचारधारओ को समझाइये।

17.10 उपयोगी पुस्तकें

1. A. Maslow - Motivation and Personality
2. D. Meiregor - The Human side of enterprise
3. F. Hertzberg et al - The motivation to work

इकाई-18: संस्कृति व प्रबन्ध (Culture and management)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 संस्कृति का अर्थ

18.2 संस्कृति एवं प्रबन्ध

18.3 प्रबन्ध पर प्रभाव

18.4 सारांश

18.5 शब्दावली

18.6 प्रश्न

18.7 उपयोगी पुस्तकें

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- संस्कृति, संस्कृति एवं प्रबन्ध को समझ पायेंगे।
- संस्कृति के विभिन्न संघटक एवं उनका प्रबन्ध पर प्रभाव के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

18.1 संस्कृति का अर्थ

"समाज जीवन में आचरण को वांछित दिशा देने हेतु निर्धारित मानदण्ड व नैतिक आदेश ही संस्कृति का निर्माण करते है।"

"संस्कृति से आशय उन संस्कारों से है जो व्यक्ति व समाज को सुसंस्कृत बनाते है और व्यक्ति को मात्र अपने शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के ध्येय से कहीं ऊपर उठाते हुए उच्चतर ध्येयों की और अग्रसर करते हैं जिनसे समाज में सुव्यवस्था स्थापित होती है और उच्च जीवन आदर्शो के पालन की प्रेरणा मिलती है।"

18.2 संस्कृति एवं प्रबन्ध (Culture and management)

संस्कृति ही व्यक्ति व समाज की सहज नैसर्गिक व अनियंत्रित व्यक्तियों को परिष्कृत कर समाज जीवन के अनुकूल बनाती हैं इसीलिए संस्कृति से ही व्यक्ति व समाज के आचरण व कृत्यों का नियमन होता है। व्यक्ति की अभिवृतियां मान्यताएँ, जीवन लक्ष्य, कार्य प्रेरणाएं आदि सभी कुछ संस्कृति पर निर्भर करती है। इसलिए व्यावसायिक उपक्रमों में कार्यरत व्यक्तियों का आचरण भी उस क्षेत्र की संस्कृति से ही समस्त प्रबन्धकीय निर्णय लेना अनिवार्य हो गया है।

संस्कृति कई प्रकार से प्रबन्धकीय व्यवहारों को प्रभावित करती है। इनमें से कुछ प्रमुख प्रभावों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

18.3 संस्कृति के विभिन्न संघटक एवं उनका प्रबन्ध पर प्रभाव

संस्कृति किसी भी देश व समाज के वातावरण का प्रभाव व प्रभावी कारक होता है। व्यक्तियों के जीवन वृत्तियों, जीवन मूल्यों, अभिरूचियों, मान्यताओं प्रेरणाओं, जीवन लक्ष्यों आदि पर संस्कृति का सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। संस्कृति के परिवर्तनशील होते हुए इसमें एक निरन्तरता होती है। इसके अधिकांश भौतिक तत्वों में स्थायित्व होता है। किसी स्थान विशेष की संस्कृति के अपनी कोई विशेषताएं होती है जो अन्य स्थानों की संस्कृति से भिन्न होती है। संस्कृति का यह वैशिष्ट व्यक्ति व समाज दोनों को प्रभावित करता है। इसलिए व्यावसायिक उपक्रम संस्कृति से प्रभावित होता है। संस्कृति की ऐसी विशिष्टिताएं जो व्यावसायिक प्रबन्ध को प्रत्यक्ष में प्रभावित करती है उनमें से कुछ प्रमुख का विवेचन अग्रानुसार है:

1. **जीवन दर्शन (philosophy of life) :** प्रत्येक राष्ट्र व समाज का विशिष्ट जीवन दर्शन होता है। इस जीवन दर्शन के आधार पर -ही व्यक्ति अपना जीवन लक्ष्य, जीवन वृत्ति व अभिरूचिया आदि विकसित करता है। सामान्यत: जीवन दर्शन में व्यक्ति की कार्यशैली, कार्य प्रेरणा, कार्य की निष्ठा समर्पण सभी कुछ उसके जीवन दर्शन पर निर्भर करती है। वस्तुत: जीवन दर्शन न केवल प्रबन्धक वरन् प्रबन्धक व अधिनस्थों के भागों का पता चलता है इसलिए प्रभावी प्रबन्ध की स्थापना मैं जीवन दर्शन को दृष्टिगत रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में जीवन दर्शन के निम्न पहलू महत्वपूर्ण है :-

   a **जीवन लक्ष्य** (Aims of life) देश व समाज की परिस्थितियों व मान्यताओं के अनुरूप लोग व्यक्तिगत जीवन के तथ्य चुनते हैं। व्यक्तिगत -जीवन लक्ष्यों के अनुरूप ही प्रबन्धकीय प्रेरणाओं की रचना की जाती हैं इसलिए लोगो के व्यक्तिगत जीवन लक्ष्यों का प्रबन्ध पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

   उदाहरणत: एक औसत भारतीय अपनी व्यक्तिगत व परिवारिक समृद्धि के लिए कार्य करता है, अधिकारिक समृद्धि तो उसकी एकमात्र प्रेरणा होती है। समाज के शेष लोगो पर अपनी समृद्धि की छाप पड़े यह भाव भी उसके मन में छिपा रहता हैं। औसत मध्यमवर्गी परिवार यह भी चाहता है कि उसके सारे पारिवारिक व सामाजिक उत्सव अत्यधिक शान, शौकत एवं सम्पन्नता का प्रदर्शन करने वाले होने चाहिए, इसलिए व्यक्ति इसके पैसे या जीवन वृत्ति को इन लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन मात्र मानता है।

   दूसरी और औसत जापानी नागरिक राष्ट्र की-समृद्धि के उद्देश्य से स्वविकास का प्रयास करता है। वह अपनी समृद्धि तो चाहता है लेकिन अपनी जीवन वृत्ति में उत्कृष्टता के आत्सय राष्ट्रोत्थान करना उसका प्रमुख लक्ष्य होता है अर्थात् स्वविकास के साथ-साथ राष्ट्र का उत्थान उसका मुख्य लक्ष्य होता है।

   इसी प्रकार औसत अमरीकी नागरिक का लक्ष्य उपरोक्त दोनों ध्रुवों के बीच रहता है। व्यक्तिगत समृद्धि के ध्येय से अपने कार्य के बदले अधिकतम प्रतिफल ही उसका लक्ष्य होता है लेकिन अपनी जीवन वृत्ति में पूर्ण निपुणता व कौशल अर्जित करना भी उसका लक्ष्य होता है इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों में नागरिको के जीवन लक्ष्य कुछ भिन्नता लिये

हुए होते हैं इसलिए प्रबन्धकीय नीतियां रीतिनीति, अभिप्रेरणा आदि तदनुसार ही निश्चित की जाती है इस प्रकार प्रबन्ध पर संस्कृति का व्यापक प्रभाव होता है।

b सामाजिक दायित्वों के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards social responsibilities) : व्यक्ति का अपने परिवार समाज व राष्ट्र और समाज के विभिन्न वर्गो के प्रति क्या दृष्टिकोण है और उनके प्रति उसकी कितनी संवेदनशीलता है हमें विभिन्न वर्गो के प्रति उसके दायित्वबोध का स्तर ही उसके आचरण जीवन एवं कार्य के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित करता है।

परिवार के प्रति अत्यधिक लगाव की दशा में व्यक्ति में समाज एवं राष्ट्र के प्रति उपेक्षाभाव विकसित हो सकता है। पारिवारिक दायित्वों की अधिकता अथवा परिवार के प्रति अत्यधिक संवेदनशीलता की दशा में व्यक्ति अपने पेशे अथवा कार्य क्षेत्र में उत्कृष्टता लाने के प्रति उदासीन हो जाता है। परिवारिक समस्याएं भी व्यक्ति का कार्य से ध्यान बटाती रहती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों में व्यक्ति का परिवार के प्रति दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिन राष्ट्रों में एवं समुदायों में पारिवारिक सम्बन्धों की जितनी अधिक प्रगाढ़ता होती है व्यक्ति अपने कार्य अथवा पेशे के प्रति उदासीन हो जाता है। इसीलिए पारिवारिक दायित्वों की प्रकृति प्रबन्धकों व पर्यवक्षको के स्तर को प्रभावित करती है।

अनेक राष्ट्र व समुदाय ऐसे है जिनमें पारिवारिक बन्धन नाममात्र के होते हैं यथा पश्चिम यूरोपीय राष्ट्रों में बहुत बड़ी संख्या में निसंतान दम्पति एवं अविवाहित युगल देखे जा सकते हैं। एकांकी जीवन बिताने वाले पुरूषों व महिलाओं की संख्या भी बहुत बड़ी होती है ऐसे व्यक्ति केवल अपनी भौतिक समृद्धि एवं कार्यो अथवा जीवन वृत्ति में प्रगति में प्रगति या निपुणता ही लक्ष्य बनाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को संगठन के लक्ष्यों की और अग्रसर करने में कोई कठिनाई नही होती है इसमें अधिकतर में आत्मनिदेशन एवं आत्म समन्वय का भाव भी देखा जा सकता है।

दूसरी और अनेक अल्पविकसित राष्ट्रों विशेष कर अफ्रीकी राष्ट्रों में अत्यन्त बड़े परिवार देखे जा सकते है। बच्चों की अधिकता एवं अन्य पारिवारिक समस्याएं व्यक्ति के समय व ऊर्जा का बहुत बड़ा अंश नष्ट कर देती है इसलिए वहां पर प्रत्यक्ष अभिप्रेरण, निकटतम पर्यवेक्षण एवं सतत् निदेशन आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति का अपने परिवार, समुदाय व राष्ट्रों के प्रति क्या दृष्टिकोण है यह बात भी प्रबन्धकीय प्रक्रियाओं व तकनीको को बहुत अधिक प्रभावित करती है। इसलिए संस्कृति का यह पहलू भी प्रबन्धकीय रातिनीति में भारी अन्तर उत्पन्न करता है।

c जीवन के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards life) जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण भी व्यक्ति के आचरण व व्यवहार को बहुत अधिक प्रभावित करता है जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण अनेक कारकों से प्रभावित होता है। भिन्न-भिन्न समुदायों, स्थानों एवं राष्ट्रों में लोगो का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकता है इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत विविधताएं भी बहुत अधिक पाई जाती है। कारण कोई भी हो जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण का भी प्रबन्धकीय प्रक्रियायों, तकनीकों, एवं व्यवहार पर

अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है :

(1) उपयोगवादी दृष्टिकोण

(2) बचत व संचयवादी दृष्टिकोण

(3) सामाजिक सम्बन्धीवादी दृष्टिकोण

(4) उदासीनतावादी दृष्टिकोण

उपभोग, बचत, जन सम्पर्क एवं आर्थिक विरक्ती के भाव प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं। उपयोगवादी दृष्टिकोण की दशा में उस समाज व देश में वस्तुओं की मांग में तीव्रता से वृद्धि होती है लेकिन वैयक्तिक बचते व निवेश अत्यन्त अल्प होता है जबकि भारत जैसे बचत प्रधान राष्ट्र में परिवारों के उपभोक्ता वस्तुओं के व्यय की अपेक्षा पारिवारिक बचतों पर अधिक बल दिया जाता है इसलिए मांग में अपेक्षाकृत धीमी गति से वृद्धि होती है लेकिन निवेश हेतु व्यक्तिगत बचतों की पर्याप्त मात्रा सुलभ हो जाती है। इसी प्रकार अर्थ की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्धों को प्राथमिकता देने वाले समुदायों में एवं अर्थ के प्रति उदासीन व्यक्ति वाले समुदायों में महत्वाकांक्षाओं का भी अभाव होता है और व्यक्तिगत आवश्यकता एवं उपभोग भी सीमित होता है इसलिए इन अन्तिम दो श्रेणी के दो समुदायों में न्यूनतम कार्य करने की प्रवृति रहती है। इसलिए व्यावसायिक उपक्रमों के प्रबन्ध में सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना चाहिए।

2. **सामाजिक परम्परायें एवं मान्यताएं (Social customs and Assumptions) :** सामाजिक परम्परायें, रीति रिवाज व मान्यताएं भी लोगों के आचरण व्यवहार एवं कार्यशैली को प्रभावित करते है। शीर्ष प्रबन्ध से सामान्य कार्मिक स्तर तक में अधिकारियों व कर्मचारियों के कार्य के प्रति दृष्टिकोण कर्तव्य परायणता एवं कर्तव्यनिष्ठा को प्रभावित करते है। इसलिए स्थानीय परम्पराओं एवं मान्यताओं के कारण भी प्रबन्धकीय सिद्धान्तों के व्यवहार में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। समस्त प्रबन्धकीय निर्णयों के अधीनस्थों के दृष्टिकोण सामाजिक परम्परा व मान्यता को दृष्टिगत रखना होता है क्योंकि ये कार्मिक व्यवहार को बहु त अधिक प्रभावित करती है।

3. **नियमनिष्ठता (Respect of Rules) :** व्यक्ति की नियमों के प्रति प्रतिबद्धता में भारी अन्तर पाया जाता है। कई समुदायों व राष्ट्रों में व्यक्ति में स्वत: नियम पालन की वृति होती है इसके विपरीत कहीं-कही नियमों के उल्लंघन अथवा युक्ति पूरक वैधानिक दायित्वों से बचने की प्रवृति होती है इसलिए प्रबन्धकीय निर्णयों व प्रक्रियाओं में इस बात को दृष्टिगत रखना आवश्यक हो जाता है। जहां स्वमेव विधान एवं नियमों के पालन की वृत्ति होती है वहां अधिकारों के विकेन्द्रीकरण, प्रत्यावर्तन एवं प्रबन्धकीय मुक्त नेतृत्व शैली का अनुसरण किया जाना चाहिए। इसके विपरीत जहां व्यवस्थाओं एवं नियमों की अवहेलना की संभावना होती है वहां दृढ़ प्रबन्ध की अनुशासन विस्तृत नियोजन एकाधिकारी नेतृत्व एवं सतत् पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार नियम पालन के प्रति वैयक्तिक व सामाजिक दृष्टिकोण जो कि किसी समुदाय अथवा सामाजिक समृद्ध की संस्कृति का एक प्रमुख घटक होता है, प्रबन्धकीय शैली को बहुत अधिक प्रभावित करता है।

4. **प्रशासकीय वातावरण (Administrative Environment) :** विभिन्न राष्ट्रों में प्रशासन की कार्यशैली एवं रीति नीति भिन्न-भिन्न होती है। व्यावसायिक प्रबन्धको को सतत् प्रशासकीय सहयोग की आवश्यकता रहती है। जिन राष्ट्रों मे उद्यमियों को उदारता पूर्ण प्रशासकीय सहयोग सुलभ होता है वहां प्रबन्धको का कार्य सहज व सरल हो जाता है। विभिन्न प्रकार के अनुमोदन व अनुज्ञायें सहज से प्राप्त हो जाती है। इनकी प्राप्ति मे न्यूनतम औपचारिकताएँ करनी पड़ती है। विभिन्न प्रकार के प्रतिवेदन व विवरणिकाऐ प्रस्तुत करना सरल होता है लेकिन जिन राष्ट्रों में प्रशासकों एवं शासकीय लिपिको की अवरोध व बाधाएं डालने की वृत्ति होती है और शासन सचिवालय में फाइलों पर आपत्तिजनक टिप्पणियां अंकित करने से संस्कृति विकसित हो जाती है, वहां पर परियोजना में विलम्ब आकस्मिक प्रतिबन्धों एवं छोटी-छोटी अव्यवहारिकताओ को पूरी करने की विवशता बनती है। अनेक बार एक विभाग की नीतियां व प्रक्रियाएँ सरकार के दूसरे विभाग की नीतियों व प्रक्रियाओं से विरोधाभास लिए हुए होती है ऐसे में विभिन्न शासकीय औपचारिकताओं को पूरा करना कठिन ही नही असंभव हो जाता है। उदाहरणार्थ होंडा मोटर कम्पनी को भारत में कार उत्पादन की अनुमति देने के उपरान्त वाणिज्य व उद्योग मंत्रालय ने उन्हें कार उत्पादन सम्बन्धी सुविधाएं जुटा कर उत्पादन आरम्भ करने की तैयारी करने को कह दिया। इस सम्बन्ध मे आवश्यक मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टेंडिंग हस्ताक्षरित करने की औपचारिकता के बारे में मन्त्रालय ने यह कह दिया कि यह तो मात्र औपचारिकता है जिसे बिना अवरोध के पूरा कर लिया जावेगा। होंडा कम्पनी द्वारा संयन्त्र स्थापित करने के बाद मेमोरेन्ड्म ऑफ अंडरस्टेडिंग हस्ताक्षरित करने के आग्रह करने पर वाणिज्य मंत्रालय ने कह दिया कि मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टेंडिंग के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति बनाने में अभी समय लगेगा। तब तक आप उत्पादन प्रारम्भ नही कर सकते। बेहतर होगा कि आप खुली सामान्य अनुज्ञापन नीति के अन्तर्गत आयात से आप अपनी सामान्य आवश्यकताएं पूरी कर लें। लेकिन दूसरी तरफ विदेशी व्यापार के महानिदेशक ने आयात अनुज्ञा देने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टेंडिंग हस्ताक्षर करने से पूर्व ऐसा करना सम्भव नही है। वस्तुतः यहां इस प्रकार का प्रशासकीय वातावरण व प्रशासकीय, असहयोग की स्थिति होती है वहां उद्यमियों को सारी वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करने की प्रवृत्ति रखनी चाहिये। वैसे ऐसी प्रशासकीय बाधाओं से भारत को एक लाभ अवश्य हुआ है कि विदेशी निवेशक जिस गति से भारतीय अर्थव्यवस्था को हस्तगत करने की तैयारी कर रहे थे उस पर पर्याप्त अंकुश लगा है।

   इसके विपरीत जिन राष्ट्रों में सैद्धान्तिक अनुमोदन के बाद शेष औपचारिकताएं बिना अवरोध के पूरी हो जाती है वहां पर उद्यमी व प्रबन्धक सैद्धान्तिक अनुमोदन पर कार्य प्रारम्भ कर सकते है। इस प्रकार प्रशासन की संस्कृति भी प्रबन्ध की नीतियों व शैलियों को प्रभावित करती है।

5. **सामाजिक चेतना एवं सामाजिक संगठनों की प्रवृत्तिया (Social Consciousness and Attitude of Social Organisation) :** जिन राष्ट्रों मे लोकहित के प्रति सामाजिक संगठन अत्यन्त संवेदनशील व सजग होते है जहां पर उद्‌यमियों एवं प्रबन्धको के लोकहित को सर्वोच्च महत्व देना चाहिये जिससे उन्हे सामाजिक विरोध का सामना नही करना पड़े वैसे तो उद्‌यमियों को सर्वत्र लोकहित को सर्वोपरि महत्व देना चाहिये लेकिन जहां पर सामाजिक सजगता बहुत अधिक होती है वहां पर उनके निर्णयों मे थोड़ी सी अपारदर्शिता लोकहित मे भारी जोखिम उठाना पड़ सकता है। उदाहरण के लिए भारत अथवा किसी लोकतांत्रिक राष्ट्र में उद्‌यमियों के किसी भी प्रकार के अवांछित आचरण पर कई जन आदोलन एवं लोकहित याचिकाएं प्रस्तुत कर दी जाती है। जैसे कर्नाटक में कार्बिल नमक के कारखाने को ढहा देना, गहरे समुद्र में बहुराष्ट्र कम्पनियों को मत्स खेत की समस्या के विरूध मछुआरों का आन्दोलन एनरान कम्पनी की डोबोट परियोजना के विरूद्ध जन आन्दोलन पर कम्पनी द्‌वारा बिजली के दामों मे कमी किया जाना आदि कई ऐसे उदाहरण है। सामाजिक संगठनों की सजगता से उद्‌यमियों द्‌वारा लोकहित की उपेक्षा नही चल सकती है। इसके विपरीत चीन आदि कई राष्ट्रों में उद्‌यमियों या निवेशको के शासन द्‌वारा दी गई छूट के विरूद्ध कभी कोई जन आन्दोलन नही होते है।

इसलिये उद्‌यमियों व प्रबन्धको को कोई निर्णय लेने से पूर्व राष्ट्र विशेष, एक स्थान विशेष की सामाजिक चेतना एवं सामाजिक संगठनो की प्रवृतियों को दृष्टिगत रखना आवश्यक हो जाता है।

6. **साम्प्रदायिक मान्यताएं व विश्वास (Assumptions and Faith of Community) :** साम्प्रदायिक मान्यताएं विश्वास एवं आस्थाएँ भी किसी देश व क्षेत्र के नागरिको के व्यवहार एवं वहां के शासकीय नियमों को प्रभावित करती है। इसलिए प्रबन्धकीय व्यवहार भी तद्नूरूप समायोजित किये जाने चाहिये। कभी-कभी तो साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण किसी उद्‌योग विशेष की प्रकृति ही बदल जाती है। उदाहरणार्थ इस्लामिक राष्ट्र बीमा व्यवसाय का प्रबल विरोध करते है। अरब राष्ट्रों की मान्यता है कि बीमा व्यवसाय बीमित की मृत्यु हो जाने पर उसके नामांकित व्यक्ति को जो बीमित राशि मिलती है, वह अल्लाह की मर्जी के उपरान्त बीमित धन का भुगतान अल्लाह की मर्जी की अवहेलना है। इसलिये कई इस्लामिक अरब राष्ट्रों में बीमा कम्पनियों को अपने सामान्य स्वरूप को अनुमती नही दी जाती है।

इसी प्रकार ब्याज अर्जित करना भी इस्लाम विरोधी माना जाता है इसलिये इस्लामिक बैकिंग पद्धति भी सामान्य बैकिंग व्यवहारों से भिन्न है।

7. **साम्प्रदायिक संस्थानों का लोक आचरण पर प्रभाव व दबाव (Influence and Pressure of Communal Institution) :** विभिन्न सम्प्रदायों की जो नियमनकारी संस्थाएँ है उनके द्‌वारा उद्‌घोषित नियम, उनकी बाध्यकारिका (कट्टरता) एवं उनके प्रति जन प्रतिक्रियाएं भी किसी स्थान या राष्ट्र विशेष मे व्यावसायिक प्रबन्धको व उद्‌यमियों के निर्णयों व रीति नीति को प्रभावित करते है। उदाहरणार्थ इस्लाम व ईसाई समाज पर क्रमश: पादरियों व मौलवियों की उद्‌घोषणाओं का बहुत अधिक प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ अधिकांश ईसाई नियमित रूप से सप्ताह में एक दिन उनके सम्बन्धित गिरिजाघर में जाते है। इस प्रकार वहां के धर्मोपदेश

व अन्य सन्देश उनके सम्प्रदाय विशेष के सभी व्यक्तियों तक अनिवार्यत: पहुँचते है आर्थोडाक्स चर्च को छोड़ जिसका संगठन उस देश विशेष में ही परिमित रहता है शेष सभी गिरिजाघरों (चर्चो) का संगठन विस्तार विश्वगत होता है। इस प्रकार किसी चर्च विशेष के जो धर्मोपदेश है उसके सभी अनुयायियों तक पहुँचते है, जिससे उनका आचरण तदनुरूप ही प्रभावित होता है।

इसी प्रकार इस्लामी मौलवियों की उद्घोषणाओ का भी अधिकांश इस्लामी अनुयायी अक्षरश: पालन करते है। उनकी वेशभूषा व व्यवहार आदि सभी इसी से प्रभावित होते है, यहां तक की दूरदर्शन व रंगमंच के कार्यक्रम भी तद्नुरूप ही प्रायोजित होते है।

इसके विपरीत हिन्दुओं में इनके आचार्यो के उपदेश आध्यात्मिक क्रिया कलापों तक ही परिमित रहते है। इस स्वायतत्ता के कारण उनके सामाजिक जीवन में पूर्ण स्वतन्त्रता या विविधता देखी जा सकती है। उनमें युगानुकूल समायोजन परिवर्तन की गति तीव्र है। मन्दिरों का कोई संगठन व केडर नही होने से व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन में भी पूर्ण स्वायत्तता पूर्वक व्यवहार करता है।

इसलिये प्रबन्धक को किसी क्षेत्र विशेष के लिये उत्पाद नियोजन करने, विज्ञापन सामग्री तैयार, करने आदि में स्थानीय साम्प्रदायिक विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखना चाहिये।

8. **खान-पान व रहन-सहन (Food and living habits) :** खान-पान व रहन-सहन भी वस्तु नियोजन में ध्यान रखने योग्य एक महत्वपूर्ण कारक होता है उदाहरण के लिये भारत में हिन्दू मान्यताओं के कारण अधिकांश लोग शाकाहारी है आध्यात्मिक कारणों से मांसाहार त्याग होने के कारण शिशु आहार, टाफीयों, बिस्कीट व अन्य डिब्बा बन्द पदार्थो मे अंडो या अन्य गैर शाकाहारी तत्वों का समावेश नही किया जा सकता है। अन्य राष्ट्रों में इन उपरोक्त उत्पादों में अण्डो आदि का समावेश अकसर होता है। इसी प्रकार चीन में रेनेट मिलाये जाने के कारण शाकाहारी लोग चीज का उपयोग नही करते है जबकि पनीर का प्रचलन यहां बहुत अधिक है। इस प्रकार वस्तु विन्यास से भी विभिन्न राष्ट्रों व समुदायों में भिन्न-भिन्न मानदण्ड है। फांस, इटली या आस्ट्रेलिया में महिलायें जिस प्रकार के अंग प्रदर्शनकारी वस्त्र सहजता से पहनती है वैसे भारत मे सामान्य रूप से नही पहने जाते है इसके विपरीत इस्लामी देशों में बुरके की अनिवार्यता एवं पारम्परिक वेशभूषा के दृढ़ आग्रह को देखते हुए केवल पारम्परिक शैली वस्त्र ही बेचे जा सकते है। सिले-सिलाये वस्त्रों का उद्योग भी अत्यन्त विशाल है। इस उद्योग में आजकल अर्न्तराष्ट्रीय ब्राण्डों का प्रचलन बढ़ रहा है, अरबों डीलर के विश्व व्यापार को देखते हुए वस्त्रों को उद्योग से सम्बन्धित प्रबन्धकों को वस्त्र परचना (डिजाइनिंग) करते समय विभिन्न राष्ट्रों को इस विशिष्टता को भी दृष्टिगत रखना चाहिये।

9. **विवाह आदि सामाजिक रीति रिवाज (social traderation like marriage etc) :** विवाह एवं अन्य सामाजिक रीति रिवाजों के सम्पादन की रीतियां भिन्न-भिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार की है। भारत के हिन्दू समुदाय में इन्हें जितनी धूमधाम से बड़े स्तरों पर मनाया जाता है वैसा अन्य स्थानों पर नही होता है। इसलिए कैटरिंग उद्योग एवं अन्य सहायक उद्योगो का जितना विस्तार यहां पर है उतना अन्यत्र नही देखने में आते है। भारतीय संस्कृति की बचत प्रधानता का यह भी एक प्रमुख कारण है। लोग अपनी आय के बड़े अंश को बचाकर

उसका अधिकाधिक निवेश करते है इसलिए भारत में बैंको की जमा मे घरेलू बचतों का जितना अंशदान है उतना अन्य राष्ट्रों में नही होता है।

इसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रथा होने के कारण व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था के बारे में जितना चिन्तित नही रहता है जितना पश्चिमी राष्ट्रों मे रहता है। इसलिए पश्चिमी देशों मे वृद्धावस्था बोझ एवं अन्य ऐसे ही सामाजिक सुरक्षा संबंधी बीमा व्यवसाय बहुत अधिक उन्नत है।

10. **राजनैतिक संगठन व उनकी संस्कृति (political party and their culture) :** विभिन्न राष्ट्रों में राजनैतिक दलो की रचना, रीति नीति एवं उनकी व्यापकता में भारी अन्तर पाया जाता है। जिन राष्ट्रों में राष्ट्रपति प्रणाली है मतदाता शिक्षित व जागरूक है एवं राजनैतिक दलों के कार्यक्रम मतदान का आधार होते हैं वहां केडर आधारित राजनैतिक दलों का विशेष महत्व नही होता है इसलिए राजनीतिक दलों के संचालन पर विशेष व्यय नही करना पड़ता है। इसके विपरीत संसदीय लोकतंत्र वाले राष्ट्रों में और विशेषकर भारत जैसे देश में जहां अशिक्षा के कारण किसी दल विशेष के पक्ष में मतदान करवाने के लिए उस दल के कार्यकर्त्ताओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है वहां अत्यन्त व्यापक आधार वाले राजनैतिक आधार की आवश्यकता होती है। सामान्यत: राजनैतिक दलों के खर्च व्यावसायिक उपक्रमों द्वारा दिये जाने वाले चन्दे से चलते है इसलिए उद्यमों व राजनैतिक दलों के बीच निकट का पारस्परिक सम्बन्ध रहता है।

इसमें से भी सर्वथा विपरीत स्थिति गैर लोकतांत्रिक राष्ट्रों में होती है जहां राजनैतिक दल होते ही नही है। वंशानुगत एकाधिकारगत शासन होता है। वहां उद्यमियों व प्रबन्धकों को इस और कोई ध्यान नही देना होता है।

जहाँ राजनैतिक दल अस्थिर होते हैं वहां आर्थिक नीतियां भी नही दलों दिशा तक की जाती है जो सारे उद्योगो को प्रभावित करती है। इसलिए उद्यमों व प्रबन्धक इस बात के लिए भी सचेष्ट रहते हैं कि सभी प्रभावी राजनैतिक दलों की नीतियां उनके दल के अनुकूल रहे।

इस प्रकार राजनीतिक दल व उनकी संस्कृति भी प्रबन्ध व उसकी रीति-नीति को प्रभावित करती है।

11. **नगर व ग्राम जीवन शैलियां (urban and rural life system) :** संगठन में कार्यरत अधिकारियों व कर्मचारियों की जीवन शैलियां भी संगठन के वातावरण व कार्य को प्रभावित करती है। इसलिए व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं व्यवहार किसी क्षेत्र विशेष के नगरीय व ग्रामीण जीवन से भी प्रभावित होते है। उदाहरणार्थ केरल प्रान्त में अधिकांश लोग गांव बसाकर रहने की अपेक्षा अपने अपने खेतों पर ही रहते है। इसी प्रकार सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप में भी अपने अपने खेतों पर रहने की परम्परा है।

इसी प्रकार नगरों में भी अनेक विविधताऐं देखी जा सकती है। नगर के आधार, धरातलीय बनावट, जनसंख्या का घन्तव, नागरिक सुविधाओं की उपलब्धि परिवहन सुविधायें आदि भी भिन्न- भिन्न होती है।

अधिकारियों व कर्मचारियों की वेतन सम्बन्धी अपेक्षायें, आवासीय आवश्यकताएँ, भौगोलिक गतिशीलता, कार्य पर नियमितता, प्रत्यावर्तन दर आदि में उनकी पृष्ठभूमि अर्थात वे किस प्रकार के नगर या गांव से आये है और कहां पर उन्हें कार्य मिला है, का बहुत अधिक प्रभाव

होता है। संगठन के प्रबन्ध को इन सारे तथ्यों को दृष्टिगत रखकर उनके सम्बन्ध में निर्णय लेने होते है।

12. **उत्सव समारोह आदि (Festivals and functions) :** भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न उत्सवों का विशेष महत्व होता है। एक से अधिक मतावलम्बी जहां पर होते हैं वहां मिश्रित संस्कृति देखी जा सकती है। यूरोपीय राष्ट्रों मे क्रिसमस, गुड फ्राइडे एवं एक जनवरी से प्रारम्भ होने वाले नव वर्ष का विशेष महत्व होता है। अरब देशों में ईद व बाराबफात का विशेष महत्व होता है। भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक प्राचीन होने से भारत में अनेक प्रकार के उत्सव व समारोह होते हैं, यथा दीपावली, होली, रक्षा बन्धन दुर्गाष्टमी, राम नवमी, चेटीचण्ड महावीर जयन्ती, अक्षय तृतीया, रथ यात्रा, गणगौर, गणेश चतुर्थी अनन्त चतुर्थदशी पर्यूषण, जन्माष्टमी, नवरात्री, दशहरा, मकर सक्रान्ति, बसन्त पंचमी, शिवरात्री आदि अनगिनत उत्सव है।

प्रत्येक क्षेत्र विशेष के छुट्टियों के केलेंडर, कार्यक्रम, क्रय विक्रय, व्यापारिक लेन-देन लेखा वर्ष गणना, उत्सव विशेष पर बिकने वाली वस्तुयें, कार्मिक की बोनस व त्यौहारिक उपहार की अपेक्षाये आदि भिन्न होती है। पर्यटन उद्योग के उतार चढ़ाव तो सीधे इन्ही से जुडे रहते है और अन्य उद्योग भी इनसे काफी प्रभावित होते है। इसलिए व्यावसायिक प्रबन्धकों को ये तथ्य दृष्टिगत रखकर ही प्रबन्धकीय निर्णय लेने होते है। समग्र नियोजन ही इन पर निर्भर करता है।

18.4 सारांश

इस इकाई को पढ्ने से संस्कृति एवं प्रबन्ध, संस्कृति के विभिन्न संघटक एवं उनका प्रबन्ध पर प्रभाव, सामाजिक परम्परायें एवं मान्यताएं, नियमनिष्ठा प्रशासकीय वातावरण, सामाजिक चेतना एवं सामाजिक संगठनों की प्रवृतियां, साम्प्रदायिक मान्यताएं व विश्वास, साम्प्रदायिक संस्थानों का लोक आचरण पर प्रभाव व दबाव, खान-पान व रहन-सहन, विवाह, राजनैतिक संगठन व उनकी संस्कृति, नगर व ग्राम जीवन शैलियां, उत्सव समारोह आदि के बारे में ज्ञान होता हैं।

18.5 शब्दावली

जीवन लक्ष्य : देश व समाज की परिस्थितियों व मान्यताओं के अनुरूप लोग व्यक्तिगत जीवन के तथ्य चुनते है।

संस्कृति से आशय उन संस्कारों से है जो व्यक्ति व समाज को सुसंस्कृत बनाते है और व्यक्ति को मात्र अपने शारिरीक आवश्यकताओं की पूर्ति के ध्येय से कही ऊपर उठाते हुए उच्चतर ध्येयों की और अग्रसर करते है जिनसे समाज में सुव्यवस्था स्थापित होती है और उच्च जीवन आदर्शो के पालन की प्रेरणा मिलती है।"

जीवन दर्शन :- जीवन दर्शन के आधार पर ही व्यक्ति अपना जीवन लक्ष्य, जीवन वृत्ति व अभिरूचियां आदि विकसित करता है। सामान्यत: जीवन दर्शन में व्यक्ति की कार्यशैली, कार्य प्रेरणा, कार्य के निष्ठा समर्पण सभी कुछ उसके जीवन दर्शन पर निर्भर करते है।

18.6 व्यावहारिक प्रश्न

1. संस्कृति को परिभाषित कीजिये। संस्कृति के विभिन्न संघटक एवं उनका प्रबन्ध पर प्रभाव को विस्तार से समझाइये।

18.7 उपयोगी पुस्तकें

1. प्रबन्ध अवधारणा, चिन्तन एवं विकास, लेखक जी. एस. सुधा, रमेश बुक डिपो, जयपुर
2. Organizational development, WL French and CH Bell Jr. Prentice Hall, New Delhi

इकाई-19: संगठनात्मक परिवर्तन / परिवर्तन - प्रबंध (Organisational Change / Management of Change)

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 संगठनात्मक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा

19.2.1 संगठनात्मक परिवर्तन की प्रकृति

19.2.2 संगठनात्मक परिवर्तन के प्रकार

19.3 परिवर्तन प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

19.4 संगठनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता / कारण अथवा परिवर्तन प्रबन्ध की आवश्यकता एवं महत्व

19.5 संगठनात्मक परिवर्तनों पर कर्मचारियों की प्रतिक्रियाऐं

19.6 संगठनात्मक परिवर्तनों के प्रतिरोध के कारण

19.7 परिवर्तन प्रतिरोध को कम करने के उपाय

19.8 परिवर्तन प्रबन्ध की प्रक्रिया

19.9 सारांश

19.10 प्रश्न

19.11 उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :-

- संगठनात्मक परिवर्तन की परिभाषा तथा प्रकृति को समझ सके
- संगठनात्मक परिवर्तन के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कर सके
- परिवर्तन प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कर सके
- संगठनात्मक परिवर्तन के कारण अथवा परिवर्तन प्रबन्ध की आवश्यकता तथा महत्व का वर्णन कर सके
- संगठनात्मक परिवर्तनों पर कर्मचारियों की प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त कर सके
- संगठनात्मक परिवर्तन के प्रतिरोध के कारण एवं परिवर्तन प्रतिरोध को कम करने के उपायों को स्पष्ट कर सके
- परिवर्तन प्रबन्ध की प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त कर सके।

19.1 प्रस्तावना (Introduction)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है तथा जीवन का एक महत्वपूर्ण सत्य। सम्पूर्ण वातावरण में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं तथा वातावरण को गतिशील बनाते हैं। इस गतिशील वातावरण में व्यक्ति तथा संगठन का गतिशील रहना भी आवश्यक है क्योंकि मानवीय गतिविधियों या जीवन का कोई भी क्षेत्र विज्ञान, प्रोद्योगिकी राजनीतिक, आर्थिक, कला व्यवसाय प्रबंध संगठनात्मक व्यवहार तकनीकी आदि परिवर्तनों के प्रभावों से अछूता नहीं है। प्रबंध का सम्पूर्ण क्षेत्र भी गतिशील है। निरन्तर बदलती हुई प्रबन्ध की प्रकृति प्रबन्धकीय शैलियों, संगठन संरचनाओं, कार्य तकनीकों विचारधाराओं तथा नेतृत्व शैलियों आदि ने प्रबन्ध को गत्यात्मक एवं जटिल बना दिया है। इसी तरह यह स्थिति व्यवसाय या संगठन पर भी लागू होती है। संगठन आंतरिक तथा बाह्य वातावरण के तत्वों से प्रभावित होता है। अत: किसी भी संगठन की सफलता इन तत्वों के साथ पूर्ण समन्वय करने पर ही निर्भर करती है। अर्थात् परिवर्तनों के प्रबन्ध पर ही निर्भर करती है।

परितर्वनों का प्रबन्ध आधुनिक प्रबन्धक का एक सबसे महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। **क्रिस आर्गीरिस (Chris Argyris)** के अनुसार, "बदलते हुए भविष्य का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए सृजनात्मक एवं परिवर्तन का अनुमान करने वाले प्रबन्धक ही एकमात्र आशा है।" यह सच है कि न केवल व्यवसाय वरन् सम्पूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालियों की सफलता परिवर्तनों के सफल प्रबन्ध पर ही निर्भर करती है।

इसी तरह **आल्विन टॉफलर (Alvin Toffler)** का मत है कि वातावरण गतिशील एवं जटिल है तथा भविष्य में गतिशील एवं जटिल बना रहेगा तथा यह भावी सदमे या आघात (Future shock) के रूप में हमें डराता रहेगा। ' इस प्रकार तीव्र गति से घटित हो रहे आक्रामक परिवर्तनों, नवकरणों विकास प्रवृत्तियों का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है तभी प्रबन्धक अपने संगठन को सफलतापूर्वक जीवित रख सकता है।

इवेल लिखते हैं कि "प्रबन्धकों में से वे व्यक्ति महानतम होगें जो परिवर्तन का प्रबन्ध कर सकते हैं।"

अत: यह कहा जा सकता है कि परिवर्तनों का प्रबन्ध करना एक सरल कार्य नहीं है। कोई भी प्रबंधक परिवर्तनों से बच नहीं सकता है। वह परिवर्तनों से प्रभावित भी होता है तथा कर्मचारियों द्वारा परिवर्तनों का विरोध भी किया जाता है। अत: परिवर्तनों को सफलतापूर्वक लागू करने, अपनाने, सामना करने अथवा उनका प्रत्युतर देने के लिए प्रबंधकों को विशेष योग्यता रखनी पड़ती है अर्थात् नवीन स्थिति में अपनी अद्भुत क्षमता का प्रदर्शन करना होता है।

19.2 संगठनात्मक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Organisational Change : Meaning and Definition)

परिवर्तन संगठनात्मक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण तथ्य है। प्रत्येक संगठन आंतरिक एवं बाह्य परिवर्तनों से प्रभावित होता है। अत: संगठन की सफलता परिवर्तनों के साथ पूर्ण समन्वय

करने पर ही निर्भर करता है। **फुलमर** के अनुसार "संगठन के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार के परिवर्तनों से सम्पूर्ण संगठन प्रभावित होता है।"

राबर्ट फुलमर (Robert Fulmer) के अनुसार :- "संगठनात्मक परिवर्तन से तात्पर्य संगठन के सम्पूर्ण वातावरण में होने वाले किसी भी प्रकार के परिवर्तन से है।"

सामान्यत: संगठनात्मक परिवर्तन से तात्पर्य किसी संगठन की संरचना, नीतियों, क्रियाओं, तकनीकों, कार्यविधियों, कर्मचारियों की भूमिका आदि में किए जाने वाले परिवर्तनों से है। इन परिवर्तनों का उद्देश्य उस संगठन को उत्पादकता, लाभ देयता, प्रतिस्पर्धी क्षमता तथा कर्मचारी संतुष्टि में वृद्धि कर वातावरण की चुनोतियों का सामना करना होता है।

निष्कर्षानुसार :- संगठनात्मक परिवर्तन -किसी भी संगठनात्मक संरचना या व्यवस्था में किया गया या किया जाने वाला वह नियोजित परिवर्तन है जिससे उस संगठन की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता (Efficiency and effectiveness) की अभिवृद्धि में योगदान मिलता है।

19.2.1 संगठनात्मक परिवर्तन की प्रकृति (Nature of organisational change)

संगठन में परिवर्तन का स्रोत आंतरिक या बाह्य हो सकता है। परिवर्तन संस्था के हित को अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकता है। अत: संगठनात्मक परिवर्तन की प्रकृति निम्न तथ्यों से स्पष्ट की जा सकती है :-

1. संगठनात्मक परिवर्तन किसी संगठन के सम्पूर्ण वातावरण में घटित होने वाले परिवर्तनों से है। कुछ परिवर्तन संगठनात्मक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते है तो कुछ बाह्य परिस्थितियों के द्वारा संगठन पर लादे जाते हैं, जैसे-सरकारी नीतियों के द्वारा उत्पन्न होने वाले परिवर्तन।
2. किसी भी संगठन के अस्तित्व, विकास, प्रभावशीलता के लिए आवश्यक है कि वो परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को बदले। संगठनात्मक परिवर्तन प्रचलित मूल्यों व मान्यताओं के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकते हैं तथा विद्यमान व्यवस्था के लिए हितकारी अथवा अहितकारी सिद्ध हो सकता है।
3. संगठनात्मक परिवर्तन उस दशा में होता है जबकि परिवर्तन की प्रेरक शक्तियों का प्रभाव परिवर्तन की प्रतिरोधक शक्तियों के प्रभाव से अधिक होता है।
4. संगठनात्मक परिवर्तन नियोजित रूप से लागू किये जाते हैं, अत: ऐसे परिवर्तनों को सफलतापूर्वक लागू करने में सुविधा होती है। इन परितर्वनों का उद्देश्य संगठन की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता में वृद्धि करना होता है।
5. संगठनात्मक परिवर्तन का संगठन के प्रत्येक पहलू अर्थात् तकनीकी, सेविवर्गीय वित्तिय, विपणन आदि पर प्रभाव होता है। संगठनात्मक परिवर्तनों को सहज स्वीकार नहीं किया जाता है, उनका प्रत्येक स्तर पर विरोध अवश्य होता है।
6. परिवर्तन विकासात्मक. क्रान्तिकारी अथवा तात्कालिक हो सकते है।

19.2.2 संगठनात्मक परिवर्तनों के प्रकार (Types of organisational changes)

संगठनात्मक परिवर्तनों के प्रकारों को दो आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है:-

(I) प्रकृति के आधार पर :

इसके आधार निम्न प्रकार के हो सकते हैं :-

1. **अपेक्षित परिवर्तन (Anticipatory changes) -** अपेक्षित परिवर्तन वे परिवर्तन होते हैं जो नियोजित रूप में किये जाते हैं ताकि संभावित परिस्थितियों का लाभ उठाया जा सके। ऐसे परिवर्तन पूर्व-सक्रियात्मक प्रवृत्ति के होते हैं।
2. **प्रतिक्रियात्मक परिवर्तन (Reactive Change) -** ये वे परिवर्तन होते है. जो अप्रत्याशित घटनाओं के कारण करने आवश्यक हो जाते है, स्वामियों, ग्राहकों, आपूर्तिकर्ताओं, सरकार तथा बाह्य वातावरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए किए जाने वाले सभी परिवर्तन आते है।
3. **विकासात्मक परिवर्तन (developmental changes) -** जो परिवर्तन क्रमागत रूप से स्वत: होते हैं, उन्हें विकासात्मक परिवर्तन कहा जाता है।
4. **क्रांतिकारी परिवर्तन (Revolutionary changes) -** जो परिवर्तन बहुत ही तीव्र एवं अनियन्त्रित गति से होते है, क्रान्तिकारी परिवर्तन कहलाते हैं, ऐसे परिवर्तन वातावरण में घटित होने वाली अप्रत्याशित घटनाओं के कारण होते हैं।
5. **अनुकूली परिवर्तन (Adaptive changes) -** जो परिवर्तन संगठन को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए किये जाते हैं उन्हें अनुकूली परिवर्तन कहते हैं। प्रत्येक संगठन को अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ही नीतियों तकनीकों कार्यविधियों में सुधार एवं समायोजन करना पड़ता है।
6. **संरचनात्मक एवं तकनीकी परिवर्तन (Structural and technological changes) -** संगठन की संरचना, नीतियों, कार्य विधियों आदि में किए जाने वाले परिवर्तन संरचनात्मक परिवर्तन कहलाते हैं। जब उत्पादन एवं कार्य निष्पादन प्रक्रिया में उपयोग किए जाने वाले यंत्रों एवं उपकरणों में किए गए परिवर्तन को तकनीकी परिवर्तन कहते हैं।

(II) परिवर्तन के कारणों के आधार पर प्रकार -

परिवर्तन के कारणों के आधार पर परिवर्तन तीन प्रकार के होते हैं :-

1. **वातावरण संबंधी परिवर्तन (Environmental changes) -** संस्था के बाहर के सभी संगठनों में होने वाले गैर तकनीकी परिवर्तनों को वातावरण संबंधी परिवर्तनों के नाम से जाना जाता है। इन परिवर्तनों में सरकारी कानून में परिवर्तन, कर व्यवस्था में परिवर्तन आर्थिक नीतियों में परिवर्तन, उपभोक्ता की रूचियों में परिवर्तन, श्रम संघों में परिवर्तन इत्यादि है, को शामिल किया जाता है।
2. **तकनीकी परिवर्तन (Technological changes) -** उत्पादन तथा अन्य कार्यो में उपयोगी तकनीकी यंत्रों व उपकरणों में होने वाले परिवर्तन को तकनीकी परिवर्तनों में नाम से जाना जाता है। इन परिवर्तनों में निम्न परिवर्तन शामिल किए जा सकते हैं - यांत्रिक या मशीनों में परिवर्तन, उपकरणों में परिवर्तन, स्वचालन तथा मानव यंत्रों का उपयोग, कम्प्यूटरीकरण इत्यादि।

3. **आंतरिक परिवर्तन (Internal changes) -** किसी संस्था के कार्य संचालन एवं प्रबंध से संबंधित पहलुओं में होने वाले परिवर्तनों को आंतरिक परिवर्तन कहते हैं। जैसे - संस्था की नीतियां, कार्य विधियों, कार्य प्रणालियों, नियमों, संगठन संरचना में परिवर्तन, संस्था के बजट व कर्मचारियों में परिवर्तन इत्यादि।

19.3 परिवर्तन प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Defination of Management of Change)

साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी भी संस्था के आंतरिक एवं बाह्य वातावरण में हो रहे परिवर्तनों के कारण संस्था में परिवर्तन करने पर विचार करना व उन्हें लाग करना ही परिवर्तन-प्रबंध कहलाता है।

थॉमस एवं बेनिस (Thomas and Bennis) के अनुसार- "किसी संरचनात्मक नवकरण नयी नीति, लक्ष्य या संचालकीय दर्शन, वातावरण एवं कार्यशैली में परिवर्तन की जानबूझकर (सोच समझकर) रूपरेखा बनाना तथा क्रियान्वित करना ही परिवर्तन है।"

सियालगी के अनुसार (Szilagyi)- 'परिवर्तन प्रबंध की वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत सोच समझकर कुछ कार्यो, प्रक्रियाओं, लोगों में परिवर्तन या संशोधन करने का प्रयास किया जाता है ताकि संस्था के अस्तित्व को सुरक्षित रखा जा सके।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन प्रबंध एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्था के आंतरिक एवं बाह्य वातावरण के परिवर्तनों का अध्ययन करके संस्था की विघमान कार्य प्रणाली, कार्य विधियों, संरचना, तकनीकों, कर्मचारियों के व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है। तथा परिवर्तन प्रबंध वह कार्य या प्रक्रिया है जिसमें परिवर्तन के दुष्प्रभावों को कम करने तथा निष्पादन में वृद्धि करने की दृष्टि से संरचनात्मक व्यवहारात्मक एवं प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों को लागू किया जा सके।

19.4 संगठनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता / कारण अथवा परिवर्तन-प्रबंध की आवश्यकता एवं महत्व

संगठनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता अनेक कारणों से उत्पन्न होती है जैसे - विकास (Evaluation), नवप्रवर्तन संप्रेषण (Communication), फैलाव (Diffusion), प्रतिस्पर्धा (Emulation) संघर्ष आदि। प्रबंधक जिन कारणों से संस्था में परिवर्तन करते हैं, उन्हें निम्न वर्गो में बांटा जा सकता है -

अ. वातावरण संबंधी कारण

ब. तकनीकी कारण

स. आंतरिक कारण

द. अन्य कारण

(I) बाह्य वातावरण संबंधी शक्तियां या कारण (External Environmental Factors)

प्रत्येक संस्था संपूर्ण वातावरण का एक हिस्सा होती है। इसलिए यह कहा भी गया है कि "कोई भी संगठन अपने आप में स्वतन्त्र द्वीप नहीं है (No organization is an island, entire of itself)' वास्वत में कोई भी संस्था अकेले में या शून्य (Vaccum) में कार्य नहीं करती है, वरन् उसका अपना आंतरिक एवं बाह्य वातावरण होता है और प्रत्येक संस्था वातावरण की खुली प्रणाली होने के कारण बाह्य वातावरण उसे सर्वाधिक रूप से प्रभावित करता है। बाह्य वातावरण के निम्न घटक परिवर्तनों को जन्म देते हैं :

1. **उपभोक्ता (Customer) :** उपभोक्ता संस्था के उत्पादों, किस्मों, डिजाइन एवं वितरण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। उपभोक्ताओं की प्रकृति, रूचियों, आय, आयु, आवश्यकताओं. आदतों आदि में परिवर्तन के फलस्वरूप व्यवसायिक संस्था की नीतियों एवं कार्यकलापों में परिवर्तन करना पड़ता है क्योंकि उपभोक्ताओं की रूचियों, आवश्यकताओं में परिवर्तन संस्था को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।
2. **आर्थिक दशाऐं (Economic Condition) :** बाह्य वातावरण की आर्थिक दशायें भी व्यवसायिक संस्थाओं को अपनी नीतियों, कार्य प्रणालियों, योजनाओं, उत्पादन कार्यक्रमों में परिवर्तन करने के लिए बाध्य करती हैं। मुद्रा स्फीति, व्याज की दर, ऋण सुविधाऐं, लोगों की बचत, क्षमता, मूल्यवृद्वि की दर, आधारभूत संसाधनों (कच्चा माल पूंजीगत यंत्र, शक्ति के साधन, परिवहन एवं संचार) की उपलब्धि संस्था के बाह्य वातावरण की आर्थिक दशाओं के अन्तर्गत आते हैं।
3. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशायें (Social and Cultural Condition) :** सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के अनुरूप भी प्रबंधकों को संस्था में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं, सांस्कृतिक प्रतिमानों, जीवन शैली, खान-पान, छुआ छूत, जातपात, महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन, उच्च जीवन की आकांक्षा, सामाजिक उत्थान आदि कारणों से प्रबंधकों को संस्था की योजनाओं, कार्यविधियों उत्पादों में अनेक प्रकार से सुधार, समायोजन एवं परिवर्तन करने पड़ते हैं। कई बार दबाव समूहों (श्रम संघ, उपभोक्ता संघ) की क्रियाओं के कारण भी संस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं।
4. **राजनीतिक एवं वैधानिक परिस्थितियां (Political and legal Condition) :** अनेक बार राजनीतिक एवं वैधानिक परिस्थितियां भी परिवर्तन का कारण बनती हैं। सरकार की राजनैतिक विचारधारा. प्रशासनिक प्रणाली आदि का संस्था की नीतियों पर प्रभाव पड़ता है। सरकारी नीतियों का संस्था पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सरकारी नीतियां-लाइसेंस नीति, औद्योगिक नीति, आयात-निर्यात व वित्तीय नीतियों में परिवर्तन होने पर प्रबंधकों को भी परिवर्तन करने पड़ते हैं। इसी तरह सरकारी कानूनों-उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, कारखाना अधिनियम, कंपनी अधिनियम औद्योगिक विवाद अधिनियम तथा सरकार द्वारा बनाए गए आर्थिक, व्यापारिक व अन्य औद्योगिक कानूनों का सभी संस्थाओं को पालन करना होता है। अत: इन कानूनों में परिवर्तन के फलस्वरूप संस्थाओं में भी कई परिवर्तन करने पड़ते हैं।

5. **औद्योगीकरण (Industrialization) :** औद्योगीकरण की बढ़ती गति भी परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है। बढ़ते हुए औद्योगीकरण से समाज में अनेक प्रभाव पड़े हैं जैसे - उपभोक्ता की रूचियों, आवश्यकताओं में परिवर्तन, प्रदर्शन प्रभाव (Demonstrative effects), शहरीकरण आदि। साथ ही साथ कर्मचारियों का व्यवहार भी बदल रहा है। इन सभी कारणों के कारण संगठन में कुछ परिवर्तन करना अवश्य हो जाता है।
6. **संयोजनों की बढती प्रवृत्ति (Increasing Trend of Combination) :** कुछ समय से व्यवसाय में सम्मिश्रण, संविलयन एवं अधिग्रहण की प्रवृत्ति बढ़ गई है। परिणामस्वरूप संस्था के स्वामित्व में भी परिवर्तन हो जाता है और प्रबंधकों को कार्य-शैली एवं कार्यप्रणाली में भी परिवर्तन करना पड़ता है।
7. **नियोजन (Planning) :** राष्ट्र की आर्थिक योजनाओं से भी विकास की दिशा निर्धारित होती है। अत: प्रबंधकों को सरकार की विकास योजनाओं, आर्थिक कार्यक्रमों को ध्यान में रखकर संगठन में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। क्योंकि ये सरकार की विकास योजनाऐं संस्था के संसाधनों, लक्ष्यों, बजट आदि को प्रभावित करती हैं।
8. **प्रतिस्पर्द्धा (Competition) :** वर्तमान युग प्रतिस्पर्द्धा का युग है। आज व्यवसायिक प्रतिस्पर्द्धा का स्वरूप राष्ट्रीय ही न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। बाजार में प्रतिस्पर्द्धा का स्वरूप बहुत ही जटिल एवं घातक हो गया है। जब प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं द्वारा निर्मित वस्तुओं, विक्रय विधियों, मूल्यों व सुविधाओं में परिवर्तन किया जाता है तो दूसरी संस्था प्रबंधक को भी इन पर विचार करना पड़ता है क्योंकि प्रतिस्पर्द्धी संस्थाऐं दूसरी संस्थाओं के प्रबन्धकों को अपनी संस्था में परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर देती है और प्रतिस्पर्द्धी संस्थाऐं व्यवसायियों को अपनी नीतियो, मूल्यों, विक्रय-विधियों, तकनीकों में परिवर्तन के लिए बाध्य कर देती है। अत: अंत में यही कहा जा सकता है कि प्रबन्धकों को बाजार में प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति को ध्यान में रखकर भी अनेक परिवर्तन करने की पड़ते हैं।
9. **पूँजी बाजार की दशाऐं (Conditions of Capital Market) :** पूंजी बाजार की प्रवृत्तियां अर्थव्यवस्था की निर्धारक होती है। वर्तमान में पूँजी बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होते जा रहे हैं। प्रतिभूतियों के निर्गमन, मूल्यों के उतार-चढ़ाव के नियमन की नई-नई व्यवस्थाऐं की जाती है। साथ ही साथ पूँजी बाजार में पारदर्शिता एवं स्वरित सूचना सम्प्रेषण की आवश्यकता भी बढ़ गई है। इन्हीं कारणों से संगठनात्मक परिवर्तन करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।
10. **भौतिक वातावरण (Ecological Environment) :** वर्तमान समय में उद्योगों से बढ़ते प्रदूषण के कारण पर्यावरण असंतुलन का खतरा बढ़ता जा रहा है। अत: पर्यावरण की शुद्धता को बनाए रखने के लिए सरकार ने व्यवसायिक क्रियाओं, उत्पादन विधियों, उत्पादन में प्रयुक्त किए जाने वाले यंत्र व सामग्री के संबंध में विशेष नियम बनाए है। अब व्यवसायिक संस्थाओं को जल, वायु, ध्वनि को शुद्ध रखने के लिए उत्पादन मे प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री व यंत्रों के चुनाव में सावधानी बरतनी पड़ती है। अत: संस्थाओं को अपने उत्पादन

उपकरणों, यंत्रों व उत्पादन प्रक्रिया आदि में परिवर्तन करना पड़ रहा है ताकि भौतिक वातावरण को शुद्ध रखा जा सके।

11. **संस्थाओं का बढता आकार (Increasing Size of Institutions) :** वर्तमान समय में व्यवसायिक संस्थाओं का आकार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। संस्थाओं के बढ़ते हु ए आकार के कारण उद्योगों में व व्यवसायों में श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण, तकनीकी जटिलता एवं अन्तनिर्भरता बढ़ती जा रही है। कोई विभाग अपने सभी कार्यो को दूसरे विभागों के सहयोग के बिना पूरा नहीं कर सकता है। अत: सभी कर्मचारियों व विभागों के मध्य समन्वय, संचार व दलीय भावना की आवश्यकता अधिक पड़ने लगी है। फलस्वरूप प्रबंधकों को संस्था की कार्य प्रणाली नीतियों व संगठन संरचना में परिवर्तन करना पड़ता है।

12. **उदारीकण एवं भूमण्डलीकरण : (Liberalisation and Globalization) :** वर्तमान युग उदारीकरण व भूमण्डलीकरण का युग है। व्यवसाय का भूमण्डलीकरण होता जा रहा है अत: इन सभी कारणों से भी संगठनात्मक परिवर्तन अनिवार्य हो जाते हैं।

(II) तकनीकी कारण (Technical causes)

तकनीकी प्रगति से उद्योग बहु त अधिक प्रभावित होते हैं तकनीकी कारणों से प्रभावित होकर भी प्रबधंको को संस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। जो निम्नलिखित हैं -

1. नवीन यंत्रों का विकास।
2. उत्पादन कार्यो में स्वचालित यंत्रों का उपयोग।
3. उत्पादन नियंत्रण प्रक्रिया में कम्प्यूटरों का प्रचलन।
4. नए सूचना एवं परिवहन संसाधनों का विकास।
5. नवीन प्रकार के कच्चे माल का उपयोग।
6. कृत्रिम मानव (रोबोट) का उपयोग।
7. उच्च जीवन स्तर एवं श्रमसाध्य यंत्रों का प्रचलन।

वर्तमान में तकनीकी परिवर्तन बहुत ही व्यापक स्तर पर हो रहे हैं। अत: इन परिवर्तनों के कारण प्रबंधकों को संस्था की उत्पादन प्रणाली, नीतियों, नियमों में परिवर्तन करना पड़ता है।

(III) आंतरिक कारण (Internal causes) :

संस्था की आंतरिक परिस्थितियों के कारण भी अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। प्रमुख आंतरिक कारण निम्नानुसार है -

1. कर्मचारियों तथा प्रबंधकों में परिवर्तन (changes in personnel) :

संस्था में नई भर्ती, प्रशिक्षण, स्थानान्तरण, पद मुक्ति आदि के कारण प्रबंधकों एवं कर्मचारियों में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। कभी-कभी तकनीक में परिवर्तन के कारण नए प्रबंधकों एवं नए कर्मचारियों की भर्ती करनी पड़ती है। संस्थाओं के कर्मचारियों में अन्य प्रकार से भी परिवर्तन हो रहे है जो निम्नानुसार है -

(1) शिक्षित एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों की संख्या बढ़ रही है।

(2) कर्मचारियों की इच्छाओं, आकांक्षाओं में तेजी से परिवर्तन हो रहा है।

(3) महिला कर्मचारियों की संख्या बढ़ रही है।

(4) कर्मचारियों की प्रवृत्ति अत्यंत जटिल हो गई है तथा अनौपचारिक संबंधों का तेजी से विकास हो रहा है।

उपरोक्त इन सभी परिवर्तनों के कारण संस्था की नीतियों, दृष्टिकोण व प्रबंधकीय शैली में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है।

2. नीतियों में परिवर्तन (Changes in policies) :

संस्था की नीतियों में परिवर्तन अनेक तरह से होता है जैसे नए बाजारों में प्रवेश करने या न करने, मूल्य निर्धारण, कर्मचारी संबंध उत्पाद विविधिकरण आदि। संस्था की नीतियों में किए गए इस तरह के परिवर्तनों के फलस्वरूप भी सम्पूर्ण संस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं।

3. कार्यो की प्रकृति में परिवर्तन (Changes in nature of work) :

तकनीकी परिवर्तनों के कारण न केवल यंत्रों में बल्कि कार्यो की प्रकृति में भी परिवर्तन आया है। क्योंकि अब सभी कार्यो में तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कार्यो की प्रकृति में परिवर्तन के कारण कार्यो के पुर्नवितरण, नए यंत्र व उपकरण, नवीन कौशल व नवीन कार्यविधियों की आवश्यकता उत्पन्न होती है। इसी कारण प्रबंधकों को संस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं।

4. परिचालन परिवर्तन (operational changes) :

संस्था में उत्पादन क्रियाओं के परिचालन तथा कुशल निष्पादन के लिए भी प्रबंधकों को कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। ये परिवर्तन संयंत्र अभिरचना, वेतन भुगतान की विधियाँ, परिवहन एवं संचार, वितरण प्रणालियाँ, जल विद्युत, ऊर्जा, लागते, व्यय आदि से संबंधित हो सकते हैं।

5. गतिशीलता प्राप्त करना (To achieve dynamism) :

संस्था को निरंतन गतिशील, सृजनात्मक, नवीन व लोचपूर्ण बनाए रखना बहुत आवश्यक होता है। अत: प्रबंधक संस्था को गतिशील बनाए रखने के लिए संस्था में धीरे-धीरे सदैव परिवर्तन करते रहते हैं ताकि भविष्य में बड़े परिवर्तन को करने में कठिनाई नहीं आती है।

6. संगठन संरचना में दोष (defects in organizational structure) :

किसी भी संगठन में अनेक विभाग एवं उपविभाग होते हैं तथा इन विभागों व उप विभागों में अनेक अधिकारी व कर्मचारी कार्य करते हैं। इन अधिकारियों व कर्मचारियों के मध्य आपसी संबंधों की व्यवस्था ही संगठन संरचना कहलाती है। प्रबंधकों व कर्मचारियों के इन आपसी संबंधों में कुछ कमियाँ उत्पन्न हो जाती है तथा उन्हें दूर करना आवश्यक होता है। प्रबंधकीय स्तरों में वृद्धि, अधिकार दायित्वों में असंतुलन, समन्वय में कठिनाई, विकृत सम्प्रेषण प्रणाली, नियंत्रण के विस्तार में वृद्धि, रेखा व स्टाफ आकिरियों में तनाव, अधिक केन्द्रीयकरण के कारण भी संगठन संरचना में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें दूर करने में संगठन संरचना में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

7. निगमीय व्यूहरचना में परिवर्तन (change in corporate strategy) :

निगमीय व्यूहरचना में परिवर्तन के कारण भी संस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं जैसे नई प्रौद्योगिकी को अपनाने, विकेन्द्रीकरण करने आदि है। कई संस्थाऐं अब व्यूहरचनात्मक नियोजन भी करने लगी हैं। ऐसी संस्थाऐं दीर्घकालीन पूर्वानुमान करती है ताकि भविष्य की चुनौतियों का सामना भली प्रकार से किया जा सके।

8. आंतरिक प्रगति एवं विकास (internal growth and development) :

संस्था के निरंतर विकास प्रगति व नवप्रवर्तन के कारण भी प्रबंधकों को अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। ये परिवर्तन वित्त, विनियोग, पूर्वानुमान तकनीकों, लाइसेसिंग क्षमता, विदेशी विनियम, प्रबंधकीय कौशल आदि से संबंधित हो सकते हैं।

9. व्यैक्तिक लक्ष्य (personal goals) :

संस्था कई वर्गो से जुड़ी होती हैं। जिसमें व्यक्ति, समूह, नेता सभी के अपने-अपने व्यैक्तिक लक्ष्य होते हैं। इन सभी के हितों में उचित सामंजस्य बनाए रखने के लिए भी समय-समय पर संस्था को अपनी कार्यविधि में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं।

(IV) अन्य कारण या शक्तियाँ (Other Causes or Forces) :

इन सभी कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जो परिवर्तनों को अनिवार्य बनाते हैं जो निम्न हैं-

1. परिवर्तन प्रतिनिधि (Change Agent) :

ये एक ऐसा घटक होता है जिसके फलस्वरूप संगठन में परिवर्तन होते हैं। इनका कार्य संस्था में परिवर्तन लाने के लिए व्यूहरचनाऐं एवं कार्यपद्धतियॉ तैयार करना होता है जो व्यक्ति या घटक संस्था में परिवर्तन करने के लिए परिवर्तनों की योजना एवं रूपरेखा बनाते हैं वे परिवर्तनों के उत्प्रेरक घटक व्याख्याकार, समन्वयकर्ता होते हैं। ये एजेन्ट संस्था में परिवर्तनों को प्रोत्साहित करते हैं।

2. संकट काल (Crisis) :

अप्रत्याशित व आकस्मिक संकट की स्थिति में भी संस्था में कई परिवर्तन करने जरूरी होते हो जाते हैं। जैसे- हड़ताल, उच्च प्रबंधक की आकस्मिक मृत्यु, पद-त्याग, नागरिक उपद्रव, मशीनों की खराबी कारखाने में तोड़-फोड़, आगजनी आदि समस्त दशाओं में संस्था की नीतियों, व्यवहार व आचरण में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। संकट की दशाऐं अस्थायित्व पैदा करके संगठन को तुरंत कोई कार्यवाही करने के लिए बाध्य करती है।

3. गिरती हुई प्रभाविता के सूचक (barometers of declining effectiveness) :

प्रत्येक, संस्था की अपनी सूचना प्रणाली होती है जिसके माध्यम से वह अपने निकृष्ट निष्पादन को जान सकती हो, बिक्री के ऑकड़े, अनुपस्थिति, निर्माण लागते, वित्तीय स्थिति के अनुपात, बिना बिके माल की स्थिति आदि से फर्म की प्रभाविता का मूल्यांकन किया जा सकता है। उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर फर्म अपनी गिरती हुई प्रभाविता से सुधार करने के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकती है।

4. श्रृंखला प्रभाव (to domino effect) :

कई बार संस्था में एक परिवर्तन से दूसरे परिवर्तन को जन्म मिलता है तथा परिवर्तनों की एक श्रृंखला-सी चल पड़ती है। उदाहरणार्थ - संस्था में एक नए विभाग की स्थापना से नए पदों का सृजन दूसरे विभागों के उत्तरदायित्वों में परिवर्तन, बजट एवं कार्यालय स्थान का पुर्नवितरण आदि परिवर्तन करना भी आवश्यक हो जाता है। इस नए विभाग को ध्यान को रखकर दूसरे विभागों के लक्ष्यों, ढांचे कार्यो व कर्मचारियों में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

19.5 संगठनात्मक परिवर्तनों पर कर्मचारियों की प्रतिक्रियाऐ (Employee Reactions to Organisational Change)

प्रत्येक परिवर्तन प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जब संस्था में कोई परिवर्तन होता है तो उस पर कर्मचारियों की भी प्रतिक्रिया करते हैं। कर्मचारियों की प्रतिक्रिया उनकी मनोदशा पर निर्भर करती है। क्योंकि कुछ के लिए परिवर्तन आनंद, सुख, लाभ, उपलब्धि होता है तो कुछ के लिए हानि उदासी, अपमान बन जाता है। संस्था में होने वाले परिवर्तनों पर कर्मचारियों की निम्न प्रतिक्रियाऐं हो सकती हैं :-

1. स्वीकृति / संशोधन (Acceptance / Modifications) :

जब कर्मचारी यह अनुभव करता है कि प्रस्तावित परिवर्तन उनके लिए लाभदायी हैं तो वे उस परिवर्तन को स्वीकार कर लेते हैं और कभी-कभी कर्मचारी परिवर्तन को यथावत स्वीकार नहीं करते हैं वे परिवर्तन के महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार विमर्श करते हैं तथा प्रस्तावित परिवर्तनों को कुछ संशोधन के बाद ही स्वीकार करते हैं।

2. मौन सहमति (Acquiescence) :

कई बार जब कर्मचारी विरोध करने में असमर्थ होते हैं या परिवर्तन को रोकने में असमर्थ होते हैं तो वे बिना किसी हस्तक्षेप के परिवर्तन के प्रति मौन स्वीकृति प्रकट कर देते हैं। फिर भी वे नए परिवर्तन के संदर्भ में दायित्वों को टालने का प्रयास करते हैं आक्रोश व्यक्त करते हैं।

3. विरोध (Opposition) :

यदि कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि प्रस्तावित परिवर्तन उनके लिए हानिप्रद है तो वे इसका विरोध करते हैं इसमें कर्मचारी परिवर्तन में विविध प्रकार से बाधा डालने का प्रयास करते हैं जैसे - परिवर्तनों पर रोक लगाने के लिए हथकण्डे अपनाना, परिवर्तन के क्रियान्वयन में देरी करना आदि।

4. संगठन छोड़ना (leaving the Organisation) :

जब कोई कर्मचारी यह अनुभव करता है कि किया गया परिवर्तन उसके लिए असहनीय, आपत्तिजनक है तथा परिवर्तन के साथ उचित समायोजन न कर पाने पर भी वह संगठन छोड़कर अन्यंत्र चला जाता है। जैसे मजूदरी की दरों या कार्य वातावरण में परिवर्तन किए जाने पर व्यक्ति द्वारा संगठन छोड़ना।

5. सक्रिय प्रतिरोध (Active Resistance) :

परिवर्तन के प्रति सक्रिय प्रतिरोध भी किया जाता है जैसे - परिवर्तन को घटित होने से रोकना, इसकी प्रकृति को बदलने का प्रयास करने या परिवर्तन को मानने से इनकार करना सक्रिय प्रतिरोध के अन्तर्गत आता है।

6. परिवर्तनों के प्रति तटस्थता (indifference to changes) :

जब कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि प्रस्तावित या संभावित परिवर्तन से उनके हितों पर किसी भी प्रकार का नकारात्मक या सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ेगा तो वे तटस्थ भाव से परिवर्तनों को स्वीकार करते हैं।

19.6 परिवर्तनों के प्रति विरोध / प्रतिरोध के कारण (Causes or Factors for Resistance to Change)

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। व्यवसायिक व औद्योगिक जीवन में भी परिवर्तन होते हैं। कुछ व्यक्ति परिवर्तन को एक चुनौती, अवसर, शिक्षण के रूप में मानते हैं वही दूसरी और कुछ व्यक्ति अनेक कारणों से परिवर्तनों का विरोध भी करते हैं। यह विरोध भावनात्मक, विवेकपूर्ण एवं समूहजनित भी हो सकते हैं। परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध के कारणों को निम्न श्रेणियों में बांट सकते हैं -

(I) कार्य से संबंधित घटक

(II) वैयक्तिक घटक

(III) सामाजिक घटक

(I) कार्य से संबंधित घटक (work related factors) :

कार्य से जुड़े ऐसे अनेक घटक है जो कर्मचारियों को किसी संभावित परिवर्तन का विरोध करने के लिए प्रेरित करते हैं जो निम्न हैं :

1. तकनीकी बेरोजगारी फैलने का डर।
2. जटिल एवं खतरनाक उपकरणों का उपयोग बढ़ जाने का डर जैसे कम्प्यूटरों का तथा नवीन स्वचालित यंत्रों का विरोध किया जाना।
3. भत्ते व अन्य में कटौती की संभावना।
4. कार्य-वातावरण व कार्य की दशाओं में परिवर्तन का डर।
5. कभी-कभी कर्मचारी यह शंका भी करने लगते है कि कोई एक परिवर्तन केवल अकेला नहीं होने वाला, बल्कि उसके बाद धीरे-धीरे कुछ बड़े परिवर्तन भी किये जा सकते हैं।
6. पदावनति एवं मजदूरी में कमी हो जाने का डर या पदोन्नति का मार्ग बंद हो जाने का डर।
7. कार्यभार व दायित्वों में वृद्धि हो जाने का डर।
8. कार्य पर अधिकारियों का नियंत्रण बढ़ जाना तथा कर्मचारियों की स्वतंत्रता छिन जाना।
9. कभी-कभी संस्था द्वारा विद्यमान भूमि, भवन, यंत्रों आदि में इस प्रकार विनियोग किया होता है कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना बहुत अधिक जोखिमपूर्ण होता है। प्रबंधक एवं कर्मचारी ऐसे परिवर्तनों का विरोध कर सकते हैं।

उपरोक्त कारणों से कर्मचारी परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।

(II) वैयक्तिक घटक (Individual Factors) :

कुछ वैयक्तिक कारणों के कारण भी कई बार परिवर्तनों का प्रतिरोध किया जाता है। ये कारण निम्नलिखित हैं -

1. **असुविधा (Inconvenience) :** कर्मचारी व्यक्तिगत असुविधाओं एवं कठिनाईयों के कारण भी परिवर्तनों का विरोध करते हैं। कई बार व्यक्ति अपनी वैयक्तिक कार्य प्रणाली एवं जीवन में बाधा पड़ने के कारण भी अधिकार शक्तियाँ एवं पदोन्नति प्राप्त करने से इनकार कर देते हैं। नए कार्यो को सीखने की असुविधा भी परिवर्तन के विरोध का कारण बनती है।
2. **प्रभावों का गलत आकलन (Miscalculation of Effects) :** प्रत्येक परिवर्तन का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है। किंतु कई बार कर्मचारी प्रभावों का सही-सही आकलन नहीं कर पाते तथा प्रभावों को समझे बिना ही उनका विरोध करना प्रारंभ कर देते है।
3. **अनिश्चितता (Uncertainity) :** प्रत्येक परिवर्तन अनिश्चितता की जोखिम एवं डर उत्पन्न करता है। नए कार्यो में नयी चुनौतियाँ, कठिनाईयाँ तथा नयी जोखिमें होती है तथा नए स्थान एवं नए लोगों का व्यवहार आदि ऐसी अनिश्चितताऐ होती है जिनसे कर्मचारी प्राय: भयभीत रहता है और परिवर्तनों का विरोध करता है।
4. **कडवा या असफल अनुभव (Bitter or Unsuccessful Experience) :** कई लोगों का विगत कुछ कड़वा अनुभव भी परिवर्तनों की उपेक्षा करने के लिए प्रेरित करता है। पिछले असफल अनुभवों से जब निराश असफलता, हानि ही हाथ लगी हो तो वे फिर परिवर्तन का विरोध करने लगते हैं।
5. **उच्च अहम् (Super Ego) :** कई बार परिवर्तन व्यक्ति के अहम् पर चोट करने वाला सिद्ध होता है। उसकी सत्ता, स्वाभिमान तथा प्रतिष्ठा में कमी होने पर वह परिवर्तन का विरोध करता है।
6. **मानसिक जड़ता (Mental Stagnancy) :** कुछ लोग परिवर्तन स्वीकार करने की क्षमता खो चुके होते है। इसके प्रमुख कारण वृद्धावस्था, मानसिक जड़ता, भावनात्मक संबंध आदि होते हैं। ऐसे लोग परिवर्तन का सदैव ही विरोध करते हैं।
7. **कठोर परिश्रम (Hard Work) :** नए परिवर्तनों के फलस्वरूप कर्मचारी को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। फलत: वे काम भार में वृद्धि के कारण परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।
8. **अधिक विशिष्टीकरण (More Specialisation) :** नए परिवर्तन के कारण कार्य में अनेक विशिष्टीकरण की आवश्यकता होती है। विशिष्टीकरण बढ़ जाने से नीरसता व ऊब बढ़ जाती है तथा वैयक्तिक महत्व घट जाता है। अत: यह एक प्रतिरोध का कारण बन जाता है।
9. **संबंधों के बिगडने का भय (Threats of Interpersonal Relation) :** प्रत्येक व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी संस्था में अधिकारियों, अधीनस्थों, समान स्तर के अन्य

कर्मचारियों से आपसी संबंध विकसित कर लेता है। इन संबंधों को बनाए रखने में उसे सुख प्राप्त होता है। किंतु, किसी परिवर्तन के कारण उसे इन संबंधों को तोड़ना पड़ता है तो कर्मचारियों को कष्ट होता है और इसी कारण वे परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।

10. **अधिक कौशल (More Skills) :** कई बार कार्य की तकनीकों, कार्य-विधियों में कई परिवर्तन किए जाते हैं जिसके कारण उन कार्यो को करने के लिए अतिरिक्त कौशल की आवश्यकता पड़ती है और कर्मचारियों को पुन: प्रशिक्षण प्राप्त करके अपनी योग्यता व कौशल में वृद्धि करनी पड़ती है। अत: कर्मचारी इस तरह के परिवर्तनों से बचना चाहते हैं और इसी कारण परिवर्तनों का विरोध करते हैं।

11. **अन्य लोगों द्वारा प्रतिरोध (Resistance from Others) :** कई बार कुछ लोग परिवर्तनों का विरोध इस कारण करते हैं कि अन्य लोग ऐसा कर रहे हैं। इस प्रकार भेड़ चाल व्यवहार बहु त देखने को मिलता है और परिवर्तनों के विरोध का कारण बनता है।

12. **चयनात्मक अवबोध (Selective Perception) :** कई बार कर्मचारी परिवर्तनों का सही चयन नहीं कर पाने के कारण भी परिवर्तनों का विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति तब होती है जब वे ऐसे परिवर्तनों का भी विरोध करने लगते हैं जो उनके लिए हितकारी या लाभदायी है। ऐसा वे परिवर्तनों के प्रभावों का सही आकलन न कर पाने के कारण करते है और ये परिवर्तन के विरोध का कारण बनता है।

13. **विश्वास का अभाव (Lack of Trust) :** परिवर्तन आपसी विश्वास के आधार पर ही लागू किए जा सकते हैं। परन्तु जब कर्मचारियों को प्रबंधकों पर विश्वास नहीं होता है तो वे परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।

14. **निर्भरता (Dependence) :** कई व्यक्ति दूसरों पर निर्भर होने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह प्रवृत्ति उन्हें पहलपन् नवकरण तथा परिवर्तन को स्वीकार करने से रोकती है।

15. **अव्यवहारिक परिवर्तन (Unfeasible Change) :** कभी-कभी कुछ परिवर्तन सैद्धान्तिक रूप से तो अच्छे होते है परन्तु वे संस्था की दृष्टि से व्यवहारिक नहीं होते हैं। ऐसे परिवर्तनों का संस्था के सभी व्यक्तियों द्वारा विरोध किया जाता है।

(III) सामाजिक घटक (social factors) :

सामाजिक घटक भी परिवर्तनों के प्रतिरोध का कारण बनते हैं जो निम्नानुसार हैं :-

1. **श्रमसंघ द्वारा विरोध (Opposition by Union) :** श्रमसंघ के सदस्य प्रबंधकों के द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों का विरोध कई कारणों से करते हैं। जब किया जाने वाला परिवर्तन श्रम संघ के हितों के विरूद्ध होता है तो ऐसे परिवर्तनों का सदैव प्रतिरोध होता है।

2. **प्रणालीगत एवं सांस्कृतिक संगति (Systematic and Cultural Coherence) :** कोई भी संगठन या सामाजिक प्रणाली कई अंगो से मिलकर बनी होती है। जब भी प्रणाली में कोई परिवर्तन किया जाता है तो विभिन्न अंगो के आपसी संबंधों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। एक अंग में परिवर्तन करने से अन्य अंगो में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार के श्रंखला परिवर्तनों का कर्मचारी विरोध करते हैं।

3. **सम्भावित सामाजिक हानि (Possible Social Loss) :** परिवर्तन के कारण जब व्यक्ति के अनौपचारिक, संबंधों पद-स्तर, सामाजिक वातावरण, मैत्री संबंधों आदि के धूमिल हो जाने या टूट जाने की संभावना होती है तो वे परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।

4. **निहित हित (Vested Interest) :** परिवर्तनों के कारण जब भी व्यक्तियों के आर्थिक एवं सामाजिक हित एवं प्रतिष्ठा दांव पर लगती है तो व्यक्ति ऐसे परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।

5. **मानदण्डों की अनुपालना (Conformity to Norms) :** संगठन के अपने कुछ मानदण्ड होते हैं। सामाजिक प्रणाली में व्यक्ति को मानदण्डों के अनुरूप कार्य करने पर बल दिया जाता है। जब इन मानदण्डों के विपरीत कोई परिवर्तन किया जाता है तो संगठन में विरोध पनपने लगता है।

6. **बाह्य समूहों को अस्वीकृति (Rejection of outsider) :** आजकल संगठनों में एजेन्ट नियुक्त किए जाने लगे हैं। ये एजेन्ट परिवर्तनों को प्रोत्साहित करते हैं। कई बार कर्मचारी एजेन्टों पर विश्वास नहीं करते हैं और उन्हें शंका की दृष्टि से देखते हैं और परिवर्तनों का विरोध करते हैं।

7. **अन्य कारण (Other Causes) :**

(1) नई स्थिति में संतुष्टि प्राप्त न होने का डर।

(2) परिवर्तन के लिए सहभागिता की कमी के कारण कर्मचारियों की यह धारणा होती है कि परिवर्तन का अधिक लाभ संगठन को होगा, व्यक्ति, समूह या समाज को नहीं।

19.7 परिवर्तन प्रतिरोध को कम करने के उपाय अथवा सफल परिवर्तन प्रबंध के लिए प्रयास

परिवर्तनों को लागू करने में अनेक बाधाऐं आती है अनेक अवरोध उत्पन्न किए जाते है तथा प्रबन्धकों को अनेक प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है। वास्तव में सफलतापूर्वक परिवर्तनों का प्रबंध करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। प्रबंधक निम्न प्रकार के प्रयासों एवं उपायों से परिवर्तन की सभी बाधाओं को दूर करते हुए परिवर्तन का सफल प्रबंध कर सकते हैं -

1. **परिवर्तनों की सही जानकारी (Correct Information About Changes) :**

परिवर्तनों का सबसे अधिक विरोध भ्रान्तियों या मिथ्या धारणाओं के फैल जाने के कारण होता है। अत: प्रबंधकों को प्रस्तावित परिवर्तनों के बारे में कर्मचारियों को सही-सही जानकारी उपलब्ध करानी चाहिए। परिवर्तनों के संभावित प्रभावों के तथ्यात्मक प्रमाण दिखाकर उनकी मिथ्या धारणाओं व भ्रामक बातों का खंडन करना चाहिए।

2. **प्रभावकारी नेतृत्व (Effective Leadership) :**

प्रभावकारी नेतृत्व के द्वारा भी परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। एक कुशल नेता लोगों को इस प्रकार प्रभावित करने की क्षमता रखता है कि लोग स्वेच्छा से परिवतनों को स्वीकार करने लगते हैं एक कुशल नेता अनुयायियों के सहयोग से परिवर्तनों को आसानी से लागू कर सकता है।

3. **परामर्श करना (Consultation) :** कई बार परिवर्तनों का विरोध इसलिए किया जाता है कि परिवर्तनों से प्रभावित व्यक्तियों से परिवर्तनों के संबंध में परामर्श नहीं लिया गया है। अत: प्रबंधकों को चाहिए कि परिवर्तनों से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों से परामर्श किया जाना चाहिए जिससे विचारों का आदान-प्रदान होगा और कई भ्रांतियाँ व संदेह दूर हो सकेगे और परिवर्तनों को आसानी से लागू किया जा सकेगा।

4. **विश्वास जागृत करना (Building Trust) :** यदि कर्मचारी प्रबंधकों में विश्वास रखते हैं तो वे परिवर्तनों को सहज स्वीकार कर लेते है इसके विपरीत यदि कर्मचारी प्रबंधकों में विश्वास नहीं करते हैं तो वे सदैव परिवर्तनों का विरोध करते हैं। यदि प्रबंधक कर्मचारियों के प्रति निष्पक्षता एवं ईमानदारी का व्यवहार करते हैं तो कर्मचारी भी प्रबंधकों में विश्वास करने लगते हैं और प्रबंधकों द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

5. **प्रशिक्षण (Training) :** कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान करके भी परिवर्तनों को लाग किया जा सकता है। प्रशिक्षण के द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों एवं उनकी कार्यविधियों के बारे में जानकारी दी जा सकती है साथ ही साथ समूह प्रस्तुतीकरण, सभाऐं, सम्मेलन, सम्प्रेषण आदि के द्वारा परिवर्तनों की आवश्यकता को प्रकट किया जाना चाहिए।

6. **वचनबद्धता (Commitment) :** कुछ परिवर्तनों को लागू करने के लिए प्रबंधक लोगों से परिवर्तन में सहयोग देने का वचन लेकर भी उन्हें नैतिक रूप से बाध्य कर सकते है। परन्तु ऐसी वचनबद्धता व्यक्तिगत सम्पर्को के आधार पर ही प्राप्त की जा सकती है।

7. **सहभागिता (Participation) :** परिवर्तनों को सफलतापूर्वक लाग करने के लिए सहभागिता एक उपाय है। परिवर्तनों का निर्णय करते समय प्रभावित व्यक्तियों को पर्याप्त सहभागिता दी जानी चाहिए। उनके विचारों, सुझावों, आलोचनाओं, कठिनाईयों को ध्यान में रखकर ही परिवर्तन की योजना बनानी व क्रियान्वित करनी चाहिए।

8. **सामूहिक वार्ता (negotiation) :** परिवर्तन का विरोध करने वालों के साथ प्रबंधक सामूहिक वार्तालाप एवं सामूहिक सौदेबाजी करके उन्हें विभिन्न प्रेरणाऐं प्रदान कर सकते हैं। उदाहरणार्थ श्रमिकों को उच्च मजदूरी प्रदान करके परिवर्तनों के लिए राजी किया जा सकता है।

9. **अस्थायी परिवर्तन (Tentative Changes) :** परिवर्तनों के प्रतिरोध को कम करने के लिए सभी परिवर्तन प्रारंभ में अस्थायी रूप से लाग किए जाने चाहिए। जब कर्मचारियों को यह अनुभव होने लगे कि परिवर्तनों से उन्हें कोई हानि नहीं हो रही है बल्कि लाभ हो रहा है तो उन परिवर्तनों को स्थायी रूप से लागू कर दिया जाना चाहिए।

10. **आर्थिक प्रेरणा (Economic Incentives) :** आर्थिक हानि के भय से भी परिवर्तनों का विरोध किया जाता है उस विरोध को आर्थिक प्रेरणा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अत: प्रबंधकों को परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाले लाभों को स्पष्ट कर देना चाहिए। कई बार आर्थिक लाभ प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष भी होते हैं। अत: प्रबंधकों को ऐसे अप्रत्यक्ष लाभों की समुचित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जाना चाहिए।

11. **उचित परिवर्तन (Reasonable changes) :** प्राय: उन परिवर्तनों का विरोध कम होता है जो समय एवं परिस्थिति के अनुसार उचित होते हैं। समयानुकूल परिवर्तन के लिए आवश्यक सहयोग आसानी से प्राप्त हो जाता है।

12. **उचित स्थान एवं उचित समय (Proper Place & Proper Time) :** संगठन में कुछ स्थान या विभाग परिवर्तन के कट्टर विरोधी हो सकते है तो कुछ परिवर्तनों के समर्थक या कम विरोधी भी हो सकते हैं। अत: प्रबंधकों को कम विरोध या समर्थक व्यक्तियों या विभागों से ही परिवर्तनों को लागू किया जाना चाहिए। इसी प्रकार परिवर्तन की योजना उचित समय पर ही प्रारंभ की जानी चाहिए। नियोजित परिवर्तन सोच-विचार कर कर्मचारियों की धारणाओं के अनुकूल ही प्रारंभ किए जाने चाहिए। परिवर्तनों की सफलता में समय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

उपर्युक्त सभी प्रयासों से परिवर्तनों को आसानी से लाग किया जा सकता है।

19.8 परिवर्तन-प्रबंध की प्रक्रिया (Process of Managing Changes)

परिवर्तनों का प्रबंध एक व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध प्रक्रिया है जो पूर्ण नियोजित होती है। इस प्रक्रिया को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है :

1. **परिवर्तनों के कारणों को ज्ञात करना (Knowing the Causes of change) :**

किसी भी संस्था में परिवर्तन की आवश्यकता किन्हीं विशेष कारणों से ही उत्पन्न होती है। अत: सर्वप्रथम परिवर्तन की आवश्यकता का निर्धारण करना चाहिए। परिवर्तन के कारणों को तीन वर्गो में रखा जा सकता है। (1) आंतरिक कारण (2) बाह्य कारण (3) तकनीकी कारण। परिवर्तन की आवश्यकता निर्धारित हो जाने के बाद उसकी प्रकृति का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। क्योंकि परिवर्तन सामान्य अथवा विशिष्ट प्रकृति के आधार पर परिवर्तन के उद्देश्यों का निर्धारण भी कर लिया जाना चाहिए।

2. **परिवर्तनकारी कारणों का विश्लेषण करना (Analysing the Causes for Changes):**

"कुर्त लेविन" के अनुसार संस्था में प्रत्येक समय पर दो शक्तियाँ कार्य करती है (1) प्रेरक शक्तियाँ (Driving Forces) (2) प्रतिरोधक शक्तियाँ (Restraining Forces) ।

प्रेरक शक्तियाँ परिवर्तनों को लागू करने में सहायक होती है जबकि प्रतिरोधक शक्तियाँ परिवर्तनों का विरोध करती है। अत: इन प्रबंधकों को इन दोनों शक्तियों में साम्य की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए, तभी संस्था में कुछ कार्य संभव हो सकता है और परिवर्तन की योजना बनाने व उसे लागू करने से पूर्व इन दोनों ही शक्तियों को पहचानना चाहिए तथा साम्य की स्थिति में होने वाले संभावित परिवर्तन का पूर्वानुमान करना चाहिए।

3. **परिवर्तन की योजना का निर्माण (Preparing Plan for Changes) :**

परिवर्तन के कारणों एवं परिवर्तन को प्रभावित करने वाली शक्तियों को ध्यान में रखते हुए ही प्रबंधकों को परिवर्तन की योजना बनानी चाहिए। संस्था में प्राय: तीन प्रकार के परिवर्तन करने पड़ते हैं। (i) संगठन संरचना में परिवर्तन (ii) तकनीक में परिवर्तन (iii) कर्मचारियों में परिवर्तन। प्रबंधक एक समय में किसी भी एक परिवर्तन की योजना बना सकता है, किंतु एक में परिवर्तन से दूसरे में होने वाले प्रभावों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

4. **प्रतिरोध का निवारण करना (Overcoming Resistance) :**

परिवर्तनों का कई कारणों से प्रतिरोध किया जाता है जैसे आर्थिक हानि का भय, अधिकार-शक्तियों में कमी, दायित्वों में वृद्धि, सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आदि। कुशल

प्रबंधकों को परिवर्तन के संबंध में लोगों की भ्रांतियों व आशंकाओं को दूर करने के लिए परिवर्तनों की सही-सही जानकारी देनी चाहिए तथा परामर्श, सुझाव. सौदेबाजी, सहभागिता, आर्थिक प्रेरणाओं द्वारा परिवर्तनों को सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है।

5. लोगों कों परिवर्तन हेतु तैयार करना (Preparing to Unfreezing people for changes) :

परिवर्तन की योजना बनाने के बाद लोगों को परिवर्तन के लिए तैयार करना चाहिए। इस चरण में लोगों को यह बताया जाता है कि उनकी वर्तमान कार्य-प्रणाली व व्यवहार में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। लोगों को परिवर्तन के लिए तैयार करना व उन्हें यह विश्वास दिलाना कि परिवर्तन आवश्यक है और इसके अलावा परिवर्तन के लिए आवश्यक संसाधन व उपकरण भी उपलब्ध करने चाहिए।

6. परिवर्तनों को लागू करना (Effecting Changes) :

जब कर्मचारी परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते हैं तो परिवर्तनों को लागू करना चाहिए। इस हेतु प्रशिक्षित प्रबंधकों या परिवर्तन प्रबंधकों की सेवाऐं लेनी चाहिए। परिवर्तन प्रतिनिधि नए व्यवहार तथा नई कार्य प्रणाली से लोगों को अवगत कराते हैं तथा परिवर्तनों के प्रति लोगों को प्रोत्साहित करते हैं और परिवर्तनों को लागू करते हैं।

7. परिवर्तन का मूल्यांकन/अनुगमन करना (Evaluating or Following-up the changes) :

परिवर्तन प्रक्रिया के अंतिम चरण में किए गए परिवर्तनों का मूल्यांकन किया जाता है। इस चरण में प्रबंधक यह देखते है कि परिवर्तन कार्यक्रम नियोजित रूप से क्रियान्वित किया जा रहा है अथवा नहीं, इससे अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो रहे है या नहीं। यदि परिवर्तन के क्रियान्वयन में कोई परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे हैं तो प्रबंधक आवश्यक कदम उठाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिवर्तन के लिए एक नियोजित प्रक्रिया होनी चाहिए। जिससे परिवर्तनों का प्रबंध करना आसान हो जाता है।

19.9 सारांश (Summary)

निष्कर्षानुसार यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जिस तरह जीवन या मानवीय गतिविधियों के किसी भी क्षेत्र में जैसे - भौतिक, राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक, कला आदि क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन होते है उसी तरह संगठन में भी समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। संगठन में प्रबन्धकीय शैलियों, तकनीकों, विचारधाराओं में परिवर्तन होते रहते हैं। निरंतर बदलती हुई बाजार की परिस्थितियों में संगठन में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु किसी भी संगठन में कर्मचारियों द्वारा परिवर्तन को सहज स्वीकार नहीं किया जाता है। परिवर्तनों का कर्मचारियों द्वारा अनेक कारणों से विरोध किया जाता है। प्रतिरोध के मुख्य कारणों में आर्थिक हानि का भय, असुविधा, आपसी संबंधों के बिगड़ने का भय तथा अन्य कारण होते हैं। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संगठन में परिवर्तनों का सभी व्यक्तियों द्वारा विरोध नहीं किया जाता है। कुछ व्यक्ति परिवर्तन को एक अवसर, चुनौती, शिक्षण के रूप में स्वीकार करते हैं वही दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा परिवर्तनों

का विरोध किया जाता है। परन्तु कुशल प्रबंधकों द्वारा कुछ प्रयास करके परिवर्तनों के प्रतिरोधों को बहुत सीमा तक कम किया जा सकता है तथा संगठन में परिस्थितियों के अनुसार अनेक परिवर्तन किए जा सकते हैं। आजकल संगठनों में परिवर्तन एजेन्टों की सेवाऐं भी ली जाने लगी हैं। ये एजेन्ट संगठन में कर्मचारियों को परिवर्तन के पहलुओं की जानकारी देते हैं तथा परिवर्तनों से होने वाले प्रभावों के बारे में बताते हैं। परिवर्तनों से होने वाले लाभों से कर्मचारियों को अवगत कराकर उन्हें परिवर्तन के लिए तैयार करते हैं।

अत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी संगठन में परिवर्तन बहुत आवश्यक है परन्तु कर्मचारी इन परिवर्तनों का अनेक कारणों से विरोध करते हैं। एक कुशल प्रबंधक अपने प्रयासों से कर्मचारियों की इन भ्रांतियों व आशंकाओं का निवारण कर उन्हें परिवर्तन के लिए प्रेरित करना चाहिए।

19.10 प्रश्न (Questions)

1. परिवर्तनों के प्रतिरोध के कौन-कौन से कारण होते हैं? परिवर्तन प्रतिरोध को कम करने के उपाय बताइए।
2. परिवर्तन प्रबंध की आवश्यकता क्यों पड़ती है? परिवर्तन प्रबंध प्रक्रिया के आवश्यक चरणोंको स्पष्ट कीजिए।
3. संगठनात्मक परिवर्तन की परिभाषा दीजिए। परिवर्तन के रूप एवं प्रकृति पर प्रकाश डालिए तथा परिवर्तन प्रबन्ध की आवश्यकता समझाईये ।

19.11 उपयोगी पुस्तकें

1. N. Margulies and J. Wallace - Organizational Change (Scott Foresman, 1973)
2. Stephen P. Robbins - Organizational Behaviour (Prentice Hall, 2004)

इकाई-20: संगठन विकास (Organsational Development)

इकाई की रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 विशेषताएँ

20.4 आवश्यकता एवं महत्व

20.5 संगठन विकास के उद्देश्य

20.6 संगठन विकास एवं प्रबन्धकीय विकास में अन्तर

20.7 तकनीकें

20.8 संगठन विकास की प्रक्रिया

20.9 सीमाएँ

20.10 भारत में संगठन विकास

20.11 सारांश

20.12 शब्दावली

20.13 प्रश्न

20.14 उपयोगी पुस्तकें

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- संगठन विकास की परिभाषा एवं विशेषताएँ समझ पायेंगे।
- संगठित विकास की आवश्यकता एवं महत्त्व का वर्णन कर सकेंगे।
- संगठन विकास के उद्देश्य तथा संगठन विकास एवं प्रबन्धकीय विकास में अन्तर को समझ सकेंगे।
- संगठन विकास की तकनीकें, विधियों अथवा उपनाम की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- संगठन विकास की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- संगठन विकास की सीमाएँ एवं भारत में संगठन विकास को समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

संगठन में परिवर्तनों के साथ-साथ व्यापारियों के दृष्टिकोण, क्षमता एवं भूमिकाओं में भी यथेष्ट परिवर्तन आवश्यक व महत्वपूर्ण है, जिससे परिवर्तित परिस्थितियों में भी व्यक्ति प्रभावी भूमिका निर्वाह कर सकें। संगठन परिवर्तनों के साथ मात्र किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के प्रशिक्षण व विकास से परिवर्तनों के यथेष्ट परिणाम प्राप्त नही हो सकते, क्योंकि जब तक उस व्यक्ति या समूह की क्षमता, भूमिका व दृष्टिकोण से अन्य सभी व्यक्तियों की क्षमता, भूमिका व दृष्टिकोण से सामंजस्य न होगा, तब तक उस व्यक्ति या समूह के लिए अपनी परिवर्तित भूमिका का प्रभावी निर्वाह करना संभव न होगा। इसलिए संगठन कर प्रभावशीलता

में वृद्धि करने के लिए किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह का ही विकास पर्याप्त न होगा, वरन् समग्र संगठन का विकास करना होगा। उदाहरण के लिए यदि प्रबन्धकों को श्रमिक सहभागिता का औचित्य समझा दिया जाए एवं उसके लिए आवश्यक प्रशिक्षण भी प्रदान कर दिया जाये,तब भी श्रमिक सहभागिता योजना का प्रभावी क्रियान्वयन एवं उसके वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए कर्मचारियों को भी उस योजना का औचित्य समझना एवं उसके लिए उन्हें प्रशिक्षित करना होगा।

यदि संगठन में परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत कुछ सीमित व्यक्तियों को ही प्रशिक्षण प्रदान करके उनकी भूमिका में कोई परिवर्तन किया जाता है तो शेष व्यक्तियों एवं उनकी भूमिका से परस्पर विरोधाभास उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए संगठन विकास से आशय उपक्रम या संगठन के सभी पहलुओं में परिवर्तन एवं इनके समन्वित विकास की प्रक्रिया से है।

20.2 परिभाषा (Definition)

फ्रेंच एवं बेल के अनुसार "कार्य अनुसंधान, व्यवहार विज्ञान के सिद्धान्त प्रौद्योगिकी एवं परिवर्तन अभिकर्ता की सहायता से संगठन की संस्कृति (विशेषत: औपचारिक कार्य दलों की संस्कृति) के प्रभावी एवं सहभागितापूर्ण प्रबन्ध के माध्यम से संगठन के समस्या निवारण एवं नवीनीकरण प्रक्रियाओं के दीर्घकालीन प्रयास ही संगठन विकास है।"

वारेन बेनिस के अनुसार "संगठन विकास परिवर्तनों का प्रति उत्तर है, यह संगठन का नीवन प्रौद्योगिकी, बाजारों व चुनौतियों से अनुकूलन हेतु संगठन की मान्यताओं, दृष्टिकोण व संरचना में परिवर्तन की जटिल व्यूह रचना है।"

संक्षेप में संगठन विकास व्यवहार विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार समग्र संगठन के सभी पहलुओं में परिवर्तन की प्रक्रिया है जिससे संगठन आवश्यक परिवर्तनों को ठीक से समाविष्ट कर सब प्रकार से समुन्नत हो।

20.3 विशेषताएं (Characteristics of Organisational Development)

संगठन विकास की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर इसमें निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं-

1. **नियोजित परिवर्तन (Planned Change)-** संगठन का वातावरण में हो रहे परिवर्तनों से अनुकूलन एवं उसकी प्रभावशीलता में वृद्धि करने के लिए संगठन में निरन्तर कई परिवर्तन किये जाते है। इन परिवर्तनों को नियोजित ढंग से करने की व्यूह रचना ही संगठन विकास है। सूविचारित योजना बनाकर परिवर्तन करने से ही परिवर्तन के अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।
2. **शिक्षण की व्यूह रचना (Educational Strategy)-** संगठन में नियोजित ढंग से परिवर्तन लाने के लिए कर्मचारियों मे जिन अभिवृत्तियों का विकास करना होता है उनके विकास हेतु यथेष्ट शिक्षण एवं प्रशिक्षण अनिवार्य है और यह संगठन विकास प्रक्रिया का एक अंग है।

3. **समस्या आधारित प्रक्रिया (Problem Based Process)-** संगठन विकास उपक्रम की विद्यमान एवं भावी समस्याओं के निवारण की वजह रचना है। इसके अन्तर्गत संगठन की समस्याओं का विश्लेषण करके निवारण हेतु उचित परिवर्तनों की योजना बनाई जाती है।

4. **कार्य अनुसन्धान या क्रिया अनुसन्धान (Action Research)-** संगठन विकास की योजना मूलत: कार्य या क्रियाओं के अनुसन्धान के आधार पर बनाई व क्रियान्वित की जाती है।

5. **प्रयोगशाला प्रशिक्षण विधियों का उपयोग (Use of Laboratory Methods)-** संगठन विकास प्रक्रिया में प्रयोगशाला प्रशिक्षण विधियों का भी प्रयोग किया जाता है। ये प्रशिक्षण विधिया मुख्यत: व्यवहारगत अनुभव पर आधारित होती है।

6. **कार्यवाही प्रधान (Action Oriented)-** संगठन विकास परिवर्तनों का आयोजन मात्र नही है वरन इसमें संगठन विकास के लिए की जाने वाली कार्यवाहियों की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत समग्र संगठन के लिए परिवर्तनों का नियोजन भी किया ही जाता है साथ ही उन परिवर्तनो को क्रियान्वित करने के लिए उचित वातावरण तैयार किया जाता है। उन्हे सतर्कता से क्रियान्वित किया जाता है एवं इसके परिणामो का मूल्यांकन करते हु ए उच्ति संशोधन भी किये जाते रहते हैं। इस प्रकार संगठन विकास एक कार्यवाही प्रधान प्रक्रिया है।

7. **पूर्ण सहभागिता (Perfect Participation)-** संगठन विकास प्रक्रिया में प्रत्येक स्तर पर सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को निर्णयन में भागीदार बनाया जाता है अर्थात् संगठन के विकास का दायित्व केवल प्रबन्धकीय स्तरों तक ही सामित नही रख कर सम्पूर्ण संगठन को परिवर्तनों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु सक्षम बनाने पर बल दिया जाता है।

8. **व्यवहार विज्ञान पर आधारित (Based on Behavioral Science)-** संगठन विकास की योजना का नियोजन एवं क्रियान्वयन मानवीय व्यवहार विज्ञान के सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर किया जाता है। तथा व्यक्तियों के व्यवहार व अभिवृतियों (Attitudes) में उचित परिवर्तन व विकास हेतु प्रयास किये जाते हैं।

9. **अन्य विशेषताएं (Other Characteristics)-** संगठन विकास एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें' अन्य कई लक्षण परिलक्षित होते है, जैसे :-
   i. यह प्रबन्ध विकास से व्यापक है।
   ii. यह प्रणाली तर्कसंगत व वैधानिक विचारधारा पर आधारित है।
   iii. यह प्रबन्धकीय प्रक्रिया का अभिन्न अंग है व सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है।
   iv. यह परिवर्तन अभिकर्ता (Change agent) के रूप में बाहरी परामर्शदाताओं का भी सहयोग लिया जाता है जो परिवर्तनों के नियोजन व क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण सहयोग देते हैं।
   v. यह संगठन के सतत् विकास, वातावरण के प्रति संवेदनशीलता में सतत् वृद्धि एवं परिवर्तनों में सहज सुगमता से आत्मसात करने की प्रक्रिया है।
   vi. यह एक दूरगामी परिवर्तनों की प्रक्रिया है।

20.4 आवश्यकता एवं महत्व (Need and Importance)

कर्मचारियों एवं प्रबन्धको के पृथक-पृथक एवं स्वतंत्र प्रशिक्षण से संगठन को प्रभावशाली नही बनाया जा सकता है। इसके लिए संगठन के समग्र वातावरण मे परिवर्तन व सम्पूर्ण संगठन के एकात्मक एवं समन्वित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इसलिए संगठन के विकास की व्यूह रचना से ही उपक्रम की प्रभावशीलता बढ़ाई जा सकती है। संगठन विकास की प्रमुख आवश्यकताएं एवं महत्व को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है:

1. **द्रुतगामी परिवर्तन (Rapid Change)-** उपक्रम के वातावरण में अत्यन्त तीव्रता से परिवर्तन हो रहे है जो उपक्रम के अस्तित्व पर संकट ला देते है अतएव उपक्रम कि इन त्वरित परिवर्तनों के प्रति उच्च संवेदनशीलता एवं उनसे भी तीव्र अनुकूलन की क्षमता होनी चाहिए। इसलिए परिवर्तनों का पूर्वानुमान करते हु ए समग्र संगठनों को इन परिवर्तनों को स्वीकारने योग्य बनाये रखना अत्यन्त अनिवार्य है। इसके लिए कुछ व्यक्तियों के प्रशिक्षित मात्र कर देने से काम नही चल सकता। सम्पूर्ण संगठन की योग्यता, क्षमता व अभिवृतियां इन परिवर्तनों को सहजता से आत्मसात करने में अक्षम होनी चाहिए।
2. **प्रेरणाओं की सीमाएं (Limitations of Incentives)-** मात्र मौद्रिक एवं अन्य प्रेरणाओं से ही संगठन में उचित अभिवृतियों का विकास नही हो सकता। इसके लिये समग्र संगठन के संस्कृति व वातावरण में वांछित परिवर्तन करने होते है जिससे कि परिवर्तनों को सहजता से स्वीकारा जाये व उनका सहजता से ही क्रियान्वयन हो सके।
3. दूरगामी व्यूह रचनाओं एवं नियोजन की आवश्यकता।
4. भावी परिवर्तनों को स्वीकारने के लिए संगठन में अग्रिम तैयारी अनिवार्य है। उसके लिए भावी परिवर्तनों का पूर्वानूमान एवं नियोजन भी अनिवार्य हो जाता है। वातावरण में आने वाले दस से बीस वर्षा में क्या-क्या परिवर्तन होंगे और उनके कारण संगठन को उन परिवर्तनों को स्वीकारने योग्य बनाने के लिए 10 से 20 वर्ष पूर्व से ही उचित क्षमताओं, योग्यताओं, साधनों व अभिवृतियों, परिस्थितियों एवं वातावरण के निर्माण के प्रयास आरम्भ करने अनिवार्य हो जाते है। भारत के अधिकांश भारी व आधारभूत औद्योगिक उपक्रम, जैसे भारतीय इस्पात प्राधिकरण, भारत हैवी इलेक्ट्रीकल्स लिमिटेड, टेल्को, टिस्को आदि अपनी पन्द्रह से पच्चीस वर्ष तक की संगठन विकास की योजनाएं अग्रिम तैयार करते हैं।
5. **अन्य आवश्यकताएं एवं महत्व (Other Needs and Importance)-** संगठन विकास की अन्य कई कारणों से आवश्यकता व महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिनमें निम्न प्रमुख है-
   i. संगठन की समस्या निवारण क्षमता में वृद्धि के लिए।
   ii. संगठन के सभी व्यक्तियों को उनकी भूमिका प्रभावी ढंग से निर्वाह के लिए उचित वातावरण प्रदान करने के लिए।
   iii. संगठन का एक संवेदनशील आर्थिक व सामाजिक संगठन के रूप में विकास करने के लिए।
   iv. संगठन में द्वंद या संघर्षो के सकारात्मक उपयोग के लिए।
   v. वातावरणीय परिवर्तनों से सतत् अनुकूलन।

vi. संगठन की अस्तित्व रक्षा व उन्नति।

vii. सभी कार्यो का दूरगामी आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजन व क्रियान्वयन ।

viii. संगठन के प्रत्येक सदस्य की भूमिका को अधिकतम प्रभावी बनाने के लिये।

ix. भूमिकाओं में टकराव रोकने के लिए।

x. परिवर्तनों को सहज स्वीकारोक्ति व उनका स्वागत।

xi. उच्च मनोबल व सहयोग।

20.5 संगठन विकास के उद्देश्य

संगठन विकास के प्रमुख उद्देश्य निम्न है-

1. संगठन में समयानुकूल गत्यातमकता बनाये रखना।
2. संगठन के स्वनवीनीकरण को प्रोत्साहन।
3. संगठन के नवीनीकरण एवं समुन्नत करने की प्रक्रिया में निरन्तरता।
4. संगठन की सर्वागीण विकास एवं अधिकतम वृद्धि।
5. संगठन की सभी व्यक्तियों को उनकी भूमिका अत्यन्त प्रभावी ढंग से पूरी करने के योग्य बनाना व उसके लिए उचित वातावरण प्रदान करना।
6. संगठन की सभी व्यक्तियों के उद्देश्यों में निरन्तर समन्वय बनाये रखना।
7. संगठन के सभी व्यक्तियों में आवश्यक तकनीकी चातुर्य का विकास करना जिससे वे परिवर्तनों को रूचि एवं उत्सुकता से ग्रहण करें।
8. उपक्रम को बाहरी परिवर्तनों के प्रति अधिकतम संवेदनशील बनाना।
9. संगठन की मान्यताओं, धारणाओं, मूल्यों एवं अभिवृतियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना।
10. परिवर्तनों को नियोजित एवं समन्वित ढंग से क्रियान्वित करना।
11. दीर्घकाल तक उपक्रम के अस्तित्व की सुरक्षा एवं विकास।

20.6 संगठन विकास एवं प्रबन्धकीय विकास में अन्तर

प्रबन्ध विकास से आशय उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उचित प्रशिक्षण एवं अन्य तकनीकी द्वारा प्रबन्धको में वांछित क्षमताओं का विकास करने की प्रक्रिया से है अर्थात उपक्रम के लक्ष्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए प्रबन्धको में जिन योग्यताओं का अभाव हो उनका विकास करके उनकी निष्पादन क्षमता में वांछित वृद्धि करना ही प्रबन्ध विकास कहलाता है। संगठन विकास एवं प्रबन्ध विकास में अनेक अन्तर है और दोनों की मान्यताएं व उद्देश्य भी भिन्न है। प्रबन्ध विकास एक अपेक्षाकृत संकुचित तकनीक है जबकि संगठन विकास एक विस्तृत एवं गत्यात्मक प्रक्रिया है। इन दोनों में निम्न प्रमुख अन्तर है-

1. **प्रबन्ध विकास** के अर्न्तगत संगठन के मौजुदा स्वरूप में ही उपक्रम के प्रबन्धको का निष्पादन स्तर बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है जबकि संगठन विकास में संगठन के सभी प्रबन्धको एवं कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के साथ-साथ संगठन की संरचना, संस्कृति व वातावरण को भी संगठन के प्रबन्धको एवं कर्मचारियों के निष्पादन स्तर में वृद्धि करने के लिये उनके अनुकूल

बनाने के लिए यथेष्ट परिवर्तन किये जाते है। इसमें प्रबन्धको व कर्मचारियों में वांछित अभिवृतियों, धारणाओं व मान्यताओं का विकास भी सम्मिलित होता है।

2. **प्रबन्ध विकास** के अन्र्तगत प्रबन्धकों की प्रभावशीलता में वृद्धि के लिए उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जाता है जबकि **संगठन विकास** में सम्पूर्ण संगठन के प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों सभी को पारस्परिक सामंजस्य के साथ प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे प्रबन्धको एवं कर्मचारियों दोंनो को ही एक-दूसरे का बेहतर सहयोग प्राप्त होता है।

3. **प्रबन्ध विकास** के उपरान्त प्रबन्धको के कार्य वातावरण में कोई अन्तर नही आता है। जबकि **संगठन विकास** से सम्पूर्ण संगठन के कार्य वातावरण में परिवर्तन आता है।

4. **प्रबन्ध विकास** केवल प्रबन्धकों की व्यक्तिगत क्षमताओं में विकास करता है जबकि संगठन विकास के सभी सदस्यों की क्षमताओं में वृद्धि करने के साथ-साथ संगठन एवं इसके सदस्यों के पारस्परिक हितों एवं उद्देश्यों में भी उचित सामंजस्य स्थापित करता है।

5. **प्रबन्ध विकास** के उपरान्त भी प्रबन्धक का कार्य वातावरण पूर्ववत् ही रहता है जो उसके लिए सहयोगात्मक अथवा विरोधात्मक हो सकता है जबकि **संगठन विकास** के उपरान्त संगठन के सभी सदस्य कार्य वातावरण की अपेक्षा अधिक सहयोगात्मक पाते है।

6. **प्रबन्ध विकास** संगठन विकास का अंग माना जा सकता है जबकि संगठन विकास **प्रबन्ध विकास** का अंग नही माना जा सकता है।

7. **केवल प्रबन्ध विकास** से कभी-कभी प्रबन्धक के कार्यो में प्रतिरोध बढ़ जाता है क्योंकि सम्भव है कि शेष संगठन प्रशिक्षण के उपरान्त प्रबन्धक द्वारा किये जाने वाले व्यवहार को स्वीकार न करे या उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार न करे। क्योंकि शेष कर्मचारियों का दृष्टिकोण पूर्ववत् ही रहता है। लेकिन **संगठन विकास** से निश्चित ही प्रबन्धकीय कार्यो का प्रतिरोध कम होता है।

20.7 संगठन विकास की अनेक तकनीकें, विधियाँ अथवा उपगाम (Techniques)

संगठन विकास की अनेक तकनीकें एवं विधियां है। संगठन की परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुसार इनमें से उपयुक्त विधियां प्रयुक्त की जा सकती है। संगठन विकास की प्रमुख विधियां निम्न है- 1. संवेदनशील प्रशिक्षण, 2. ग्रिड प्रशिक्षण, 3. प्रणाली1-4 अथवा सिस्टम 1-4, 4. त्रि-आयामी (3-D), 5. सर्वेक्षण प्रतिपुष्टि, 6. प्रक्रिया परामर्श, 7. प्रत्यक्ष वार्ता सभा, 8. दल या टीम

1. संवेदनशील प्रशिक्षण (Sensitivity training) - इसे समूह गन्तयात्मक प्रशिक्षण अथवा **T** ग्रुप भी कहा जाता है। सर्वप्रथम 1946 में न्यु ब्रीटेन कलेक्टिकल के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में प्रयुक्त इस विधि के विकास में लेबिन, बने, ब्रेडफोर्ड तथा लिपिट आदि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। व्यक्तियों में परस्पर एक दूसरे की भावनाओं एवं प्रतिक्रियाओं के प्रति संवेदनशीलता विकसित करने के लिए यह उत्तम विधि है। संगठन के सदस्यों के उच्च पारस्परिक संवेदनशीलता के साथ कार्य करने से संगठन में स्वत: समन्वय का वातावरण बनता है एवं परिवर्तनों के क्रियान्वयन में वे एक दूसरे का यथेष्ट सहयोग भी करते है।

संवेदनशीलता प्रशिक्षण में दस से पन्द्रह व्यक्तियों के एक पूरे समूह में एक या दो प्रशिक्षक भी सम्मिलित किये जाते है। इस प्रशिक्षणार्थी समूह को दो-तीन सप्ताह तक नियमित रूप से दिन में एक या दो बार एक ही स्थान पर एकत्रित होना होता है। उनका यह दैनिक सत्र एक से दो घण्टे तक का होता है।

प्रारम्भिक अवधि में यह समूह बिना किसी विशिष्ट कार्य सूची के अपना कार्य आरम्भ करता है। इस प्रारम्भिक दिनों में समूह के सदस्यों में एक अलगाव की स्थिति भी हो सकती है। लेकिन धीरे-धीरे पारस्परिक निकटता एवं सम्प्रेषण या विचार आदान-प्रदान से एक दूसरे के प्रति भ्रान्तियां दूर होती है और उनमें निकटता बढ़ती है।

उन्हे इस प्रकार एकसाथ रखने का मूल उद्देश्य भी यही होता है कि प्रत्येक व्यक्ति यह देखे कि उसके व्यक्तियों के व्यक्तित्व, आचरण एवं व्यवहार का उसकी भावनाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका एक लक्ष्य यह भी होता है कि परस्पर एक दूसरे की पारस्परिक आवश्यकताओं की अधिकतम प्रभावपूर्ण बने।

प्रशिक्षण के प्रथम चरण में प्रशिक्षण केवल समूह का अवलोकन करता है और समूह में पारस्परिक सम्प्रेषण की समस्याओं, बाधाओं, सदस्यों के बीच उत्पन्न होने वाली गलतफहमियों और अन्र्तव्यक्ति सम्बन्धों का अध्ययन करता है। प्रशिक्षण के दूसरे चरण में प्रशिक्षणार्थी को अपने व्यक्तित्व की कमियों की जानकारी होती है और वह समूह के साथ अपने व्यवहार में सुधार कर सकता है। क्योंकि उसे यह विदित हो जाता है कि उसका कौन सा व्यवहार समूह एकात्मकता एवं सहयोग को बढ़ाता है एवं कौनसा व्यवहार उसे घटाता है।

इस सम्पूर्ण प्रशिक्षण सत्र के उपरान्त इन प्रशिक्षणार्थियों का समूह व्यवहार परिष्कृत होता है, उनको पारस्परिक संवेदनशीलता में वृद्धि होती है, उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ती है और वे प्रभावी एवं सुदृढ समूह के निर्माण में सफल होते है।

2. **ग्रिड प्रशिक्षक (Grid Training)-** यह विधि अमेरिका के रॉबर्ट ब्लेक तथा जेने माउटन द्वारा विकासित प्रबन्धकिय ग्रिड पर आधारित है। इस विधि का उद्देश्य यह होता है कि प्रबन्ध कार्य-परिणामों (अर्थात उन्पादन) एवं व्यक्ति (अर्थात मानवीय संसाधनों) दोनों के प्रति पूर्ण सजगता एवं संवेदनशीलता रखें। क्योंकि दोनों में से एक के प्रति भी उपेक्षा होने पर या संवेदनशीलता में कमी आने पर उपक्रम की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता घट जाती है।

भौतिक उत्पादन एवं मानवीय संसाधनों के प्रति सापेक्ष (तुलनात्मक) संवेदनशीलता को आँकने के लिए **अग्र चित्र अथवा ग्रिड,** जिसका विकास भी उपरोक्त विद्वानों द्वारा किया गया था का प्रयोग किया जा सकता है तथा इन दोनों में यथेष्ट सन्तुलन न होने पर वांछित सुधार भी किया जा सकता है।

निम्न चित्र के '1 - 1 प्रबन्ध' वाला खण्ड यह दर्शाता है कि प्रबन्धक सजगता, संवेदनशीलता या दिलचस्पी न तो अधिक उत्पादन के प्रति है और न ही व्यक्तियों एवं उनके कल्याण व विकास के प्रति। '1 -9 प्रबन्ध' वाला खण्ड यह बतलाता है कि प्रबन्धक उत्पादन लक्ष्य के प्रति बिल्कुल सजग नही है और केवल व्यक्तियों के प्रति ही संवेदनशील है ऐसी स्थिति में उच्च समूह गत्यात्मकता, उच्च सहयोगात्मक वातावरण एवं उच्च कर्मचारी मनोबल होते हुए भी उपक्रम अपने उद्देश्यों की पूर्ति नही कर पाता है। इसके विपरीत '9- 1 प्रबंध' में प्रबन्धक

उत्पादन में है जिससे उचित सहयोगात्मक वातावरण का विकास नही बन सकता है। '9-9 प्रबन्ध' में प्रबन्धक उत्पादन वृद्धि एवं व्यक्तियां के प्रति समान व अधिकतम लगाव रखता है अर्थात दोनों के ही पूर्ण रूप से सजग या अभिमुखित है। यह 9,9 की आदर्श स्थिति व्यवहार में सम्भव नही प्रतीत होती है। फिर भी '5-5 ' वाली स्थिति तो व्यवहार में वास्तव में होनी चाहिए अर्थात प्रबन्धक दोनों ही के प्रति उत्पादन लक्ष्य एवं कर्मचारियों के प्रति समान रूप से संवेदनशील एवं सजग रहे।

'प्रबन्धकीय ग्रिड'

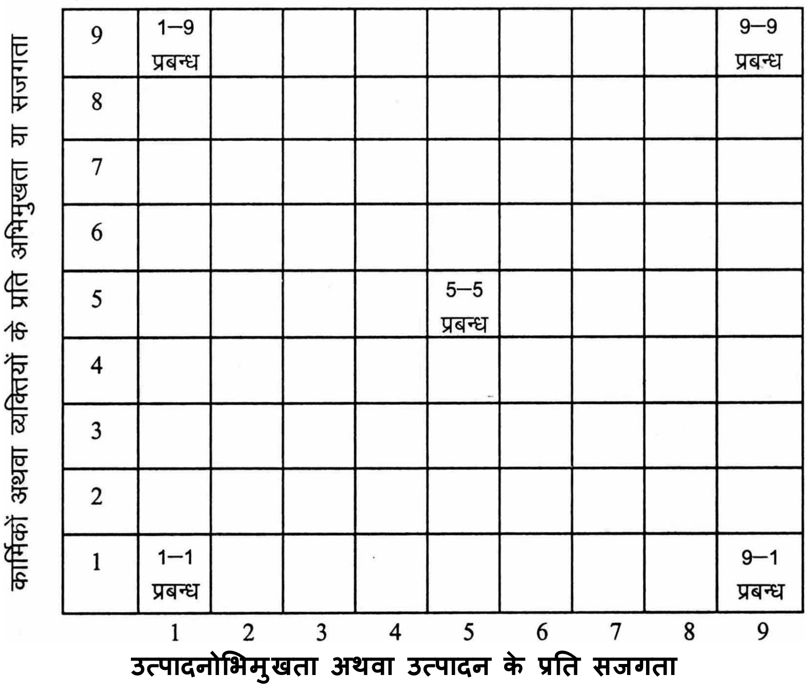

चित्र - 'प्रबन्धकीय ग्रिड'

प्रबन्धक की पर्यवेक्षण शैली ग्रिड के अर्न्तगत कहां पर आती है? इसका पता विस्तृत प्रश्नावलीयों के माध्यम से प्रबन्धक से उसकी प्राथमिकताओं के बारे में जानकारी लेकर की जाती है। प्रबन्धक की पर्यवेक्षण शैली में प्रबन्धकीय ग्रिड में उसकी स्थिति के अनुसार जो कमी पाई जाती है उसकी उसे जानकारी कराकर उसमें वांछित सुधार कराया जा सकता है। ऐसा करने से उपक्रम में उच्च सहयोगात्मक वातावरण उच्च कार्यकुशलता का विकास होगा व उत्पादन में उच्चतम वृद्धि होगी जो दीर्घकालिक भी होगी।

3. **प्रणाली 1-4 अथवा सिस्टम 1-4 (System 1-4)-** संगठन में आदर्श प्रबन्धकीय शैली का विकास करने की दृष्टी से अमेरीका के मिशीगन (Michigan) विश्वविद्यालय की सामाजिक शोध संस्थान के प्रो. रेन्सिस लिकर्ट ने प्रबन्धकीय शैलियों को निम्न चार श्रेणियों में विभक्त किया है:- (1) शोषणात्मक अधिनायकवादी प्रबन्ध (2) परोपकारी अधिनायकवादी प्रबन्ध (3) परामर्शदायक प्रबन्धक एवं (4) सहभागी प्रबन्ध।

संगठन विकास प्रक्रिया मे सबसे पहले यह जानकारी एकत्रित की जाती है कि संगठन में प्रचलित प्रबन्ध शैली उपरोक्त चार में से किस श्रेणी की है। यह जानकारी एक विस्तृत प्रश्नावली के

माध्यम से आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करके की जाती है। इस जानकारी के आधार पर विद्यमान प्रबन्ध शैली का एक पार्श्व चित्र (Profile) बनाया जाता है। इस पार्श्व चित्र के ऊपर वांछित (या आदर्श) प्रबन्धकीय शैली का पार्श्व चित्र बनाया जाता है तदुपरान्त लक्ष्य निर्धारण, निर्णयन, नियोजन, सम्प्रेषण, अभिप्रेरण नियन्त्रण एवं निष्पादन आदि सभी क्षेत्रों में यथेष्ट परिवर्तन करके वांछित शैली का विकास किया जाता है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि किसी भी संगठन के लिए वांछित एवं आदर्श शैली सहभागी प्रबन्ध शैली को ही माना जाता है। इस प्रकार सहगामी प्रबन्ध शैली की दृष्टि से उपक्रम के प्रबन्ध में जो कमियाँ होती है उन्हें उचित रीति से दूर करने के प्रयास किये जाते है और सहभागी प्रबन्ध का विकास किया जाता है।

4. **त्रि-आयामी (3-D) प्रबन्ध (three dimensional management 3D)-** प्रो. विलियम जे. रेडीन द्वारा विकसित यह तकनीक प्रबंधकीय ग्रिड और सिस्टम 1-4 के सुधारे हुए स्वरूपों का सम्मिश्रण है। जहां प्रबन्धकीय ग्रिड में दो आधारों या आयामों में प्रबन्धकी शैली का मूल्यांकन किया जाता है। इसके अनतर्गत प्रबन्ध का मूल्यांकन उसकी - (1) कार्योन्मुखता, (2) व्यक्ति या कर्मचारी अभिमुखता एवं (3) प्रभावशीलता के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत प्रचिलित या विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ' 'सर्वोच्च प्रभावशीलतायुक्त प्रबन्धकीय शैली' ' का विकास करने पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रभावशीलता की दृष्टि से उच्च, मध्यम, एवं अल्प प्रभावशीलता युका प्रबन्ध की (प्रत्येक की) चार-चार शैलियों का वर्णन किया है जिससे कि प्रत्येक संगठन में उसकी परिस्थितियों व वातावरण के अनुसार उसके प्रबन्ध की प्रभावशीलता में वृद्धि के लिए इस त्रि-आयामी संगठन विकास प्रणाली के आधार पर अनुकूलतम शैली का विकास किया जा सके।

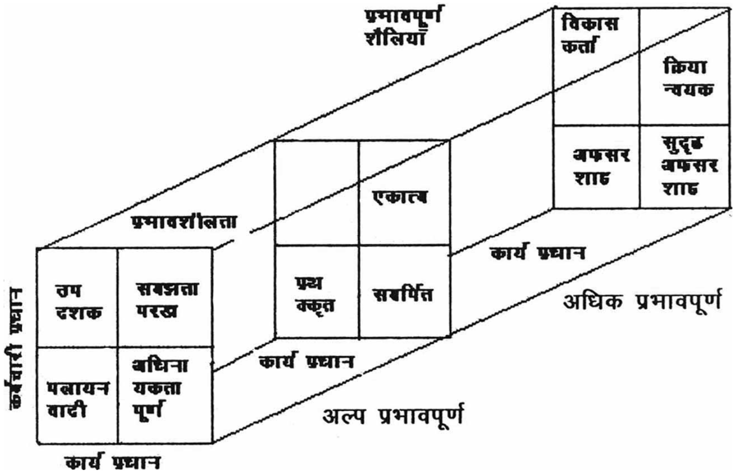

त्रि-आयामी प्रबन्ध शैली-चित्रण

5. **सर्वेक्षण प्रतिपुष्टि (Survey feedback)-** संगठन विकास की इस तकनीक के अन्तर्गत प्रश्नावली, व्यक्तिगत साक्षात्कार एवं अवलोकन आदि सर्वेक्षण विधियों की सहायता से परिणामों से सम्पूर्ण संगठन को अवगत कराकर उन कमियों को दूर करने के लिए उचित कार्यक्रम का विकास करते हैं।

यह सर्वेक्षण परिणामों के संगठन को प्रतिपोषण एवं विद्यमान कमियों के निवारण हेतु उचित कार्यक्रमों के विकास आदि सामान्यत: बाहरी विशेषज्ञों द्वारा सम्पादित किये जाते है।

इस प्रकार के सर्वेक्षणों के माध्यम से **प्रबन्धकीय** नेतृत्व, संगठन के वातावरण, सम्प्रेषण व्यवस्था, अभिप्रेरण, समन्वय, कर्मचारियों की अभिवृतियां, सन्तुष्टि एवं मनोबल आदि का मूल्यांकन किया जाता है।

सर्वेक्षण व सर्वेक्षण प्रतिपोषण की इस प्रक्रिया को फेन्च एवं बेल के अनुसार निम्न पाँच चरणों में पूरा किया जाता है-

1. प्राथमिक नियोजन
2. संगठन के सदस्यों से सूचनाओं का एकत्रीकरण
3. सूचनाओं का उच्च स्तरीय अधिकारियों को प्रतिपोषण एवं इनका पुन: क्रियात्मक या कार्य दलों को सम्प्रेषण
4. पर्यवेक्षको द्वारा अधीनस्थ के साथ परिणामों पर विचार-विमर्श एवं उचित संशोधन योजनाओं का निर्माण
5. विशेषज्ञ परामर्शदाता के मार्ग-दर्शन में सुधार के उपायों का क्रियान्वयन

6. **प्रक्रिया परामर्श (Process consultation)-** एडगर एवं शीन द्वारा विकसित इस विधि के अन्तर्गत बाहरी विशेषज्ञों के सहयोग से संगठन की अर्न्तव्यक्ति और अर्न्तसमूह समस्याओं को सुलझाया जाता है। यहां प्रक्रिया शब्द से आशय उन मानवीय क्रियाओं एवं अन्तर्व्यवहार से है जो कार्य के दौरान औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से कर्मचारियों के पारम्परिक मिलन से उत्पन्न होते है। बाह्य परामर्शदाता यहां पर इन अर्न्तव्यक्ति एवं अन्यसमूह व्यवहारों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करके बेहतर समूह गत्यात्मकता के लिए उचित परामर्श एवं प्रशिक्षण प्रदान करता है। शीन के अनुसार **इस प्रक्रिया को निम्न चरणों में पूरा किया जाता है-**

1. नियोक्ता अथवा शीर्ष प्रबन्ध द्वारा संगठनात्मक समस्याओं के निवारण के लिए बाहरी विशेषज्ञों से सम्पर्क।

2. नियोक्ता एवं विशेषज्ञ के बीच औपचारिक ठहराव (कि परामर्शदाता कितने समय में एवं कितने परिश्रमिक पर क्या परिणाम प्रदान करेगा)।

3. परामर्शदाता द्वारा उचित कार्याविधि का चयन।

4. अवलोकन अनुसूची, प्रश्नावली व साक्षात्कार आदि के माध्यम से सूचनाएं एकत्रित करना एवं समस्याओं का निदान।

5. परामर्शदाता द्वारा हस्तक्षेप करके प्रतिपोषण शिक्षण, प्रशिक्षण एवं परामर्श के द्वारा समस्याओं के हल करने के लिए संगठन में वांछित परिवर्तन करना।

6. संगठन द्वारा परिवर्तनों को सहजता से स्वीकार कर लेने व उनके वांछित परिणाम प्राप्त हो जाने पर परामर्शदाता द्वारा हस्तक्षेप समाप्त करके संगठन से सम्बन्ध-विच्छेद करना। यहीं नियोक्ता एवं कर्मचारी के औपचारिक अनुबन्ध का भी समापन हो जाता है।

7. **सम्मुख या प्रत्यक्ष वार्ता अर्थात् वाद-विवाद सभा (Confrontation Meeting)-** जब कभी संगठन में कोई वृहद स्तरीय परिवर्तन करने होते है, जैसे नवीन प्रौद्योगिकी को

अपनाना, कम्पनी का किसी अन्य कम्पनी के साथ विलय करना आदि, तब उन परिवर्तनों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने के लिए संगठन में जो भी परिवर्तन या सुधार करने होते है उन पर विस्तृत विचार करने के लिए ऐसी स्वतंत्रतापूर्ण व खुली वाद-विवाद सभायें आयोजित की जाती है जिससे कि उन परिवर्तनों को पूर्ण कुशलता व प्रभावशीलता से लागू किया जा सके। इसमें विविध स्तरो पर कार्यरत व्यक्ति अपने-अपने अनुभवों के आधार पर अपने विचार व अभिमत स्वतन्त्रता से रखते है जिससे, योजना जो भी अन्तिम रूप लेती है वह सुविचारित, विवेक सम्मत व व्यावहारिक होता है।

8. **दल या टीम निर्माण (Team Building)-** इस तकनीक द्वारा संगठन के सभी सदस्यों में यथेष्ट एकात्मकता, उच्च पारस्परिक सहयोग एवं सामूहिक उपलब्धि की भावना विकसित की जाती है। भारतीय उपक्रमों में सबसे बड़ी कमी दलीय भावना के अभाव की ही है। व्यक्ति, व्यक्तिगत प्रशंसा एवं श्रेय के लिए जितना उत्कृष्ट प्रदर्शन का श्रेय किसी बड़े समूह को जाता है जिसके वे भी सदस्य हो जबकि किसी भी उपक्रम की प्रभावशीलता में वृद्धि के लिए दलीय भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस तकनीक में भी बाहरी परामर्शदाता का सहयोग लिया जाता है।
9. **तृतीय पत्रकार द्वारा शान्ति वार्ता (Third Party Peace Meeting)-** संगठन मे वैचारीक द्वन्द्व एवं संघर्ष की स्थिति में कई बार विवादों का निराकरण कर शान्ति एवं सामंजस्य की स्थापना के लिए किसी पत्रकार की भी आवश्यकता होती है जो कि विवादग्रस्त पक्षों में उचित समझौता कराता है।

20.8 संगठन विकास प्रक्रिया

विभिन्न विद्वानों ने संगठन विकास प्रक्रिया का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। सबने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं सुझाई है, जैसे ब्लैक एवं माउटन ने इस प्रक्रिया के छ: चरण बताये है, ब्रेक हार्ड ने इस प्रक्रिया के पाँच चरण (पिदान, व्यूहरचना का नियोजन, शिक्षण, परामर्श एवं प्रशिक्षण और मूल्यांकन) बताये है। फ्रेंच एवं बेल ने इसके तीन चरण (निदान, कार्यवाही और प्रक्रिया अनुरक्षण) बताये है। लोरेन्स और लौच ने चार चरण (निदान, कार्यवाही का नियोजन, कार्यवाही क्रियान्वयन और मूल्यांकन) बताये है। इस प्रकार संगठन विकास की प्रक्रिया में एक संगठन से दूसरे में विविधता हो सकती है व भिन्न, विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न विधियों व प्रक्रियाएँ अपना सकते है। लेकिन मोटे रूप से इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्न चार चरणों में विभाजित करके समझा जा सकता है।

1. **समस्या की पहचान एवं निदान (Identification and Diagnose of the Problem)-** संगठन के विविध पहलुओं से सम्बन्धित सूचनाएं एकत्रित एवं विश्लेषित करके संगठन की समस्याओं व संगठन की प्रभावशीलता वृद्धि की बाधाओं एवं इनके कारणों का विश्लेषण करना इस प्रक्रिया का प्रथम चरण है।
2. **परिवर्तनो का नियोजन (Planning of the Change)-** पूर्ववती चरण में जिन समस्याओं का पता चलता है उनके निवारण के लिए उचित कार्य योजनाएं बनाई जानी चाहिए। संगठन की विद्यमान समस्याओं व भावी समस्याओं दोनों के निवारण के लिए के लिए उचित योजना

बनाई जानी चाहिए। समस्याओं से आशय केवल संकटों एवं जोखिमों से ही नही है यदि उपक्रम के विकास एवं वृद्धि के लिए कोई अवसर प्राप्त होने की सम्भावना हो तब उन अवसरों के उपयोग के लिए योजना बनाकर क्रियान्वित करना भी एक भी एक समस्या हो सकती है कि उस अवसर का उपयोग किया जाय या नही किया जाये तो कि सीमा तक से अधिक अज्ञात परिणामों वाले विकल्पो का होना। समस्या की पहचान एवं निदान के लिए सूचनाएं एकत्र करने व उन सूचनाओं के विश्लेषण के परिणामों के आधार पर ही परामर्शदाता द्वारा संगठन विकास की उचित तकनीक अथवा विधि का चयन किया जाता है।

3. **हस्तक्षेप अथवा परिवर्तन का क्रियान्वयन (Interventions or Implementation of Plan for Change) -** संगठन में वांछित परिवर्तनों या सुधारों के लिए उचित कार्य योजनाओं का क्रियान्वयन इस प्रक्रिया का अगला चरण है। संगठन विकास के लिए हस्तक्षेप, संगठन, में तीनो ही स्तरो पर अर्थात व्यक्तिगत स्तर पर एवं समग्र संगठन के स्तर पर किये जाते संगठन विकास के लिए प्राय: निम्न प्रकार के हस्तक्षेप किये जाते है- (1) प्रयोगशाला शिक्षण एवं प्रशिक्षण (2) सोद्देश्य व प्रभावी दल विकास या निर्माण (Team building) (3) पूर्व विद्यमान समूहो का प्रभावी व उद्देश्योन्मुख दलों में रूपान्तरण (4) ग्रिड संगठन विकास (5) परामर्श।

4. **मूल्यांकन (evaluation)-** चूंकि संगठन विकास प्रक्रिया दीर्घकाल तक जारी रहती है इसलिए इसके परिणामों का सतत् मूल्यांकन एवं प्रतिपोषण अनिवार्य है जिससे कि इस प्रक्रिया की प्रभावशीलता में जो भी कमियां हों उन्हें दूर करके वांछित परिणाम प्राप्त किये जा सकें। इस प्रक्रिया के मूल्यांकन लिए **निम्न विधियों का सहारा लिया जा सकता है-** (1) आलोचना सत्र (2) परिवर्तन के प्रयासों (हस्तक्षेपों) की प्रभावशीलता व परिणामों का नियमित मूल्यांकन और (3) प्रशिक्षण से पूर्व एवं प्रशिक्षण के पश्चात् के व्यवहारों की तुलना।

   परिवर्तन के प्रयासों का मूल्यांकन करने के लिए उपक्रम में विविध स्तरों पर निष्पादन पर इनके प्रभावों का अध्ययन करने के लिए कई प्रकार की सूचनाएं भी एकत्रित करनी होती है। मूल्यांकन के फलस्वरूप यदि संगठन विकास प्रक्रिया में कोई कमियां दृष्टिगोचर होती है तब पुन: यही प्रक्रिया (अर्थात समस्या की पहचान व निदान, परिवर्तनों का नियोजन, हस्तक्षेप व मूल्यांकन) अपनाई जाती है। इस प्रकार संगठन विकास प्रक्रिया एक चक्राकार रूप ले लेती है जिसकी उपक्रम में निरन्तर आवृत्ति होती है।

20.9 संगठन विकास की सीमांए (Limitations)

संगठन विकास की सीमाएं निम्न बिन्दुओं में व्यक्त की जा सकती है-

1. संगठन विकास कोई नवीन अवधारणा न होकर प्रबन्ध में व्यवहार विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग मात्र है।
2. संगठन विकास की कोई प्रमाणित एवं सर्वमान्य विधियों नही है जिससे प्रत्येक परामर्शदाता अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पृष्ठभूमि के आधार पर संगठन विकास कार्यक्रमों का नियोजन व क्रियान्वयन करता है।

3. संगठन विकास कार्यक्रमों के परिणामों का वास्तविक मूल्यांकन सम्भव नही है। क्योंकि इसके परिणाम दीर्घकाल तक दृष्टिगोचर होते है।

4. संगठन विकास के अन्तर्गत कई बार विवेकहीन मान्यताएं एवं विचारधाराएं कर्मचारियों पर आरोपित कर दी जाती है जिनका कोई औचित्य नही होता।

5. संगठन विकास परामर्शदाताओं का शुल्क काफी ऊँचा होता है कि उसके परिणाम अस्पष्ट होते है।

6. संगठन विकास को कुछ लोग व्यवहार विज्ञानी परामर्शदाताओं का एक सशुल्क वृद्धि विलास मात्र मानते है, जिसके कोई मूर्त परिणाम प्राप्त नही होते है किन्तु यह आलोचना सही नही है। इसके कुछ तात्कालिक परिणाम भी देखे व दूरगामी परिणाम भी होते है। अनेक अनुसन्धानों से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है। यह आलोचना व्यवहार विज्ञानियों से ईर्ष्या की द्योतक है।

20.10 भारत संगठन विकास

संगठन विकास की अवधारणा अत्यन्त नवीन है फिर भी अनेक राजकीय एवं अराजकीय उपक्रमों में संगठन विकास तकनीको को अपनाया जा रहा है। राजकीय उपक्रमों मे भारतीय इस्पात प्राधिकरण, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान मशीन टूल लिमिटेड, हिनदुस्तान जिंक लिमिटेड, बैंको एवं अन्य कई उपक्रमों में संगठन विकास तकनीको को अपनाया जा रहा है। निजी उपक्रमों-टिस्को, टेल्को, पारले, हिन्दुस्तान लिवर व अनेक बड़े उपक्रमों में इन तकनीको का उपयोग किया जा रहा है लेकिन अनेक कारणों से इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन स्तर, प्रभावशीलता के स्तर एवं उसके परिणामों का स्तर वांछित से न्यून रहे है। संगठन विकास की भारत में अपेक्षाकृत अल्प व्यवहार, अल्प प्रभावशीलता एवं अल्प लोकप्रियता के निम्न कारण है-

1. **उचित वातावरण का अभाव -** भारतीय उपक्रमों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण, प्रबन्धों में श्रमिको की व्यवहारिक व प्रभावी द्वि-मार्गी सम्प्रेषण, प्रभावी अभिप्रेरणा आदि का अभाव एवं प्रबन्धको का अफसरशाही पूर्ण रवैया होने के कारण भारतीय उपक्रमों में संगठन विकास के लिए उचित वातावरण नही है। विशेषत: सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रम इन दोषी से ग्रसित है।

2. **पारिवारिक नियन्त्रण वाली कम्पनियाँ -** भारत में अनेक कम्पनियों पर किसी एक या कुछ ही परिवारों का नियन्त्रण होना भी इसकी एक प्रमुख बाधा है। ऐसी कम्पनियों का शीर्ष प्रबन्ध परिवारिक सदस्यों के हाथ में केन्द्रित होता है जिनका संगठन विकास जैसे कार्यो में कोई रूचि नही है।

3. **अनेक उद्योगों में क्रेता बाजारों की स्थिति होने के कारण** उनमें प्रतियोगिता का अभाव होने से भी इन उद्योगों में कार्यरत उपक्रमों को प्रभावशाली वृद्धि की आवश्यकता ही अनुभव नही होती है।

4. **सार्वजनिक क्षैत्र के उपक्रमों को कई क्षेत्रो में एकाधिकार व राजकीय संरक्षण** होने व इनके लोकवित्त से पोषित होने से इन पर भी विकास हेतु विशेष दबाव नही रहता है।

20.11 सारांश

इस इकाई को पढ़ने से संगठन विकास की परिभाषाएं, संगठन विकास की विशेषताएं, आवश्यकताएं एवं महत्व, संगठन विकास के उद्देश्य, संगठन विकास एवं प्रबन्धकीय विकास में अन्तर, संगठन विकास की तकनीके, विधियां, सर्वेक्षण प्रतिपुष्टि, संगठन विकास प्रक्रिया, संगठन विकास की सीमाए एवं भारत संगठन विकास के बारे में ज्ञान होता है।

20.12 शब्दावली

दुतगामी परिवर्तन : उपक्रम के वातावरण में अत्यंत तीव्रता से परिवर्तन।

सर्वेक्षण प्रतिपुष्टी : संगठन विकास की इस तकनीक के अंतर्गत प्रश्नावली, व्यक्तिगत साक्षात्कार एवं अवलोकन आदि सर्वेक्षण विधियों की सहायता से परिणाम से सम्पूर्ण संगठन को अवगत कराकर उन कमियों को दूर करने के लिए उचित कार्यक्रम का विकास करते है।

20.13 व्यावहारिक प्रश्न

1. संगठन विकास को परिभाषित कीजिये और इनकी प्रकृति, आवश्यकता, महत्व एवं उद्देश्यों को संक्षेप में समझाइये।
2. संगठन विकास की तकनीकों का संक्षेप में विवेचन करिये।
3. संगठन विकास से क्या आशय हैं? इसकी प्रक्रिया एवं सीमाओं को समझाइये तथा भारत में संगठन विकास कार्यक्रम की समीक्षा कीजिए।

20.14 उपयोगी पुस्तकें

1. **प्रबन्ध अवधारणा, चिन्तन एवं व्यवहार,** लेखक जी. एस. सुधा, रमेश बुक डिपो, जयपुर
2. **Organizational Development,** WL French and CH bell Jr, Prentice Hall, New Delhi

ISBN-13/978-81-8496-018-1